ॐ

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला – द्वादश पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

सन्दर्भित एव मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

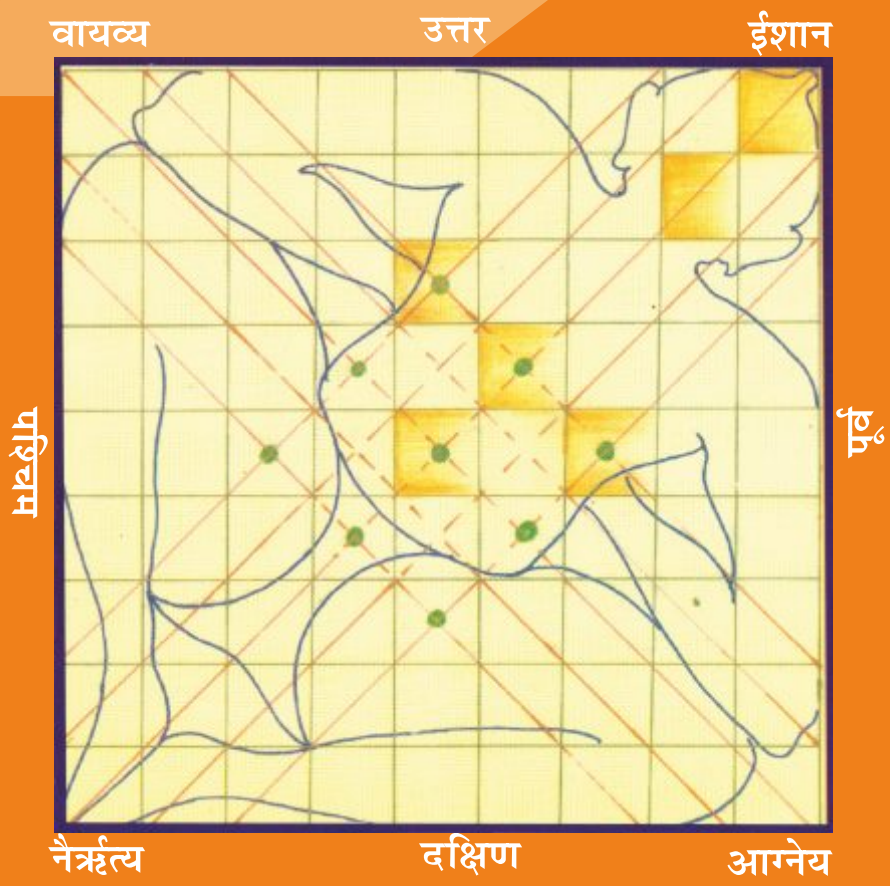

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः

(केन्द्रीयविश्वविद्यालयः)

नवदेहली-110016

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला-द्वादश पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

सन्दर्भित एवं मूल्याङ्कित शोधपत्रिका
(विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के केयर लिस्ट में सम्मिलित)

प्रधान सम्पादक
प्रो. मुरलीमनोहर पाठक
कुलपति

सम्पादक
डॉ. अशोक थपलियाल
सहाचार्य एवं अध्यक्ष

वास्तुशास्त्र विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
नव देहली-110016

प्रकाशक -
वास्तुशास्त्र विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नव देहली-110016
ISSN :- 0976-4321

© प्रकाशक

संस्करण - 2019
मुद्रण वर्ष - 2021

मूल्य 200/-

प्रकाशक की लिखित पूर्वानुमति के बिना इस ग्रन्थ के किसी भी अंश का अनुवाद या किसी भी रूप में उपयोग करना सर्वथा वर्जित है।

मुद्रक:
गणेश प्रिंटिग प्रेस
दिल्ली-110016
फोन : 9811663391/93

पुरो वाक्

भारतीय वास्तुशास्त्र में भवनादि विभिन्न निर्मितियों के सिद्धान्तों व नियमों का सुविस्तृत प्रतिपादन मिलता है, जिससे उनमें निवास करने वाला मनुष्य सुख-सुविधा, सुरक्षा आदि अनेक मानकों की प्राप्ति के साथ ही मानसिक सन्तुष्टि, प्रसन्नता एवं शान्ति का अनुभव कर सके। भारतीय मनीषा ने वास्तु के न केवल भौतिक पक्ष पर, अपितु आध्यात्मिक पक्ष पर भी अपना ध्यान केन्द्रित किया है। इसी कारण वास्तुनिर्मिति के पूर्व एवं पश्चात् प्राचीन समय से ही आचार्यों ने वास्तुपुरुष एवं तत्सम्बन्धित देवताओं की अर्चना का विधान किया है। हमारे ऋषि-मुनियों एवं आचार्यों ने पृथिवी पर स्थित गतिशील ऊर्जा शक्तियों की चैतन्यप्रवाह के रूप में अभ्यर्थना की है। वेदकाल में जहाँ वास्तोष्पति[१] के रूप में वास्तु के अधिष्ठाता की गृहादि की समृद्धि हेतु उपासना की गई है, वहीं पुराणकाल में वास्तुपुरुष की परिकल्पना में तदधिष्ठित देवताओं की भी समर्चना प्राप्त होती है। यह वास्तुपुरुष कौन है? कहाँ से आया? इसकी पूजा क्यों की जाती है? इन सब प्रश्नों का उत्तर वास्तुपुरुषोत्पत्ति की कथानकों में प्राप्त होता है। मत्स्यपुराण[२], अग्निपुराण[३], विष्णुधर्मोत्तरपुराण[४], बृहत्संहिता[५] आदि ग्रन्थों में अन्धकासुर के साथ युद्ध करते हुए भगवान शिव के ललाट से गिरने वाले स्वेदबिन्दु से वास्तुपुरुष की उत्पत्ति मानी गयी है। वास्तुपुरुष की उत्पत्ति का यह कथानक सृष्ट्युत्पत्ति सिद्धान्त से साम्य रखता है। अन्धकासुर को आज के विज्ञान द्वारा कथित डार्क मैटर के रूप में माना जाय तो भगवान शिव ऊर्जा अर्थात् एनर्जी के प्रचण्ड स्रोत कहे जा सकते हैं। इन दोनों के संघर्ष से ही सृष्टिरूपी वास्तु उत्पन्न हुआ। ईशानशिवगुरुदेवपद्धति[६], शिल्परत्न[७] अपराजितपृच्छा[८], वास्तुविद्या[९] प्रभृति ग्रन्थों में वास्तुपुरुष की उत्पत्ति देवशक्ति

---

1. वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
   यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।। - ऋग्वेद -7/54/3
2. मत्स्यपुराण अध्याय 252
3. अग्निपुराण 40/1
4. विष्णुधर्मोत्तरपुराण 3/95
5. बृहत्संहिता 53/2-3
6. ईशानशिवगुरुदेवपद्धति 3/26
7. शिल्परत्न 7/4-29
8. अपराजितपृच्छा 53 सूत्र
9. वास्तुविद्या 4 अध्याय

से पराजित दैत्यों की पराजय का प्रतिशोध लेने हेतु क्रोधित दैत्यगुरु शुक्राचार्य के यज्ञ से कही गई है। मेरुतन्त्र[1] नामक ग्रन्थ में वास्तुपुरुष की उत्पत्ति के सन्दर्भ में भिन्न प्रकार की कथा भी प्राप्त होती है। इस कथानक के अनुसार वास्तु नामक असुर ने तीनों लोकों को जीतकर प्रजापति का गौरवशाली पद हस्तंगत कर लिया–

वास्तुनामा पुरा कश्चिद्बभूव त्वसुरोत्तमः।
त्रैलोक्यं निर्जितं तेन त्रिपञ्चाशच्च देवताः।
ये रणे सम्मुखे यातास्तेन तेऽतिनिपीडिताः।
पुनः पुनर्जिता युद्धे स एवासीत्प्रजापतिः॥[2]

तब नारदमुनि ने अपने चातुर्य से उसे भगवान् विष्णु से युद्ध करने हेतु प्रेरित किया। भगवान विष्णु एवं उस असुर के मध्य हुए भयंकर युद्ध से समस्त विश्व कम्पन करने लगा। तब भगवान विष्णु ने उसे अपनी मायाशक्ति से विमोहित कर दिया। फलस्वरूप भगवान विष्णु को उसने इच्छित वर मांगने को कहा। भगवान विष्णु ने उससे उसकी ही मृत्यु का वरदान माँग लिया। अपने वरदान देने के वचन की पूर्ति के लिए वह अपने प्राण अर्पण करने हेतु उद्यत हुआ। उसी समय अशरीरी वाक् के उद्घोष से उस वास्तुनामक असुर को नूतन गृहादि निर्माण काल में पूज्य देवत्व पद प्राप्त हुआ–

काले तस्मिंश्च भो देवा वागुवाचाशरीरिणी।
दैत्येन्द्र कुरु मा शोकं भुवो जन्म तवाभवत्।
तत्रैव त्वं लयं याहि त्वत्तो पार्थे वरं शृणु।
ये वर्णाः स्वस्य भोगार्थे करिष्यन्ति नवं गृहम्।
तत्र त्वदुत्सवमृते नाना दुःखैरुपद्रुताः।
कालकर्ण्यादिका दास्यो विनायकमुखाश्च ते।
सेवकाः पीडयिष्यन्ति चेत्याज्ञा पारमेश्वरी।
इत्याकर्ण्य वचसोऽपि गर्तं कृत्वा महाबिलम्॥[3]

इस प्रकार उस वास्तु नामक असुर का शरीर भूमि के अन्दर एक गर्त बनाकर उसमें प्रविष्ट हो गया। देवों ने उस गर्त को मिट्टी एवं पत्थरों से भर दिया। पुनः वह उस गर्त से बाहर न आ सके, इस भय से आशंकित होकर देवता उसके ऊपर आरूढ हो गये। इस प्रकार वास्तु नामक असुर देवत्व को प्राप्त होकर त्रिपञ्चाशत् (53) देवताओं के साथ वास्तुमण्डल का अधिष्ठातृदेव बन गया।

---

1. मेरुतन्त्र 3/143–167
2. मेरुतन्त्र 3/143–144
3. मेरुतन्त्र 3/156–169

उपर्युक्त कथानक वास्तु नामक असुर के भौतिकवादी विस्तार की अतिवादी प्रवृत्ति को द्योतित करता है। फलतः आधिदैविक शक्ति विष्णु से उसका टकराव होता है। अतिभौतिकता के कारण वह माया से प्रभावित होकर स्वयं को जगत्प्रभु समझने लगता है। इस कारण वह जब विष्णु से वर मांगने को कहता है तो वे उसकी अतिभौतिकता की मृत्यु का वरदान मांगते हैं। तब उसकी आध्यात्मिक भावना जागृत होती है। तब भौतिकता को त्यागकर वह देवत्व को प्राप्त होता है। उसके भौतिक अवयवों पर देवशक्ति का नियन्त्रण उसे पुनः भौतिकवादी प्रवृतिसम्पन्न नहीं होने देती। इसी उदात्त भावना से इस कथानक को आचार्य ने कहा है। वस्तुतः जब तक भौतिकवादी प्रवृत्तियों पर आध्यात्मिक शक्तियों का नियन्त्रण न हो तो वे संसार के विनाश का कारण भी बन सकती हैं।

इस प्रकार से वेद, वेदाङ्ग, पुराण, आगम, तन्त्रादि ग्रन्थों में वास्तुविषयक चिन्तनधारा सततरूप से प्रवहमाना परिलक्षित होती है। अति प्राचीन काल से ही भारत में वास्तुशास्त्र के अध्ययन एवं अध्यापन के साथ ही उसके अनुपालन की भी सुदृढ़ परम्परा रही है। इसी परम्परा को निरन्तर बढ़ाने के सदुद्देश्य से विद्यापीठ में वास्तुशास्त्र विभाग की स्थापना हुई है। इसी नैरन्तर्यता में विभाग द्वारा 'वास्तुशास्त्रविमर्श' नामक शोधपत्रिका का सततरूप से प्रकाशन होता आ रहा है, जिसमें विद्वानों के उत्कृष्ट शोधलेखों का प्रकाशन किया जाता है। इसी क्रम में वास्तुशास्त्रविमर्श के इस द्वादश पुष्प को सुधीजनों को अर्पित करते हुए मैं अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। शमिति।

मार्गशीर्ष शुक्ल 12, वि. सं. 2078 **प्रो. मुरलीमनोहर पाठक**
दिनांक 15.12.2021 ई. कुलपति

सम्पादकीय

अति प्राचीनकाल से ही हमारे भारतीय जनजीवन में देवतातत्त्व का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। हमारा प्रत्येक कार्य बिना देवतत्त्व के पूरा ही नहीं होता। कोई कार्य प्रारम्भ करना हो तो उसे भी 'कार्य का श्रीगणेश कीजिए' इस प्रकार से कहा जाता है। इसी कारण भारतीय ज्ञान-विज्ञान परम्परा का प्रत्येक शास्त्र देवतत्त्व से अनुप्राणित है। ज्योतिषशास्त्र में नवग्रहदेवता, व्याकरणशास्त्र में महेश्वर, वास्तुशास्त्र में वास्तोष्पति, आयुर्वेद में धन्वन्तरि, नृत्यकला में नटराज शिव, चित्र व आलेखन में जगन्नाथ का पट्टचित्र इत्यादि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। देवतत्त्व का महत्व व उपयोगिता न केवल हमारे ज्ञान-विज्ञान व दर्शन के क्षेत्र में है अपितु भारतीय लौकिक जीवन के विविध क्षेत्रों में भी परिलक्षित होता है। वस्तुतः हमारे जीवन में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त प्रत्येक कार्य और संस्कार देवतत्त्व से अनुप्राणित हुए बिना पूर्ण ही नहीं होते हैं। स्वतः जिज्ञासा जाग्रत होती है कि यह देवता तत्त्व क्या है? इस विषय में वेद से लेकर उपनिषद, पुराण आदि साहित्य में सुदृढ़ चिन्तन परम्परा प्राप्त होती है। इस सन्दर्भ में वेद कहता है कि सभी के अन्तःकरण में विराजमान परमदेव की अज्ञानता के कारण अनुभूति नहीं होती है -

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासृतृप उक्थशासश्चरन्ति॥[1]

वैदिक ऋषि अपने अपरिपक्व ज्ञान को स्वीकार करते हुए उस देव के परम धाम की जिज्ञासा करते हुए कहता है कि -

पाकः पृच्छामि मनसा विजानन्, देवानामनेना निहिता पदानि॥[2]

तब देवता तत्त्व का चिन्तन करते हुए वैदिक ऋषि अपने हृदय के उद्गार को इस प्रकार अभिव्यक्त करता है-

यो नः पिता जनिता यो विधाता, धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव, तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥[3]

यही चिन्तन बीज उपनिपदों में पल्लवित और पुष्पित होकर अनेक दर्शनरूपी शाखाओं से युक्त सुदृढ़ ज्ञानवृक्ष के रूप में विकसित हुआ है। भारतीय दर्शनों में वैविध्य का कारण

---

1. ऋग्वेद 10/82/7
2. ऋग्वेद 1/164/5
3. ऋग्वेद 10/82/3

भी देवतत्त्व का चिन्तन ही है–

दर्शनानि षडेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया।
देवतातत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभिः।।[1]

भारतीय वास्तुशास्त्र भी दार्शनिक चिन्तन बिन्दु से निकला हुआ विज्ञान है। इसमें वास्तुपुरुष एवं उसके ऊपर अधिष्ठित देवताओं का समर्चन भौतिकवादी आसुरी कला को अध्यात्मशक्ति द्वारा नियन्त्रित करने का प्रतीक है। वेदों में वास्तु का अधिष्ठाता वास्तोष्पति के नाम से पूजित है। यही देवता सम्भवतः पुराण काल में आसुरी शक्ति का प्रतीक वास्तुपुरुष के नाम से सुविख्यात हुआ। जिस पर देवशक्ति का नियन्त्रण हुआ। देवशक्तियां वास्तुपुरुष के सभी अंगों में प्रतिष्ठित हुई। यह तथ्य एकेश्वरवाद से बहुदेववाद की प्रवृत्ति को आभासित करता है। वेदों में भी एक देव से अनेक देवताओं की प्रवृत्ति कही गई है। यथा –

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।[2]

सम्भवतः वेद में वर्णित इसी बहुदेववाद के चिन्तन को वास्तुशास्त्र के महनीय आचार्यों ने वास्तुपदविन्यास में स्थान प्रदान किया है। सामान्यरूप से वास्तुपदविन्यास की प्रक्रिया में वास्तुनिर्माणयोजना से पूर्व ही निर्धारित क्षेत्र में वास्तुपुरुष की स्थापना की जाती है। वास्तुपुरुष का शिर ईशानकोण में, दोनों चरण नैर्ऋत्यकोण में (पितृपद में) तथा अन्य अंगों में अन्य देवता स्थित हैं। यह स्थिति भूमि में अधोमुख परिकल्पित की है।[3] इस प्रकार सम्पूर्ण भूभाग को वर्गों में विभक्त किया जाता है। प्रत्येक वर्ग को वास्तुपद कहते हैं। वास्तु की प्रकृति के अनुरूप ये 1वर्ग से लेकर 1024 वर्गों तक 32 प्रकार के होते हैं।[4] जिनमें 64, 81 एवं 100 पदवास्तु भेद प्रमुख हैं। वास्तुराजबल्लभ में कार्य की प्रवृत्ति के अनुसार वास्तुपद प्रयोग करने का वर्णन है–

गुणो भूपतिमन्दिरे च नगरे पूज्यश्चतुष्षष्टिकै-
रेकाशीतिपदैः समस्तभवने जीर्णे नवाब्ध्यंशकैः।
प्रासादे तु शतांशकैस्तु सकले पूज्यस्तथा मण्डपे
कूपे षण्णवचन्द्रभागसहिते वाप्यां तडागे वने।।[5]

इन वास्तुपदों में देवताओं का स्थान विभिन्न ग्रन्थों में अलग–अलग प्रकार से मिलता है। साथ ही देवताओं के नाम में भी परस्पर भिन्नता दिखाई देती है। इसका मुख्य कारण

---

1. षड्दर्शनसमुच्चय का. 2
2. ऋग्वेद 1/164/46
3. बृहत्संहिता वास्तुविद्या.51–54
4. मयमतम् 7/1–21
5. वास्तुराजबल्लभ 2/4

देश व सम्प्रदाय की भक्ति के अनुसार वास्तुकला के सिद्धान्तों का निर्माण होना है। फिर भी संकल्पना एवं तात्विक दृष्टि से देवतत्त्व की अवधारणा प्रायः एक जैसी ही है। वास्तुपदविन्यास में देवनिवेशन कर उनकी प्रकृति व गुणधर्मिता के अनुसार निर्माणकार्य किया जाता है। इस सम्बन्ध में मयमतम्[1], वास्तुमण्डन[2], अपराजितपृच्छा[3] आदि ग्रन्थों में विस्तार से चर्चा प्राप्त होती है। इन देवों में सबसे महत्वपूर्ण ब्रह्मा जी हैं, जो वास्तुपदविन्यास में सबसे अधिक पदों के अधिष्ठाता हैं। वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों के अनुसार गृहवास्तु में प्रमुखतया प्रयुक्त होने वाले एकाशीतिपदवास्तु में नवम भाग के ये एकमात्र अधिकारी देव हैं, परन्तु वैखानसागम में केवल मध्य का एक ही पद ब्रह्मा का कहा गया है। उसके बाहर आठों पदों में पूर्व से लेकर ईशान पर्यन्त क्रमशः भृगु, अंगिरा, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, मरीचि एवं वसिष्ठ का स्थान कहा गया है।[4] इसी प्रकार मयमतम् में ब्रह्मा को शिव कहा गया है –

ब्रह्मा मध्ये स्थितः शम्भुस्तन्मुखस्थाश्चतुः सुराः।।[5]

वास्तुमध्य में ब्रह्मस्थान के महत्व के विषय में कहा गया है कि–

सुखमिच्छन्ब्रह्माणं यत्नाद्रक्षेद् गृही गृहान्तःस्थम्।
उच्छिष्टादुपघातात् गृहपतिरुपतप्यते तस्मिन्।।[6]

ब्रह्मा सृष्टिकर्ता हैं। इन्द्रादि सभी देव उनसे ही निर्गत हुए हैं। इसलिए वास्तुपदविन्यास में सबसे मध्य वे स्थित हैं। उनका स्थान पवित्र रहे, एतदर्थ वहाँ पर आंगननिर्माण का आदेश वास्तुशास्त्र के आचार्य देते हैं। इस आंगन में भी केवल तुलसी रोपण ही सुखद कहा गया है।[7] चाहे स्वर्णवृक्ष भी क्यों न हों? अन्य वृक्षों का रोपण आंगन में निषिद्ध है।[8]

इस प्रकार देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों में कुछ परिवर्तन तो हो जाता है परन्तु इसकी मूलसंकल्पना अप्रभावित रहती है। वास्तुशास्त्र स्थापत्यवेद के रूप में अथर्ववेद के उपवेदत्व[9] के कारण वेद के 'इष्टप्राप्ति एवं अनिष्ट

---

1. द्रष्टव्यम् मयमतम् अध्याय 29
2. द्रष्टव्यम् वास्तुमण्डन अध्याय 05
3. द्रष्टव्यम् अपराजितपृच्छा अध्याय 76
4. वैखानसागम कश्यपज्ञानकाण्ड अध्याय 18
5. मयमतम् 7/40
6. उद्धृतं वास्तुसारः वास्तुविन्याप्रकरणम्, पृ.सं. 58, श्लोक 65
7. गृहरत्नविभूषण पृ. 94, श्लोक 139
8. वास्तुसौख्यम् श्लोक 40
9. वेदशाखापर्यायलोचनम् कात्यायनकृतश्च संस्कृतव्याख्यया समलंकृतः चरणव्यूहः पृष्ठम्–71, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, संस्करण–2001

के परिहार का अलौकिक उपाय कथन'[1] के सदुद्देश्य की पूर्ति हेतु प्रयत्नशील रहता है। वास्तुशास्त्र में वर्णित सिद्धान्तों एवं नियमों को जाने बिना वेद के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती है। अतः वास्तुशास्त्र का अध्ययन न केवल भौतिक वास्तुनिर्मिति के सिद्धान्तों को जानने हेतु होना चाहिए अपितु इसके अन्तःकरण में विद्यमान आध्यात्मिक तत्त्व को भी समझना आवश्यक है। अतः संस्कृत भाषा में निबद्ध वास्तुज्ञान के शास्त्रीय स्वरूप के अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय), नई दिल्ली का वास्तुशास्त्र विभाग निरन्तर क्रियाशील है। इसी दृष्टि से विद्वज्जनों के शोधनिबन्धों से समलंकृत वास्तुशास्त्रविमर्श का प्रकाशन विभाग द्वारा विगत कई वर्षों से किया जा रहा है।

इस वास्तुशास्त्रविमर्श के द्वादशपुष्प के प्रकाशन के शुभावसर पर मैं सर्वप्रथम संस्कृत एवं संस्कृति के संरक्षक हमारे यशस्वी कुलपति महोदय परम श्रद्धेय प्रो. मुरलीमनोहर पाठक जी को सादर नमन करता हूँ जिनके सन्निर्देशन एवं संरक्षकत्व में वास्तुशास्त्रविमर्श का यह पुष्प सुधी पाठकों के करकमलों में समर्पित हो रहा है। इस पावनवेला में मैं उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार के माननीय कुलपति एवं वास्तुशास्त्र विभाग के संस्थापक विभागाध्यक्ष परम पूजनीय गुरुवर्य प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी जी के चरणकमलों में सादर प्रणामांजलि निवेदित करता हूँ, जिनके कुशल नेतृत्व में विभाग पुष्पित हुआ। इनका सत्परामर्श एवं मार्गनिर्देशन हमें नित्य सारस्वत साधना हेतु अभिप्रेरित करता है। इसी क्रम में पूर्व कुलपति प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय जी के चरणों में सादर प्रणाम करता हूँ। जिनकी सत्प्रेरणा एवं निर्देशन हमें प्रचोदित करता है। इसी सन्दर्भ में शोध एवं प्रकाशन समिति के सभी सदस्यों को हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ, जिनके सहयोग एवं परामर्श से वास्तुशास्त्रविमर्श का यह द्वादशपुष्प प्रकाशित हो सका। मुद्रणकार्य हेतु गणेश प्रिंटिंग प्रेस एवं अन्य सभी सहयोगी सुहृज्जनों का हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। शमिति।

डॉ. अशोक थपलियाल
अध्यक्ष- वास्तुशास्त्र विभाग

---

1. इष्टप्राप्तिरनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः। - सायणाचार्य, वेदभाष्यभूमिकासंग्रहः, तैत्तिरीयभाष्यसंहिता -सम्पादक बलदेव उपाध्याय -पृ.सं. 02

शोध एवं प्रकाशन समिति

१. डॉ. अशोक थपलियाल, वास्तुशास्त्र विभागाध्यक्ष	अध्यक्ष
२. डॉ. रश्मि चतुर्वेदी	सदस्य
३. डॉ. देशबन्धु	सदस्य
४. डॉ. प्रवेश व्यास	सदस्य
५. डॉ. योगेन्द्र कुमार शर्मा	सदस्य
६. डॉ. दीपक वशिष्ठ	सदस्य

विषयानुक्रमणिका

1. वृक्षायुर्वेदे वराहमिहिरस्यावदानम् — **डॉ. सुशीलकुमारः,** 1–7
सहाचार्यः ज्योतिषविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
नवदेहली–१६

श्रीखेमराजरेग्मी
शोधच्छात्रः ज्योतिषविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
नवदेहली–१६

2. वैदिकवाङ्मये वास्तुनिदर्शनम् — **डॉ. हनुमानमिश्रः** 8–12
सहाचार्यः, वेदविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
नवदेहली–१६

3. वास्तुशास्त्रदृशा जम्बूद्वीपविमर्शः — **डॉ.अशोकथपलियालः** 13–21
सहाचार्यः, वास्तुशास्त्रविभागः,
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
नवदेहली–१६

गोविन्दवल्लभः
शोधच्छात्रः, वास्तुशास्त्रविभागः,
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
नवदेहली–१६

4. जयसिंहनिर्मापितस्य जयपुरनगरस्य वास्तुशास्त्रीयाध्ययनम् — **डॉ. प्रवेशव्यासः** 22–28
सहायकाचार्यः, वास्तुशास्त्रविभागः,
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
नवदेहली–१६

श्रीकृष्णचन्द्रशर्मा
शोधच्छात्रः, वास्तुशास्त्रविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
नवदेहली–१६

5.	भारतीयवास्तुशास्त्रे भूमिपरीक्षणस्य वैज्ञानिकत्वम्	**डॉ. मृत्युञ्जयकुमारतिवारी** सहायकाचार्योऽध्यक्षश्च, ज्योतिषविभागः श्रीकल्लाजीवैदिकविद्यालयः, कल्याणलोकः, निम्बाहेडा, चित्तौडगढ़म् (राजस्थानम्)	29–32
6.	पुराणेषु वास्तुशास्त्रस्वरूपम्	**कन्हैयाकुमारझाः** पूर्वशोधच्छात्रः वास्तुशास्त्रविभागः, श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम् नवदेहली–१६	33–39
7.	वास्तुशास्त्रे द्वारविधानम्	**मधुसूदनशर्मा** शोधच्छात्रः वेदविभागः श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम् नवदेहली–१६	40–44
8.	वास्तुशास्त्रदृष्ट्या द्वारस्थापनविचारः	**विजयप्रसादरतूड़ी** शोधच्छात्रः वास्तुशास्त्रविभागः श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम् नवदेहली–१६	45–53
9.	वास्तुशास्त्र में वृक्षविन्यास	**प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय** अध्यक्षचर, संस्कृत विद्या धर्मविज्ञानसंकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी–उ. प्र.	54–60
10.	वास्तु–मुहूर्त विमर्श	**प्रो. ओंकार नाथ चतुर्वेदी** अध्यक्षचर, ज्योतिषविभाग श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठ नई दिल्ली–१६	61–72
11.	वास्तुपद विन्यास में वर्णित विविध पद देवताओं की प्रकृति, स्वरूप एवम् लक्षण	**प्रो. वासुदेव शर्मा** प्रभारी प्राचार्य राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान श्री रणवीर परिसर, जम्मू	73–94

12.	द्वार, गवाक्ष, वरामदा एवं आँगन का विचार (भारतीय वास्तुशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में)	**प्रो. हंसधर झा** अध्यक्ष- ज्योतिष विभाग राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, भोपाल परिसर, भोपाल	95-111
13.	श्रौतवेदी के निर्माण में वास्तुसिद्धान्त	**विद्यावाचस्पति** **डॉ.सुन्दरनारायणझा** सहाचार्य, वेदविभाग, श्री ला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठ, न.दिल्ली-16	112-118
14.	वास्तुशास्त्र में भूपरिग्रह विचार	**डॉ. रश्मि चतुर्वेदी** सहाचार्या (ज्योतिष विभाग) श्री ला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठ, न.दिल्ली-16	119-131
15.	शिल्पाशास्त्र में रसानुप्रयोग	**डॉ. मोहिनी अरोड़ा** सहायक-आचार्या, साहित्यविभाग राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, भोपाल परिसर, भोपाल	132-137
16.	लक्ष्मीनारायण मन्दिर दिल्ली का वास्तुशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन	**डॉ.देशबन्धु** सहायक-आचार्य, वास्तुशास्त्रविभाग, लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ,नई दिल्ली-16 **प्रिया कौशिक** शोध-छात्रा, वास्तुशास्त्रविभाग, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय,नई दिल्ली-16	138-154
17.	देवालय और उनके शिखर विधान	**डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू'** वास्तुशास्त्रविद, विश्वाधारम्, 40 राजश्री कॉलोनी विनायक नगर उदयपुर-313001 राजस्थान	155-166

18. शिक्षण विधियों में नवाचार : वास्तुशास्त्र के सन्दर्भ में — **डॉ ज्ञानेन्द्र कुमार** 166–174
असिस्टैंट प्रोफेसर, शिक्षा संकाय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

19. प्रासाद निर्माण में शिखर विधान — **डॉ. ब्रह्मानन्द मिश्रा** 175–181
सहायकाचार्य ज्योतिष विभाग
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, एकलव्यपरिसर,
अगरतला, त्रिपुरा।

20. गृह वास्तु में मुख्य द्वार विचार — **डॉ. सुरेश शर्मा** 182–187
ज्योतिष विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,
श्री रघुनाथ कीर्ति परिसर, देवप्रयाग,
उत्तराखण्ड।

21. वास्तुशास्त्र में स्थपत्यादि विवेचन — **कान्ताप्रसाद** 188–194
शोधच्छात्र संस्कृत विभाग,
हेमवतीनन्दन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय-विश्वविद्यालय)
श्रीनगर गढ़वाल, उत्तराखण्ड

वृक्षायुर्वेदे वराहमिहिरस्यावदानम्

डॉ. सुशीलकुमारः
श्रीखेमराजरेग्मी

वैदिककालादेव वृक्षाणां महत्त्वं संरक्षण-संवर्द्धनयोश्च परम्परा प्रचलितास्ति, प्राचीनकाले आधुनिककाले वा यदा पश्यामः तर्हि अस्य विश्लेषणं यत्र कुत्रापि प्राप्यते एव। तद्यथा कृषिपाराशरः, काश्यपीयकृषिसूक्तः, गार्गीयसंहिता, घाघभड्डरी, मेघमाला, वनमाला, कादम्बिनी, मयूरचित्रकम् इत्यादिषु ग्रन्थेषु कस्मिन् स्वल्पं तु कस्मिन्नधिकमात्रायां वृक्षाणां सन्दर्भे ज्ञानं प्राप्यते, किन्तु त्रिस्कन्धमर्मज्ञाचार्यवराहमिहिरेण स्व-बृहत्संहितायां वृक्षायुर्वेदाध्याये अस्मिन् विषये विस्तृतरूपेण प्रतिपादितः।

उद्यानस्य सार्थकता, भूमेः शोधनम्, उद्याने रोपणयोग्या वृक्षाः, वृक्षरोपणस्य कालः (ऋतुः), वृक्षरोपणस्य नक्षत्रम् (मुहूर्तः), वृक्षरोपणस्य नियमा विधयो वा, वृक्षसेचनस्य प्रकारः, वृक्षेभ्यः धनप्राप्तेः परिज्ञानम्, काण्ड (कलमी) रोपणस्य विधानम्, फलयुक्तपादपानां रोपणम्, वृक्षेषु रोगोत्पत्तेः कारणम्, वृक्षाणां चिकित्सा च इत्यादिकानां विषयाणां तत्र सविस्तरेण प्रतिपादनं वर्तते।[1]

वृक्षस्वरूपम्-

सर्वप्रकारकाः वनस्थवृक्षाः, लताः, पुष्पाणि, वनौषधयः यज्ञीयवृक्षाश्च वनस्पतिजगतः विषयाः सन्ति। वस्तुतः येषु पुष्पाणि न विकसन्ति परन्तु फलानि फलन्ति ते वनस्पतयः कथ्यन्ते, यथा- अश्वत्थ- बिल्ववृक्षादयः। उक्तञ्च-

अपुष्पा फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः।।[2]

आयुर्वेदग्रन्थः 'भावप्रकाशः' अनुसारेण नन्दीवृक्षः, अश्वत्थः, प्ररोहः, गजपादपः, स्थालीवृक्षः, क्षयतरुः, क्षीरवृक्षश्च वनस्पतेः श्रेण्याम् आयान्ति।[3]

---

1. वराहमिहिरकृत-बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः (५५)
2. मनुस्मृतिः, प्रथमाध्यायः, श्लो.१
3. नन्दीवृक्षो अश्वत्थभेदो प्ररोहो गजपादपः।
   स्थालीवृक्षः क्षयतरुः क्षीरी च स्याद् वनस्पतिः।। भावप्रकाशः, प्रथमाध्यायः, श्लो.१

मेदिनीकोषानुसारेण पृथिव्यामुत्पन्नं वृक्षमात्रं वनस्पतेः श्रेण्यां परिगण्यते।[1] पृथिव्यामुत्पन्नानि वृक्षमात्राणि पुष्पाणि पादपाः पत्राणि फलानि चैतेषाम् उत्पत्तेः, विकासस्य, लयस्य च ज्ञानं, वृक्ष-लता-धान्यादीनां बीजानां गुणधर्मज्ञानम् ऋतूनां ज्ञानं च वनस्पतिशास्त्रस्य विषयाः सन्ति।[2]

उद्यानस्य सार्थकता-

वृक्षायुर्वेदाध्यायस्य प्रारम्भे एव आचार्यवराहमिहिरेण कथ्यते यद् वापी-कूप-तडाग-जलाशयादीनां तीरे उद्यानं निर्मातव्यम्, यतो जलयुक्तस्थलं यदि छायारहितं तदा न शोभते इति।[3]

उद्यानहेतोः भूमि-शोधनं चयनं वा-

उद्यानस्य स्थापना हेतोः कोमला भूमिः शोभना भवति। यस्यां भूमौ उद्यानस्य निर्माणं कर्तव्यं तत्र सर्वप्रथमं तिलान् वपेत्, यदा ते तिलाः पुष्पिताः भवेयुः तदा तेषां भूमौ मर्दनं कुर्यात्। एष भूमेः प्रथमः संस्कारोऽस्ति।[4]

उद्याने रोपणीयाः वृक्षाः-

सर्वप्रथमम् उद्याने अथवा गृहसमीपे अशोक-पुन्नाग-शिरीष-प्रियङ्गवादयः वृक्षा रोपणीयाः। वराहमिहिरस्यानुसारेण एते सर्वेऽप्यरिष्टनाशका एवं मङ्गलफलदायकाः वृक्षाः सन्ति।[5]

वृक्षरोपणस्य कालः-

विविधप्रकाराणां वृक्षाणां रोपणस्य कालनिर्धारणं कुर्वन् वराहमिहिरेणोक्तं यद् अजातशाखाः वृक्षाः, येषु वृक्षेषु लताङ्कुरादयो न भवन्ति। एते शिशिरर्तौ (माघफाल्गुनयोः), शाखायुक्ताः तु हेमन्ते, तथाच सुस्कन्धाः वृक्षाश्च वर्षाकाले (श्रावणभाद्रपदयोः) रोपणीयाः।[6] वृक्षरोपण-प्रकारः कथयन् कथ्यते यत् पनसाशोककदलीजम्बुलकुचदाडिमद्राक्षापालीवतबीजपुरातिमुक्ता-वृक्षा सशाखं गोमयलिप्ता रोपणीयाः। वृक्षाः घृतक्षीरगोमयादिलिप्तामूलात् खात्वा अन्यत्र रोपणीयाः। अयं विधिरेव सङ्क्रामणविधिः कथ्यते।[7]

---

1. मेदिनीकोषः, पृ.२१६
2. तत्रैव
3. बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः, श्लो.१
4. बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः, श्लो.२
5. अरिष्टाशोकपुन्नागशिरिषा सप्रियङ्गवः।
   मङ्गल्या पूर्वमारामे रोपणीया गृहेषु वा।। बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः, श्लो.३
6. बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः, श्लो.६
7. बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः, श्लो.४-५

वृक्षारोपणस्य नक्षत्राणि-

वराहमिहिरेण कथ्यते यत् त्रयः उत्तराः (उ.फा., उ.षा., उ.भा.), रोहिणी-मृगशिरा-रेवती-चित्रा-अनुराधा-मूल-विशाखा-पुष्य-श्रवण-अश्विनी-हस्तनक्षत्राणि दिव्य-दृष्टियुक्तमुनिभिः वृक्षरोपणस्य कृते श्रेष्ठानि उक्तानि।[1]

वृक्षरोपणस्य विधिः-

वृक्षरोपणम् एकं पवित्रकार्यं मन्यते, अतः वृक्षारोपणात् पूर्वं व्यक्तिः स्नात्वा पवित्रं भूत्वा चन्दनादिना वृक्षाणां पूजनं कुर्यात्। ततः स वृक्ष एकस्मात् स्थानाद् अपरे स्थाने रोपणीयः। प्रप्रथमं घृतक्षौद्रतिलमधुवायविडङ्गदुग्धगोमयेत्यादीनां चूर्णं कृत्वा मूलादारभ्य अग्रभागपर्यन्तं लेपयित्वा वृक्षं एकस्थानाद् अपरस्थानं प्रति नेतुं शक्यते। एवं वृक्षो हरितपर्णयुतो भवति अर्थात् शुष्कतां न प्राप्नोति।[2]

वृक्षसेचनस्य प्रकारः क्रमो वा-

वराहमिहिरेणोच्यते यद् रोपितेषु वृक्षेषु ग्रीष्मर्तौ प्रातःसायङ्कालयोः एवं शीतर्तौ दिनान्तराले जलं प्रदेयम् अर्थात् एकं दिनं त्यक्त्वा जलेन सेचनीयम्। वर्षर्तौ भूमेः शुष्के सत्येव वृक्षाणाम् जलं दद्यात्। येषां वृक्षाणां वृद्ध्यर्थमधिकजलस्यावश्यकता तेषां अवरोपणोपक्रमस्य ज्ञानं वराहमिहिरेण कथ्यते यत्, जम्बूफलवेतवानीर कदम्ब-उदुम्बरार्जुनबीजपूरकदाडिमल कुचद्राक्षावञ्जुल-नक्तमाल(करंज)तिलकपनसतिमिराम्रातकश्च इत्येते षोडशप्रकाराः वृक्षाः जलप्राचुर्यस्थलेषु अर्थात् यत्र भूमिगतजलस्य मात्रा अधिका तत्रैव रोपणीयाः।[3]

वृक्षारोपणक्रमस्य विषये वराहमिहिरेण कथ्यते यद् वृक्षाणां मध्ये परस्परं विंशति-हस्तान्तरं स्यात्, षोडशहस्तस्यान्तरं मध्यमं तथा द्वादशहस्तस्यान्तरमधमं स्वीकृतम्।[4] आचार्येण कथ्यते यद् वृक्षाणां परस्परमतिसन्निकृष्टत्वेन तेषां परस्परं स्पर्शः सञ्जायते येन तेषां मूलानामपि परस्परं सम्मेलनं भवति। एवं सति सर्वे वृक्षाः पीडिताः सम्यक् प्रकारेण पुष्पफलानि न ददति।[5]

वराहमिहिरः वृक्षायुर्वेदाध्याये कथयति यद्यत्र कण्टकयुक्ता वृक्षाः स्युः अथवा अकण्टकयुक्तवृक्षाणां मध्ये एकः कण्टकयुक्तो वृक्षः स्यात् तर्हि तस्माद् वृक्षात् त्रिहस्तपश्चिमदिशि त्रिपुरुषाधः (३६० अंगुलानि) जलं धनं वा भवति। यथोक्तम्-

---

1. ध्रुवमृदुमूलविशाखा गुरुभं श्रवणस्तथाश्विनी हस्तः।
   उक्तानि दिव्यदृग्भिः पादपसंरोपणे भानि।। बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः, श्लो.३१
2. बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः, श्लो.८
3. बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः, श्लो.९ तत्रैवश्लो.१०-११
4. बृहत्संहिता, वृक्षायुवेदाध्यायः, श्लो.१२
5. बृहत्संहिता, वृक्षायुवेदाध्यायः, श्लो.१३ तत्रैव श्लोक-१३

कण्टक्यकण्टकानां व्यत्यासेऽम्भस्त्रिभिः करैः पश्चात्।
खात्वा पुरुषत्रितयं त्रिभागयुक्तं धनं वा स्यात्॥[1]

कलमीवृक्षनिर्माणस्य विधानम्-

काण्डरोप्याणां (कलमीति भाषायां) विधानविषये वराहमिहिरेण कथ्यते यत् पनसाशोककदली- जम्बूलकुचदाडिम-द्राक्षापालीवतबीजपूरातिमुक्तका इत्येतेषां वृक्षाणां काण्डरोप्यशाखाः गोमयेन प्रलेपिताः विजातीयवृक्षाणां मूले शाखायां वा योजयेत्। तत्र एकस्य नवीनवृक्षस्योत्पत्तिर्जायते।[2]

एकदिने बीजाङ्कुरणम्

एकस्मिन्नैव दिने बीजानि अङ्कुरितानि भवेयुः। एतदर्थं कथितं यत् श्लेषान्तक (लसोड)- वृक्षस्य बीजम् अङ्कोलफलमध्यगतजलेन भावनां दत्वा छायायां शुष्कं कुर्यात्। एषां प्रक्रियां सप्तवारं कुर्यात्। ततः तं बीजं महिषेः गोमयेन घर्षणं कृत्वा महिषेः शुष्कगोमयस्य समूहे स्थापयेत्। तत्पश्चात् हिमखण्डैः आर्द्रमृत्तिकायां तानि बीजानि वपेत् तर्हि एकस्मिन् दिने फलयुक्तपादपबीजाङ्कुरणं भविष्यति।[3]

एतावदेव वराहमिहिरेण शीघ्रपादपोत्पादनस्य विधिः कथितः। अंकोल-वृक्षस्य फलस्य कल्केन(सारेण) तैलेन वा अथवा श्लेष्मातकस्य (लसोडस्य) फलस्य कल्केन तैलेन वा शतवारं भावनां दत्त्वा हिमखण्डैः आर्द्रमृत्तिकायां येषामपि बीजानां वपनं क्रियते, तेषां तत्क्षणे एव उत्पत्तिः भवति, तथा तेषां शाखाः फलानां भारेण नमन्ति। बुद्धिमता अस्मिन् विषये न शङ्कनीयाः।[4]

वृक्षेषु रोगोत्पत्तेः कारणं निवारणञ्च-

अस्मिन् सन्दर्भे वराहमिहिरेण उक्तं यद् अतिशयशीतसमीरातपैश्च वृक्षा व्याधिग्रस्ता रोगग्रस्ता वा भवन्ति। रोगीवृक्षाणां पत्राणि पीतानि भवन्ति। तेषां वृद्धिर्न भवति। यदि शाखाः भवन्ति तेषां बीजानि अङ्कुरितानि न भवन्ति। आचार्येण कथ्यते यद् एतेषां रोगीवृक्षाणां चिकित्सा कर्तव्या। सर्वप्रथमं यस्य वृक्षस्य यदङ्गम् पूर्वोक्तविकारेण युक्तमस्ति तत् शस्त्रेण कर्तनीयम् ततः वायविडङ्गघृतपङ्कानां मेलनं कृत्वा वृक्षेषु लेपनं कुर्यात् तदनन्तरं दुग्धमिश्रितजलेन सिञ्चेत् तर्हि वृक्षः रोगमुक्तः भविष्यति नात्र संशयः।[5]

वृक्षेषु यदि फलानि न फलन्ति अथवा फलानि शीघ्रं विनश्यन्ति तदा कुलत्थ-माष-

---

1. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.५३
2. बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः, श्लो.४-५
3. बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः, श्लो.२९
4. तत्रैव
5. बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः, श्लोक-१४, १५

मुद्ग–तिल–यवेत्यादिवस्त्रूनि दुग्धं मेलयित्वा ऊष्णं कुर्याद् ततः तं दुग्धं शीतलं कृत्वा तेन वृक्षाणां सेचनं कुर्यात् तदा निश्चयेन एव तस्य वृक्षविशेषस्य फलपुष्पयोश्च वृद्धिः सम्पत्स्यते।[1] एडकायाः अजायाः वा विष्णः चूर्णम् आढकद्वयम् एकाढकतिलान् सक्तूश्च एकप्रस्थमात्रं एकद्रोणजलं गोमांसम् एकतुलामितं इत्येतान् सर्वान् मेलयित्वा एकस्मिन् पात्रे सप्तदिनपर्यन्तं स्थापयेत् ततः अनेन मिश्रणेन वृक्षगुल्मलताः सेक्तव्याः निश्चयेनैव फलपुष्पयोः वृद्धिः भविष्यति।[2]

यदि कश्मिंश्चिद् वृक्षे पुष्पाणि काठिन्येन उत्पद्यन्ते तर्हि तस्य वृक्षस्य घृतयुक्तहस्तेन बींज लेपयित्वा दुग्धे क्षिपेत् एवं दशदिनपर्यन्तं कुर्यात्। ततः तं बीजं गोमये अनेकशं लेपयित्वा छायायां शुष्कं कुर्यात्। शुष्के सति काकोल–हिरणयोः मांसस्य धूपं दद्यात्, तत्पश्चात् तं बीजं शुद्धसंस्कारित–भूमौ रोपयेत् तथा च दुग्धमिश्रितजलेन सिञ्चेत् तदा पुष्पयुक्तवृक्ष उत्पत्स्यते।[3] तत्र चिञ्चिणी– कपित्थवृक्षयोः तथा अन्येषां वृक्षाणां रोपण–विधिरपि वराहमिहिरेण अस्मिन् अध्याये सम्यग्रूपेण प्रतिपादितः।[4]

बृहत्संहितायाः दकार्गलाध्याये आचार्यवराहमिहिरेण षडशीतिर्वृक्षा उपवर्णिताः तथा वृक्षायुर्वेदाध्याये पञ्चाशत्प्रकाराणां वृक्षाणां वर्णनं कृतम्। अनेन प्रकारेण आहत्य षट्त्रिंशदधि कशतप्रकाराणां वृक्षाणां वर्णनं बृहत्संहितायामभवद् येषां कानिचन नामानि लिख्यन्ते–

वेतसः,[5] जम्बूफलम् (जामुन)[6], उदुम्बरः[7], वीततरुः (अर्जुनः)[8], निर्गुण्डी[9], बदरीफलम्[10], किंशुकः (पलाशः)[11], बिल्वम्[12], काकोदुम्बरिका[13] (काकोदुम्बरिका फल्गुर्मलपूर्जघने फलेत्यमरः) कम्पिल्लकः (कवीला)[14], शोणाकः सरिवनः[15], विभीतकः[16], कोविदारकः (छितिवनः)[17], करञ्जकः[18], मधूकः[19], तिलकः (तालमखाना)[20], कदम्बः (नीपः)[21], तालः[22], कपित्थम्[23], अश्मन्तकः[24], हरिद्रा[25], वीरणः[26], सहस्रवीर्यः (दूर्वा)[27], भृङ्गराज–त्रिवृता–दन्ती–

1. बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः, श्लोक–१६
2. अविकाजशकृच्चूर्णस्याढके द्वे तिलाढकम्।
   सक्तुग्रस्थो जलद्रोणो गोमांसतुलया सह।। बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः, श्लो.१७–१८
3. बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः, श्लो.१९
4. बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः, श्लो.२०
5. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.६
6. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.८
7. वृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.११
8. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.१२
9. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.१४
10. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.१६
11. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.१७
12. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.१८
13. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.१९
14. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.२१
15. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.२३
16. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.२४
17. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.२८
18. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.३३
19. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.३५
20. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.३७
21. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.३८
22. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.४०
23. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.४१
24. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.४३
25. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.४५
26. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.४७
27. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.४७

(यपाल)सूकरपादी-लक्ष्मणा-आक्रातक-वञ्जुलाः (अशोकाः)[1], अतिवला-पारिभद्रौः[2], कण्टकारिका[3], खर्जूरी[4], कर्णिकारः[5], पिलुः[6] (पिलौ गुडफलः स्रंसीत्यमरः), करीरः[7], लालकरञ्जः (रोहितकः)[8], धन्तूर-कुशे[9], शमी[10], वट-अश्वत्थौः (पिप्पलः)[11], शाल-सर्ज-काश्मरी-(भद्रपर्णी)-अरिष्ट-धव-शिंशपाः[12], तेन्दुमोक्षक-अपामार्ग-गुडूच्यः[13], तिलाकौः, नागरखेलः[14], कदली[15], निचुलः[16], नीप-आम्र-पिलखन- कुरबक-ताल-मधूकाः[17] सौवीरक-(अञ्जनम्) मुस्ता-उशीर-राजकोशातक-अमलक-कतकाः[18], पुन्नाग-प्रियङ्गु-शिरीष-पनस-लकुचाः[19], अंकोल-श्लेष्मातकौ[20], दाडिम-द्राक्षा-पालीवत-बीजपूरा- अतिमुक्ताः[21], इत्यादयः।

उपर्युक्तनामावली वृक्षमालाया एका ग्रन्थावली सदृशा प्रतीयते। एतेषां वृक्षाणां ज्ञानं न केवलं कुशलवैद्यानां कृते अपितु वनस्पतिशास्त्रज्ञानां कृतेऽपि कष्टकरं दृश्यते। एतेषु वृक्षेषु बहूनां प्राचीनवृक्षाणां नामानि अद्यापि वनस्पतिशास्त्रज्ञानां कृते समस्याभूतानि सन्ति। वराहमिहिरेण एतेषां वृक्षाणाम् उत्पादनविधिः, उपयोग-प्रयोगयोः विधिरपि सविस्तरेण प्रतिपादितः। वैद्यस्य कृते वनस्पतीनां, लतानां औषधिवृक्षाणां ज्ञानम् आवश्यकं भवति। ज्योतिषज्ञाय ग्रहनक्षत्रसम्बन्धि तवृक्षाणां धार्मिकवृक्षाणां वा ज्ञानं भवेत्। कर्मकाण्डीपुरोहिताय यज्ञीयवृक्षाणां समिधासम्बन्धि तवृक्षाणां धार्मिकवृक्षाणां वा ज्ञानं स्यात्। वराहमिहिरस्य वृक्षज्ञानं अधिकविस्तृतं विलक्षणं वा आसीत्। स्व-वनस्पतिज्ञानस्य सन्दर्भे वराहमिहिरेण वृक्षायुर्वेददकार्गलाध्याययोः सारस्वतनामक-विदुषः मुहुर्मुहुः चर्चा कृता। एवमेव मनोः नामोल्लेखोऽपि आचार्येण वनस्पतिशास्त्रज्ञरूपे कृतः।

---

1. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.४८
2. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.५०
3. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.५६
4. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.५८
5. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.५९
6. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.६३
7. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.६७
8. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.७९
9. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.२८
10. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.८१
11. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.९६
12. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.१०५
13. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.१३
14. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.१६
15. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.११७
16. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.११९
17. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.११९
18. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्यायः, श्लो.१२१
19. बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः, श्लो.३
20. बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः, श्लो.२७
21. बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः, श्लो.४
22. बृहत्संहिता, भट्टोत्पलटीका-द्वितीयभागः, दकार्गलाध्यायः, श्लो.६४

अमुकवृक्षस्य खनने सति मतेहस्ताधोभागे किं किं प्राप्स्यते? अस्मिन् विपये वराहमिहिरेण दकार्गलाध्याये चर्चा कृतास्ति। वस्तुतः अस्माकम्षीणामाचार्याणाञ्च वनस्पतिशास्त्रस्य ज्ञानं भूगर्भविज्ञानं व विशदमासीत्। वृक्षायुर्वेदे सकारणं रोगाणां लक्षणं निदानं चाचार्यैः प्रतिपादितमस्ति। अर्वाचीनकालेऽपि काण्डरोप्यादिकानां विधानं प्राप्यते, तत्र प्राचीन शास्त्रोक्तानां सिद्धान्तानां यदि प्रयोगं कुर्मः तर्हि अवश्यमेव साफल्यं प्राप्स्यामः। वनस्पतिशास्त्रस्य प्रबुद्धज्ञाता वराहमिहिरः युगादिपर्यन्तमस्माकं मध्ये यशश्शरीरेण जीवयिष्यत्येव।

*****

वैदिकवाङ्मये वास्तुनिदर्शनम्

डॉ. हनुमान मिश्र

भारतीया संस्कृतिः सम्पूर्णस्यास्य विश्वस्य सर्वोत्तमा संस्कृतिः । तत्र वेदानां स्थानमतिमहत्वपूर्णं वर्तते । यतो ह्येषा भारतीया संस्कृतिः वैदिकचिन्तनधाराधारभूता । वेदादेव सांस्कृतिकज्ञानधारा निःसरति । वेद एव ज्ञानराशे उद्गम- स्थानमित्यत्र नास्ति संदेहस्यावकाशः । यथोक्तं मनुस्मृतौ-

चातुर्वर्णं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविश्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥[1]

विविधविद्यानां ज्ञानं वैदिकग्रन्थानामध्ययनेन सुतरामेव भवति। ऋग्यजुसामाथर्ववेदेषु, शिक्षादिषड्वेदाङ्गेषु, न्यायवैशेषिकाद्युपाङ्गप्रभृतिशास्त्रेषु च कृषिविज्ञान-वनस्पतिविज्ञान-प्राणिविज्ञान-चिकित्साशास्त्र-स्थापत्यकला (वास्तु) - गणित-ज्योतिःशास्त्र-पर्यावरणविज्ञान-पशुचिकित्सा-राजनीति-अर्थशास्त्रप्रभृतिविषयाः सम्यक् प्रतिपादिताः सन्ति । अत एव महर्षिणा मनुना पौनः पुन्येन भणितं यत् -

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥[2] इति।

ज्ञानोपासनाकर्मेति काण्डत्रययुतानां वेदानां चत्वार उपवेदा अपि वर्णिताः सन्ति शास्त्रेषु, ते क्रमश आयुर्वेद-धनुर्वेद-गान्धर्ववेद- स्थापत्यवेदेति नाम्ना प्रसिद्धः । ऋग्वेदस्योपवेद आयुर्वेदः, यजुर्वेदस्योपवेदः धनुर्वेदः, सामवेदस्योपवेद गान्धर्ववेदः, अथर्ववेदस्योपवेदः स्थापत्यवेदः। अथर्ववेदस्य पञ्चोपवेदाः गोपथब्राह्मणे वर्णिताः[3], तेष्वन्यतमः स्थापत्यवेदः, यस्मिन् प्राचीनवैदिकवास्तुविद्यायाः ज्ञानमुपबृंहितमस्ति। यथोक्तम् -

स्थापत्यमुच्यतेऽस्माभिरिदानीं प्रक्रमागतम् ।
ज्ञातेन येन ज्ञायन्ते स्थपतीनां गुणा गुणाः ॥[4]

स्थापत्यशब्दस्य अर्थः शिल्पविद्या वास्तुविद्या च भवति । अष्टादश आचार्या अस्या विद्यायाः प्रवक्तारः आसन् ये च स्वतपोबलेन विद्यामिमामधिगतवन्तः । ते यथा-

1. मनुस्मृति 12/97
2. मनुस्मृति 2/7
3. गोपथब्राह्मण 01/10
4. समरांगसूत्रधार 8/1 (स्थपतिलक्षणम्)

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा ।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः ॥
ब्रह्म कुमारो नन्दीशः शोनको मार्ग एव च ।
वासुदेवोऽग्निरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती ।
अष्टादशैते विख्याताः शिल्पशास्त्रोपदेशकाः ॥[1]

एते सर्वे वेदज्ञाः वेदमन्त्राणां द्रष्टारश्चासन् । अतएव समग्रे वैदिकसाहित्ये अस्या वास्तुविद्यायाः निदर्शनं भवति । तत्र विशेषरूपेण वेदसंहितासु, उपवेदेषु, श्रौतसूत्रेषु, ब्राह्मणग्रन्थेषु च वास्तुचर्चा कृताऽस्ति ।

वास्तुशब्दः **'वस्' धातो तुण्** प्रत्यये कृते सिद्धयति । अस्य शब्दस्य व्युत्पत्तिलभ्यः अर्थ– गृहनिर्माणभूमिः, निवासभूमिः, यज्ञभूमिः, देवालयः, सामान्यभूखण्डश्च भवति ।[2] उक्तञ्च शब्दकल्पद्रुमे – **''वसन्ति प्राणिनो यत्र'' ''वस् निवासे णिच्'' गृहकरणयोग्यभूमिः ।** अन्यत्रापि – **'वसन्त्यत्र' 'वसेस्तुन्नगारे णिच्च' इति तुन् । 'वास्तु स्याद् गृहभूपुर्योगृहे सीमसुरङ्गयो' इति हैमः।**[3] **'वास्तुनि गृहभुवि भवो वास्तव्यः।**[4] वास्तु गृहस्य स्वामी गृहरक्षणकर्ताऽपि भवति । यथोक्तम् –

नमो वात्याय च रेष्म्याय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च।
नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च।।[5]

वास्तुपुरुषस्य नामान्तरमपि शास्त्रेषु प्रदत्तम्। यथा– विश्वः विराट्पुरुषः, प्रजापतिः, विश्वकर्मा, विष्णु, इन्द्र इत्यादि ।

वास्तुकला–

आचार्यवात्स्यायनः स्वग्रन्थे कामसूत्रे चतुःषष्टिकलायाः प्रतिपादनं कृतम्, तत्रापि वास्तुकलायाः वर्णनं निगदितम् । महेश्वरस्य त्रिमूर्तिः, ताण्डवनृत्यं कुर्वन् नटराजमूर्तिः इत्यादयः वास्तुकलाया एव प्रतीकत्वेन परिगणिताः । अन्यान्यपि उदाहरणानि सन्ति यत्र वास्तुकलायाः श्रेष्ठ–प्रदर्शनं भवति, तेषूदाहरणेषु कानिचन मयाऽत्र प्रस्तूयन्ते ।

1. चिदम्बरम् –

तमिलनाडुराज्यस्य मद्रासनगरे शैवधर्मावलम्बिनां पवित्रस्थलरूपेण विख्यातं नगरमिदम् ।

---

1. समरांगसूत्रधार, भवन निवेश, भूमिका, पृ. 3 (मेहरचन्द लक्ष्मणदास प्रकाशन)
2. वाचस्पत्यम्
3. हैमः 2/199 उद्धृतं अमरकोश, रामाश्रमीटीका 2/2/19
4. तत्रैव महीधरभाश्ये 16/39
5. शु.य.16/39

प्राचीनमन्दिरस्य नगरत्वेनास्य गणना भवति । द्रविड़शैल्यां निर्मितानि देवमन्दिराणि वास्तुकलायाः श्रेष्ठोदाहरणानि सन्ति।

2. एलीकेन्टा -

महाराष्ट्रप्रान्तस्य मुम्बईनगरपार्श्वे एकः गह्वरः (गुफा) अस्ति, तस्य नाम एलीकेन्टा इति । बृहत्पर्वताभ्यन्तरे निर्मितोऽयं गह्वरः अतीवकलात्मकः । अस्मिन् पुराणोक्तदेवदेवीनां भव्यं स्वरूपं निर्मितमस्ति ।

3. कोणार्कः -

उत्कलप्रदेशे पुरीजनपदे विद्यमानमिदं क्षेत्रं सूर्यमन्दिरेण ख्यातम् । अस्य मन्दिरस्य शिखरं वास्तुकलाया अभूतपूर्वमुदाहरणमुदाहरति । मन्दिरस्यास्य भित्तीष्वपि नानाकलाकृतयः प्रदर्शिताः सन्ति ।

पौरोहित्यकर्मणि वास्तु -

यत्र तत्र वैदिकयागे नानाविधयागमण्डपादीनां निर्माणं वास्तुनिर्देशपुरःसरं भवति। उदाहरणार्थं वयं पश्यामः यद् दर्शपौर्णमासयागे वेदिकासम्पदानार्थं भूमिखननविधौ पूर्वपश्चिमोत्तरदक्षिणादि-दिक्षु पृथक् पृथक् मापनविधिना रेखा क्रियते।[1] एवमेव चितियागे वेदिकाचयनं वास्तुनिर्देशानुसारं भवति ।[2] यतो हि वैदिकाख्याने निगदितं यत् यागवेदिकानिर्माणं वैदिकवास्तुविधिना एव करणीयम्, अन्यथा प्रयुक्तस्य यागस्य फलं विपरीतं भविष्यति, फले विपरीते सति यजमानहानिः लोकहानिश्च भविष्यत्येव।[3]

स्मार्तपौरोहित्यकर्मणि वास्तुदेवस्य मण्डलनिर्माणं भवति यत्र वास्तुदेवस्य आवाहनं पूजनञ्च भवति । वास्तु पुरुषोऽपि वर्तते, स्मार्तयागे **वास्तुपुरुषाय नमः**[4] इत्युक्त्वा नमस्कारसमर्पणं क्रियते यजमानेन । गृहादिनिर्माणप्रारम्भे सति भूमौ वास्तुपूजनं शिलान्यासश्च भवति। पौराणिकाख्यानानुसारेण वास्तुपुरुषस्योत्पत्तिः शिवस्य स्वेदबिन्दुना सञ्जाता। स उत्पन्नो भूत्वा अन्धकयुद्धे असुराणां रक्तपानमकरोत्। अन्धकादीनां रक्तपानेन अपि स अतृप्तो भूत्वा विश्वभक्षणाय समुद्यतोऽभवत्। तमधोमुखं कृत्वा तदा ब्रह्मादयः सर्वे देवाः तस्य शरीरोपरि स्वासनमासाद्य तं स्तम्भितं कृतवन्तः । ततः तस्य क्षुधाशान्त्यर्थं वास्तुपूजनविधानस्यारम्भो जातः । अनन्तरं वास्तो भेदप्रभेदः संजातः, तत् पौरोहित्यकर्मणि दृष्टिपथे आयाति, तत्र पृथक् पृथक् वास्तुमण्डलनिर्माणं भवति, क्वचिद् चतुःषष्टिकोष्ठात्मकं क्वचिच्च एकाशीतिकोष्ठात्मकं कुत्रचित् शतकोष्ठात्मकञ्च मण्डलनिर्माणं भवति ।

---

1. शु.य. 01/27
2. शु.य. 11 अध्याये
3. तत्रैव द्वितीयेऽध्याये
4. प्रतिष्ठा महोदधि वास्तुपूजनप्रकरण

गृहदेवालयादि निर्माणे वास्तु -

गृहनिर्माणे सर्वादौ वास्तुपूजनं क्रियते। तदर्थं भूमिः कथं स्यात्, वास्तुपिण्डस्य स्वरूपं कथं वा स्यात्, इत्यादि सर्वं विचारणीयं भवति । वस्तुतः वास्तो कायभागः जले पृथिव्यामन्तरिक्षे च सर्वत्र व्याप्तः । स भूमौ निर्माणकर्त्तृरूपेण विद्यते। अतएव भवननिर्माणप्रारम्भकाले भूमिपूजनं (शिलान्यासं) भूमिशोधनञ्च क्रियते ।

गृहवास्तुविषये ऋग्वेदे प्रार्थना अस्ति यद् अस्माकं गृहं सर्वतः सुखवर्धकं, रोगरहितञ्च भवेत् यस्मिन् सर्वतः वायुप्रवेशः सूर्यरश्मिप्रवेशश्च भवेत् । यथा–

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वारूपान्याविशन् सखा सुशेव एधिनः ।
वास्तोष्पते सर्वाणि रूपाण्याविशन् सखा नः सुसुखो भव ॥[1]

अर्थात् गृहाभ्यन्तरे वायुप्रवेशः सूर्यप्रकाशप्रवेशश्च स्यात्, येन च गृहे निवासकर्तारः सर्वदा रोगरहिताः आनन्दानुभूतियुक्ताश्च भवन्तु। यतो हि वास्तुविधिः आचरिते सति तस्मिन् गृहे कदापि स्वास्थ्यस्य, धनस्यान्नस्य च न्यूनता न भविष्यति । तथा प्रतिपादितमृग्वेदे यजुर्वेदे च -

विश्वकर्मा विमना भूतिव्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्द्रष्टा।[2]
विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्र सप्त ऋषीन् पर एकमाहु ॥[3]

विश्वकर्मानामकप्राणवायुः प्रभूतज्ञानयुक्त अस्ति । 'विधाता' जीवनधारणसमर्थ अस्ति, सः सर्वकर्मनिरीक्षणकर्ता चास्ति। स च वास्तुः देवस्वरूपेऽपि परिगणितः। वेदे स्थापत्यज्ञं 'विश्वकर्मन्' इति सम्बोधनेन उक्तमस्ति। येन स्वहस्तेन वास्तुसम्बद्धोपकरणानां निर्माणं कृतम्। यथा–

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावा भूमी जनयन्देव एकः ॥[4]

विश्वकर्मणा सह वास्तुविदामन्यसमूहोऽपि एकीभूय विस्तृतरूपेण भूमिं प्रतिष्ठापितवन्तः, यतो हि नववास्तुनिर्माणे नानाज्ञानसमूहः कार्यं करोति। यथा–

---

1. ऋग्वेद 07/55/01
2. तत्रैव 10/82/02
3. शु.य. 17/26
4. शु.य. 17/19

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने ।
यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद्यावा पृथिवी अप्रथेताम्।[1]

अनेन सहैव वास्तुसम्बद्धोपकरणनिर्माणे पञ्चमहाभूतानां शक्तेः प्रयोगमपि समभूत् । तद्यथा–

विश्वकर्मन्हविशा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् ।
मुह्यन्त्वन्ये अभितः सपत्ना इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ॥[2]

वेदाङ्गानां मतमस्ति यत् पृथिव्यां यत् किञ्चिदपि निर्माणकाले सर्वादौ वास्तुविचारः करणीय एव। यतो हि भूमिः वास्तुनिर्देशानुसारं सम्यक् नास्ति चेत् निर्माणानन्तरं सा निश्चयमेव अशुभफलदायिनी भविष्यति ।

'बृहद्वास्तुमाला' इति ग्रन्थे गृहदेवालयकार्यालयादीनां निर्माणार्थं भूमिलक्षणं प्रतिपादितम्। तद्यथा –

1. सर्वत्र सर्वदा अनूषरा, स्निग्धवती, बहूदका, तृणोपलान्विता समा च भूमिः शुभदायिनी भवति।[3]
2. सुगन्धयुक्ता भूमिः सर्वकार्याय शुभा, यत्र सर्वे निर्माणं कर्त्तुं शक्नुवन्ति।[4] परञ्चैतादृशा भूमिः दुर्लभा भवति।
3. चतुरस्त्रभूमिः आयताकारभूमिः भद्रभूमिः वृत्ताकारभूमिश्च देवालयाय गृहाय च शुभदायिनी भवति।[5]
4. कूर्मपृष्ठा भूमिः धनधान्यवृद्धिकारिणी कथिता।[6]
5. चिताभूमिः, अंगारभूमिः, स्फुटिता, ऊषरा, वल्मीकयुता च भूमिः अशुभदायिनी प्रोक्ता ।[7]
6. पूर्वदिशावनतभूमिः धनदायिनी ।
7. अग्निकोणावनतभूमिः मृत्यु शोकव्याधिप्रदात्री भवति।[8]

अनेन प्रकारेण वास्तुशास्त्रे नैके सिद्धान्ताः नियमाश्च वर्णिताः। सर्वं विचार्य दोषादिकं परिमार्ज्य यद् भवनं निर्मीयते तदानन्दवर्धकं धनधान्यप्रवर्धकञ्च भवति ।

---

1. शु.य. 17/25
2. शु.य. 17/22
3. बृहद्वास्तुमाला मिश्रप्रकरण 77
4. बृहद्वास्तुमाला मिश्रप्रकरण 31
5. बृहद्वास्तुमाला मिश्रप्रकरण 90
6. तत्रैव
7. तत्रैव 79–81
8. तत्रैव 37–39

वास्तुशास्त्रदृशा जम्बूद्वीपविमर्शः

डॉ. अशोक थपलियालः
गोविन्दवल्लभः

भारतीयज्ञानविज्ञानवाङ्मये खगोल-भूगोल-आयुर्वेद वनस्पति-रसायन-भौतिक-धातुविज्ञान-सामाजिक-राजनीतिक-आलृथकदीनां विषयाणां विस्तृतविवरणं प्राप्यते। वैदिकवाङ्मयं हि सम्पूर्ण-भारतीयचिन्तनपरम्परायाः मूलं वर्तते। वस्तुतस्तु अस्मिञ्जगति किमपि तत्त्वमेतादृशन्नास्ति यद्वेदे सन्निहितन्न भवेत्। यथा मनुनोक्तम् - **भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्धयति**[1]। अथर्ववेदस्योपवेदः स्थापत्यवेदः प्रसिद्धः। अयमेव सम्प्रति वास्तुशास्त्रनाम्ना व्यवह्रियते। स्थापत्यशास्त्रम् शिल्पशास्त्रञ्चेति अपरनामानि वास्तुशास्त्रस्य। गृहमन्दिरप्रासादादिनिर्माणविषयकं चिन्तनं वास्तुशास्त्रे विद्यते। वास्तुशास्त्रवाङ्मये न केवलं वास्तुनिर्माणविषयकं चिन्तनमपितु भूमेः प्रधानत्त्वाद् भूगोलवर्णनमपि दरीदृश्यते। वास्तुशास्त्रे भूगोलविषयकं यद्वर्णनं प्राप्यते तस्यानुसारेण जम्बूद्वीपविमर्शः अस्मिन्शोधपत्रे कृतमस्ति।

इयं वसुमती सप्तद्वीपवती अस्तीति प्राचीनभूगोलवर्णनेषु प्राप्यते। सप्तद्वीपानां विस्तृतवर्णनं पुराणेषु विस्तृततया उपलभ्यते। पौराणिकशास्त्रानुसारेण **''जम्बूद्वीपः प्लक्षद्वीपः शाल्मलिद्वीपः कुशद्वीपः क्रौञ्चद्वीपः शाकद्वीपः पुष्करद्वीपश्चेति''** सप्तद्वीपाः पृथिव्याः भागाः सन्तीति वर्णनं प्राप्यते। प्राचीन भूगोलविज्ञानानुसारेण पृथिवी सप्तद्वीपेषु विभक्ताऽस्ति। यद्यपि सप्तद्वीपानां वर्णनं प्राचीनेषु साहित्येषु बहुषु स्थलेषूपलभ्यते परन्तु पुराणेषु वर्णनमिदं विस्तृततया दृश्यते। वास्तुशास्त्रस्य समराङ्गणसूत्रधारग्रन्थे अपराजितपृच्छायां चापि सप्तद्वीपानां वर्णनं विशदतया प्राप्यते। उच्यते हि अपराजितपृच्छायां-

जम्बूः प्लक्षः कुशक्रौञ्चौ शाल्मलिश्च तथैव च।
शाकस्तथा सप्तमाख्यातः पुष्कराख्यश्च सप्तमः[2]**।।**

अपराजितपृच्छानुसारेण एतेषु सप्तद्वीपेषु मेरु-मन्दर-गन्धमादन-हिमालय-हेमकूट-निषध-नील-श्वेत-शृंगवान्-कुलाचलसंज्ञकाः दशपर्वताः सन्ति[3]। एतेषां पर्वतानाश्रित्य माहेन्द्र-

---

1. मनुस्मृति 12.97
2. अपराजितपृच्छा 4.18-19
3. मेरुश्च मन्दरश्चैव तृतीयो गन्धमादनः।
   हिमवान् हेमकूटश्च निषधो नील एव च।।
   श्वेतश्च शृङ्वांश्चैव जाता अन्ये कुलाचलाः।। अपराजितपृच्छा 4.27-28

मलय-सह्य-विन्ध्य-हेमन्त-पारिजात-श्रीशैल-आबू-उदियाद्रि-त्रिकूट-द्वीपशैल- विन्ध्याचलश्चेति द्वादशसंख्यकानि वनोपवनकाननानि विद्यन्ते[1]।

सप्तद्वीपानां पौराणिकदृष्ट्या यद्वर्णनं प्राप्यते प्रायः तादृशमेव वर्णनं वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेष्वपि दृश्यते। परञ्च आधुनिकदृष्ट्या साम्प्रतिकानां द्वीपानां वर्णनं प्राचीनभूगोलवर्णनाद् भिन्नं दृश्यते। आधुनिकवैज्ञानिकानामनुसारेणेदं वर्णनं समीचीनं नास्ति। अस्माकं पृथिवी परिवर्तनशीलाऽस्ति। अस्यां पृथिव्यां कालक्रमानुसारं सदैव परिवर्तनं जायते। भूमौ अनेकानि भौगोलिकपरिवर्तनानि सम्प्रति अपि जायमानानि दृश्यन्ते। अतः पौराणिकवर्णनानुसारं यत्किमपि वर्णनं प्राप्यते तस्मिन्नपि वर्णने भौगोलिकपरिवर्तनं भवितुं शक्नोतीति। आधुनिकसन्दर्भे पृथिव्यां पुराणेषूपलभ्यमानानां सप्तद्वीपानां स्थितिः सम्प्रति कुत्रास्तीति विषयेऽस्मिन् अनेकानां विचारकानां विभिन्नानि मतानि सन्ति। अस्मिन् सन्दर्भे आधुनिक-भौगोलिकपरिस्थितौ एतेषां सहसम्बन्ध विषये अनेकानां विचारकाणां विभिन्नानि मतानि प्राप्यन्ते।

जम्बूद्वीपवर्णनम्

अस्मदीया पृथिवी गोलाकारास्ति तस्याः भागद्वये विभाजनं क्रियते[2]। तयोर्गोलयोः प्रथमम् उत्तरीगोलार्धं द्वितीयञ्च दक्षिणीगोलार्धं कथ्यते। अनयोर्गोलयोर्मधये शून्याक्षांशरेखा विषुवद्रेखा कथ्यते। इयं रेखा आकाशीयनाडीवृत्तस्य समानान्तरा भवति। अस्या उत्तरदिशि उत्तरगोलीयप्रदेशाः दक्षिणे च दक्षिणगोलीयप्रदेशाः कथ्यन्ते। प्राचीनभारते भूगोलस्योत्तरीगोलार्धं जम्बूद्वीपनाम्ना प्रसिद्धमासीत्[3]। तत्र जम्बूद्वीपः नववर्षेषु विभक्तो वर्तते[4]। समराङ्गणसूत्रधारे जम्बूद्वीपस्य विलक्षणं वर्णनं समुपलभ्यते तदनुसारं सप्तद्वीपेष्वयं जम्बूद्वीपः सप्तसमुद्राणां मध्ये शतसहस्रयोजनविस्तृततमो वर्तते। जम्बूद्वीपे **''हिमाद्रिः हेमकूटः निषधः नीलः श्वेतः शृंङ्गी''** संज्ञका षड्पर्वतश्रेण्यः सन्ति[5]। अस्मिन्द्वीपे नववर्षाणि सन्ति तेषु नववर्षेषु अस्माकं भारतवर्षमपि विद्यते[6]। अस्मिन् जम्बूद्वीपमध्ये महान् जम्बूवृक्षो विद्यते अनेनैव कारणेनायं जम्बूद्वीपनाम्ना प्रसिद्धोऽस्ति[7]। अपराजितपृच्छायाञ्चापि द्वीपस्यास्य विस्तृतिः समराङ्गणसूत्रधारसमैवास्ति। द्वीपस्यास्य बहिः

---

1. माहेन्द्रो मलयश्चैव सह्यो विन्ध्यस्तथैव च।
   हेमन्तः पारिजातश्च श्रीशैलश्च तथाऽर्बुदः।।
   उदयाद्रिस्त्रिकूटश्च द्वीपशैलो विन्ध्याचलः।। अपराजितपृच्छा 4.29-30
2. भूगोलोऽयं द्विधा विभक्तो विद्यते सौम्ययाम्ययोर्विभागेन-भुवनकोशविमर्शः पृ. 119
3. भुवनकोशविमर्शः पृ.121
4. सिद्धान्तशिरोमणि गो.भु श्लो. 26-30 । महाभारतम् उद्योगपर्वः 19.15-16
5. समराङ्गणसूत्रधारः 5.9-10
6. समराङ्गणसूत्रधारः 5.28
7. जम्बूतरुर्महान् मध्ये सुमेरोर्निषधस्य च ।
   द्वीपस्यामुष्य यद्योगाज्जम्बूद्वीप इति श्रुतिः ।। समराङ्गणसूत्रधारः 5.20

क्रमशः सप्तसमुद्राणां सृष्टिः जायते[1]। अस्य द्वीपस्य नवखण्डाः सन्ति। जम्बूद्वीपे सप्तपर्वताः सन्ति तेषु सप्तपर्वतेषु मेरुपर्वतः प्रसिद्धोऽस्ति। केषाञ्चन मतानुसारेण अयमेव मेरुः सम्प्रति **'पामीर'** इति स्थानविशेषनाम्ना ज्ञायते। अस्य मेरोः चतुर्दिक्षु चतस्रः पर्वतशृङ्खलाः निर्गताः सन्ति। मेरुं परित **'इलावृत्तवर्षस्य'** स्थितिरस्ति। मेरोः पूर्वदिशि **'भद्राश्ववर्षम्'** वर्तते। सम्प्रति **'भद्राश्ववर्षं चीनदेशः'** नाम्ना ज्ञायते। अस्य मेरोः पश्चिमदिशि **'केतुमालवर्षम्'** अस्ति। इदमेव पौराणिकं **'केतुमालवर्षं'** सम्प्रति ईरानइराक-अरबदेशाः सन्तीति मन्यते। मेरोः दक्षिणदिशि **'भारतवर्षं किन्नरवर्षं हरिवर्षञ्च'** सन्ति। तस्मादुत्तरदिशि **'रम्यकवर्षम् हिरण्यवर्षम् कुरुवर्षञ्चेते'** नवखण्डाः जम्बूद्वीपे स्थिताः सन्ति[2]। सम्प्रति पौराणिकं **'किन्नरवर्षम्'** आधुनिकः तिब्बतदेशः **'हरिवर्षञ्च'** हिरातदेशः। रम्यकवर्षस्याधुनिकनाम मध्यएशिया हिरण्यवर्षञ्च उत्तरी सिक्यांगः नाम्ना ज्ञायते[3]। सम्प्रति उत्तरकोरियादेशः उत्तरकुरुवर्षं भवितुं शक्यते। जम्बूद्वीपवर्णनं सर्वेषु पुराणेषूपलभ्यते परञ्चायं विवेचनं पृथक्-पृथक् वर्तते।

जम्बूद्वीपः सम्प्रति केचन आधुनिकवैज्ञानिकैः **'यूरेशिया'** पदेन संज्ञायते[4]। **'यूरेशिया'** पृथिव्याः बृहत्तमं महाद्वीपीयक्षेत्रमस्ति। अस्मिन् महाखण्डे **'यूरोप-एशिया'** इति द्वौ महाद्वीपौ वर्तेते। द्वयोः महाद्वीपयोः सम्मेलनेनायं **'यूरेशिया'** इति कथ्यते[5]। अयं मुख्यरूपेण पृथिव्या उत्तरीगोलार्धे स्थितोऽस्ति। अस्य पश्चिमदिशि **'अटलांटिकमहासागरः'** पूर्वदिशि **'प्रशान्तमहासागरः'** उत्तरदिशि **'आर्कटिकमहासागरः'** दक्षिणदिशि च **'अफ्रीकामहाद्वीपः भूमध्यसागरः हिन्दमहासागरश्चेति'** सन्ति[6]। जम्बूद्वीपे **''हिमाद्रिः हेमकूटः निषधः नीलः श्वेतः शृङ्गी''** संज्ञका षट्पर्वतश्रेण्यः सन्ति[7]। तेषाञ्च वर्णनं क्रियते।

हिमवान् पर्वतः

हिमवान् पर्वतः सम्प्रति हिमालयपर्वतनाम्ना विख्यातः। समराङ्गणसूत्रधारे वर्णितं यद् हिमशिलाच्छादित उच्चशिखरैः सुशोभितश्च **'हिमवान्'** पर्वतः। अत्र पिशाचाः यक्षगणाः

---

1. जम्बूद्वीपो लक्षमेकं योजनानां तु सङ्ख्यया।
   तत्परमर्णवा जाताः सप्तसृष्टिविराजिताः।।
   सालश्च सप्तमां यान्ति क्रमेणापि सुसंस्थिताः।
   क्षारार्णवक्रमेणैव संस्थिताः सप्त सागराः।। अपराजितपृच्छा 4.20-21
2. भौगोलिक विचारधाराएं एवं विधितन्त्र पृ.141-145
3. भुवनकोशविमर्शः पृ.130
4. भौगोलिक विचारधारायें एवं विधितन्त्र पृ.141-145 (उद्धृतं भुवनकोशविमर्शे पृ.130)
5. How Many Continents are there\ National Geographic Society.
6. What is Euresia\ www-geography-about-com- Retrieved 17 Dec 2012
7. समराङ्गणसूत्रधारः 5.9-10

राक्षसाश्च निवसन्ति[1]। पुराणेषु हिमालये देवादीनां निवासः स्वीकृतः। कालिदास अपि कुमारसम्भवे देवतात्मा हिमालयः इति कथयति, यथा–

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः[2]।

हेमकूटपर्वतः

पर्वतोऽयं हेमकूटः स्वर्णशिखरयुतोऽस्ति। अत्र चारणाः गुह्यकाश्च (देवयोनिविशेषः) सदैव विचरन्ति[3]। केचन विद्वांसः लद्दाखकैलाशपर्वतस्य शृङ्खला हेमकूट इति कथयन्ति[4]।

निषधाचलपर्वतः

प्रातः कालीनतरुणसूर्यस्य प्रभामण्डलसदृश अरुणवर्णयुतश्च **'निषधाचलः'** वर्तते। पर्वतेऽस्मिन् शेषनागः वासुकिः तक्षकगणाश्च निवसन्ति[5]। अलीमहोदयस्य मतानुसारं निषध पर्वतशृंखला चीनदेशस्य 'कुनलुन' पर्वतशृंखलाऽस्ति। महाभारतानुसारं निषधपर्वतं पर्यन्तं महाराजयुधिष्ठिरस्य शासनम् आसीत्[6]।

नीलपर्वतः

वैडूर्यमणिमयशिखरयुतः **'नीलपर्वतः'** विद्यते। अनेनैव कारणेनायं विश्वप्रसिद्ध अस्ति। अत्र **'नीलपर्वते'** तपोनिष्ठाः ब्रह्मर्षिगणाः निवसन्ति[7]। सम्भवतः जफरसेनतियेनसेनपर्वतमाला (सोवियतदेशः) नीलपर्वतः[8]। प्रो.त्रिपाठीमहाभागः 'त्यानशेन' पर्वतमेव नीलपर्वत इति स्वीकरोति[9]।

श्वेतपर्वतः

अस्मिन् पर्वते स्वर्णमयाः उच्चोच्चशिखराः विद्यन्ते। तत्र **'श्वेतपर्वते'** दर्पशालिनः देवद्रोहिणः च निवसन्ति[10]। अफगानिस्तानदेशस्य नगरहारप्रान्तस्य दक्षिणस्थितः **''सफेदकोह''** इति संज्ञिका पर्वतशृङ्खला **''श्वेतपर्वतः''** सम्भाव्यते।

---

1. शृङ्गैर्हिमशिलानद्धैः सर्वतो हिमवानयम् ।
   महान्तो निवसन्त्यत्र पिशाचाः यक्षराक्षसाः ।। समराङ्गणसूत्रधारः 5.21
2. कुमारसम्भव 1.1.
3. कूटैर्हेममयैर्हेमकूट इत्यवनीधरः । यं सर्वतो निषेवन्ते सदा चारणगुह्यकाः ।। समराङ्गणसूत्रधारः 5.22
4. भुवनकोशविमर्शः पृ. 134
5. तरुणार्कप्रभाजालप्रतिभो निषधाचलः। निवसन्ति सुखं तत्र शेषवासुकितक्षकाः ।। समराङ्गणसूत्रधारः 5.23
6. भुवनकोशविमर्शः पृ.133
7. वैडूर्यनद्धैः शिखरैर्नीलो नीलमहीधरः ।
   कलयन्ति तपोनित्या यत्र ब्रह्मर्षयः स्थितितम् ।। समराङ्गणसूत्रधारः 5.25
8. भुवनकोशविमर्शः पृ.133
9. तत्रैव
10. श्वेतः स काञ्चनैः श्रृङ्गैर्गगनोल्लेखिभिर्वृतः ।
    दोर्दर्पशालिनां यत्र निवासस्त्रिदशद्विषाम् ।। समराङ्गणसूत्रधारः 5.26

शृङ्गवान् पर्वतः

शृङ्गवान्पर्वते महानीलमयूराणाम् आधिक्यं वर्तते। उच्चशिखरयुतश्चायं **'शृङ्गवान्'** पर्वतः पितृणां निवासस्थलम् अस्ति[1]। अस्य साम्प्रतिकस्थितिः सोवियतदेशस्य आसन्नेष्वेव सम्भाव्यते।

जम्बूद्वीपस्य नववर्षाणि

अत्र **इलावृत्तवर्षं भद्राश्ववर्षं केतुमालवर्षं रम्यकवर्षं हिरण्यमयवर्षम् उत्तरकुरुवर्षं हरिवर्षं किन्नरवर्षं भारतवर्षञ्चेति** नववर्षाणि सन्ति। तेषाञ्च वर्णनं यथा –

इलावृत्तवर्षवर्णनम्

''इरया आवृतं इलावृत्तं जम्बूद्वीपस्य नववर्षान्तर्गतवर्षविशेष'' इति शब्दकल्पद्रुमे[2]। नववर्षात्मकजम्बूद्वीपस्य वर्षभेदे तच्च वर्षम् **''पश्चान्माल्यवतः प्राच्यां गन्धमादनशैलतः। इलावृतं निलगिरेर्याम्यो निषधादुदक्''** इत्युद्र चतुः सीमावच्छिन्ने देशोऽस्ति[3]। जम्बूद्वीपमधये **'सुमेरुपर्वतः'** विराजते। अयं पर्वतः स्वर्णकमलकर्णिकाकारो वर्तते। अस्मिन् पर्वते नैके मणियुताः कन्दराः सन्ति। तत्र **'मेरुपर्वते'** कन्दरेषु अप्सरैः सह देवगणाः निवसन्ति[4]। आधुनिकाः मेरुः 'पामीर' इति स्थानविशेषनाम्ना जानन्ति[5]। पर्वतमिमं परित **'इलावृत्तवर्षम्'** अस्ति।

वर्षस्यास्य **'इलावृत्तस्य'** स्थितिः समराङ्गणसूत्रधारेण **'निषधाचल-नीलाद्रि-माल्यवान्-गन्धमान'** इत्यादीनां पर्वतानां मधये कथिता[6]। **'भुवनकोशविमर्शे'** च वर्णितमस्ति यत् सुमेरुं परितः **'कदम्बवृक्षः जम्बूवृक्षः वटवृक्षः पिप्पलवृक्षः'** चेति चत्वारो वृक्षाः **'मदरांचलः सुगन्धः विपुलः सुपार्श्वः'** चेति चत्वारः शैलाः **'चैत्ररथः नन्दवनः धृतवनः बैभ्राजवनः'** चेति चत्वारि वनानि **'अरुणसरः मानससरः महाह्रदसरः श्वेतजलसरश्च'** इति चतस्रः सरांसि सन्ति। एतानि सर्वाणि **'इलावृत्तवर्षे'** स्थितानि सन्ति[7]।

भद्राश्ववर्षवर्णनम्

''भद्रा अश्वा अत्र भुवि जम्बुद्वीपस्य नववर्षान्तर्गतवर्षविशेष'' इति शब्दकल्पद्रुमे[8]।

---

1. महानीलमयो बर्हिपिच्छच्छायो बहिर्महान् ।
   पितृणामालयः शृङ्गैरुच्छ्रितैः श्रृङ्गवान् गिरिः ।। समराङ्गणसूत्रधारः 5.27
2. शब्दकल्पद्रुमः
3. वाचस्पत्यम्
4. हेमाब्जकर्णिकारः सुमेरुर्मणिकन्दरः ।
   अत्रामराः साप्सरसस्त्रयस्त्रिंशद् वसन्ति ते ।। समराङ्गणसूत्रधारः 5.24
5. भुवनकोशविमर्शः पृ.130
6. निषधाचलनीलाद्रि माल्यवद्गन्धभूभृताम्।
   चतुर्णां मध्यगं वर्षं तुर्यमस्मिन्निलावृतम्।। समराङ्गणसूत्रधारः 5.31
7. भुवनकोशविमर्शः पृ.132
8. शब्दकल्पद्रुमः

इदं भद्राश्ववर्षं मेरोः पूर्वदिशि स्थितमस्ति[1]। नीलाचलनिषधाचलपर्वतयोर्मधयभागे माल्यवान् पर्वतस्य च पूर्वभागे समुद्रपर्यन्तं भूखण्डं भद्राश्ववर्षं कथ्यते[2]। आधुनिकैः वैज्ञानिकै अनुसारेण वर्षेऽस्मिन् पूर्व-एशियामहाद्वीपस्य भूभागाः समागच्छन्तीति[3]। पूर्वीएशियाभूखण्डे स्थित आधुनिकचीनदेशः इदमेव भद्राश्वर्षम् भवितुं शक्यते।

केतुमालवर्षम्

''जम्बूद्वीपस्य नवखण्डान्तर्गतखण्डविशेष'' इति शब्दकल्पद्रुमे[4]। गन्धमादनपर्वतस्य पश्चिमभागे समुद्रस्य च पूर्वभागे इदं **'केतुमालवर्षं'** विद्यते इति समराङ्गणसूत्रधारे वर्णितमस्ति[5]। इदमेववर्णनं **'भास्करीयगोलमीमांसायाम्'** अपि प्राप्यते[6]। मेरु-इलावृत्तयोः पश्चिमे **'केतुमालवर्षम्'** स्थितमस्ति। इलावृत्तकेतुमालवर्षयोः मधये विभाजकः गन्धमादनपर्वतो वर्तते। अस्मिन्नैव गन्ध मादनपर्वते कामदेवो वसतीति मन्यते। केतुमालवर्षस्योत्तरे **'नीलगिरिः'** पर्वतः पूर्वभागे च **'गन्धमादनपर्वतः'** दक्षिणे च **'निषधाचलपर्वतः'** पश्चिमपार्श्वे च महासागरो वर्तते।

रम्यकवर्षम्

इलावृत्तवर्षस्योत्तरे नीलशुक्लपर्वतयोर्मधये च **'रम्यकवर्षम्'** इत्यस्य स्थितिर्वर्तते[7]। वर्षमिदं नीलाचलपर्वतस्योत्तरदिशि श्वेताचलपर्वतस्य च दक्षिणदिशि स्थितमस्ति[8]। **'रम्यक-इलावृत्तवर्षयोः'** विभाजकः **'नीलाचलः'** पर्वतो वर्तते। श्रीमद्भागवतपुराणे उक्तञ्च - **'उत्तरोत्तरेणेलावृतं नीलः श्वेतः शृङ्गवानिति'**[9]।

हिरण्यमयवर्षम्

वर्षमिदं हैरण्यकनाम्नाऽपि ज्ञायते। शुक्लाचलश्रृङ्गाचलपर्वतयोर्मधये **'हिरण्यमयवर्षम्'** वर्तते[10]। इदं वर्षं सुमेरुपर्वतस्योत्तरदिशि स्थितमस्ति। वर्षस्यास्य पूर्वपश्चिमयोश्च उभयोः दिशोः क्षारसागरो विद्यते[11]।

---

1. भास्करीयगोलमीमांसा पृ.55
2. अन्तरा नीलनिषधौ प्राग्भागे माल्यवद्गिरेः ।
   भद्राश्वमष्टमं वर्षं प्राक्समुद्रान्तमीरितम् ।। समराङ्गणसूत्रधारः 5.35
3. भुवनकोशविमर्श पृ. 133
4. शब्दकल्पद्रुमः
5. गन्धमादनशैलस्य प्रत्यक् प्राक् चापराम्बुधेः ।
   नवमं वर्षमाचार्याः केतुमालं प्रचक्षते ।। समराङ्गणसूत्रधारः 5.36
6. भास्करीयगोलमीमांसा पृ.55
7. भास्करीयगोलमीमांसा पृ.55
8. उत्तरे नीलशैलस्य याम्ये च श्वेतभूभृतः ।
   पञ्चमं वर्षमत्यर्थरम्यं रम्यकसंज्ञितम् ।। समराङ्गणसूत्रधारः 5.32
9. उद्धृतं भुवनकोशविमर्शे पृ.133
10. श्वेतशृङ्गवतोः शैलराजयोरनयोरिह ।
    मध्ये षष्ठं हिरण्यांशुरम्यं हैरण्यकाह्वयम् ।। समराङ्गणसूत्रधारः 5.33
11. श्रीमद्भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन पृ.260-282 (उद्धृतं भुवनकोशविमर्शे)

उत्तरकुरुवर्षम्

उत्तरकुरुवर्षं कुरुवर्षनाम्नाऽपि ज्ञायते। वर्षमिदं जम्बूद्वीपस्योत्तरदिशि विद्यते। अनेन एवेदं उत्तरकुरुवर्षम् इति नाम्ना जानीते। याम्यदिशं विहाय अस्य वर्षं परितः सर्वत्र क्षारसागरो विद्यते[1]। समराङ्गणसूत्रधारे च वर्षस्यास्यस्थितिः **'शृङ्गाचल'** पर्वतस्योत्तरभागे **'क्षारसमुद्रस्य'** च दक्षिणभागे विद्यते[2]। श्रीमद्भागवतानुसारेण अत्रैव भगवान् विष्णुः वराहरूपेण निवसति स्म[3]। सम्प्रति एशियाप्रदेशस्य सौम्यभागः **'उत्तरकुरुवर्षं'** भवितुं शक्यते। श्री अलीमहोदयानुसारेण प्राच्यसाइबेरियानामकप्रदेश एवोत्तरकुरुवर्षमस्तीति[4]।

हरिवर्षम्

इलावृत्तवर्षस्य दक्षिणे निषधाचलहेमकूटपर्वतयोर्मध्ये **'हरिवर्षं'** विद्यते[5]। पौराणिकवर्णनानुसारं हेमकूटपर्वतस्योत्तरदिशि अयं प्रदेशः स्थितोऽस्ति। अत्र भगवतः नृसिंहरूपं निवसतीति श्रीमद्भागवतानुसारेण। केचन विद्वांसः हेमकूटपर्वतं **'लद्दाख-कैलाशपर्वतशृङ्खला'** इति स्वीकुर्वन्ति। पौराणिकवर्णनानुसारेणायं हिमालयस्योत्तरभागे निषध आधुनिक **'कुनलुन'** पर्वस्य च याम्यदिशि स्थितप्रदेशो वर्तते। अयं प्रदेशः चीनदेशस्य दक्षिणक्षेत्रं यावत् विस्तृतोऽस्ति। महाभारतकाले दिग्विजयार्थं पाण्डुपुत्र अर्जुन अस्मिन्नैव वर्षे गतवानासीत्[6]।

किन्नरवर्षम्

वर्षमिदं किम्पुरुषवर्षनाम्नाऽपि ज्ञायते। इदं **'किन्नरवर्षं'** हिमालयहेमकूटपर्वतयोर्मध्ये स्थितमस्ति[7]। अस्य वर्षस्य दक्षिणदिशायां **'हेमकूटपर्वत'** उत्तरे च **'हिमवान्'** पर्वतो वर्तते। अस्य प्राच्यप्रतीच्यदिशोः क्षारसमुद्रः स्थितोऽस्ति। अत्र रामभक्तः हनुमान् निवसति। हिमालयस्योत्तरभागे इदं **'किन्नरवर्षं'** विद्यते। वर्तमाने इदं **'किन्नरवर्षं'** लद्दाख-तिब्बतक्षेत्रमस्तीति मन्यते[8]।

भारतवर्षम्

जम्बूद्वीपस्य दक्षिणदिशि **'भारतवर्षं'** स्थितमस्ति। वर्षमिदं हिमालयस्य दक्षिणभागे

---

1. भास्करीयगोलमीमांसा पृ.56
2. अस्योत्तरे च याम्ये च क्षारवारिधेः ।
   कुरुवर्षाभिधं वर्षमुत्तरेण प्रचक्षते ।। समराङ्गणसूत्रधारः 5.34
3. श्रीमद्भागवतम् 5.16.8 । तत्रैव 5.18.34 (उद्धृतं भुवनकोशविमर्शे)
4. भुवनकोशविमर्शः पृ.134
5. अन्तरे हेमकूटस्य निषधस्य च भूभृतः।
   हरिवर्षमिति प्रोक्तं तृतीयं वर्षमुत्तमम् ।। समराङ्गणसूत्रधारः 5.30
6. भुवनकोशविमर्शः पृ.134
7. तुषारनिलयस्याद्रेर्हेमकूटाचलस्य च ।
   मध्ये किंपुरुषं नाम द्वितीयं वर्षमीरितम् ।। समराङ्गणसूत्रधारः 5.29
8. श्रीमद्भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन पृ. 260-282 (उद्धृतं भास्करीयगोलमीमांसायां पृ.56)

समुद्रपर्यन्तं धनुषाकृतिरिवास्ति[1]। भारतवर्षस्य उत्तरदिशं विहाय इमं परितः सर्वत्र क्षारसागरो वर्तते। अस्योत्तरभागे **'हिमवान्'** पर्वतो विद्यते। महाभारतानुसारं दुष्यन्तपुत्रस्य भरतस्य नाम्ना एवास्य वर्षस्य नाम **'भारतवर्षं'** बभूव[2]। पुराणेषु अस्य वर्षस्य नाम **'अजनाभवर्षम्'** अपि प्राप्यते[3]। कालान्तरे भरतस्य नाम्ना एवास्य वर्षस्य नाम **'भारतवर्षं'** बभूव। भारतवर्षस्य विवेचनं भास्कराचार्येण **'सिद्धान्तशिरोमणौ'** अपि विशदरूपेण कृतमस्ति। तत्र भारतस्य ऐन्द्रादीनां नवभागानां विवेचनं प्राप्यते तेषु नवभागेषु पर्वतानां स्थितिरपि प्रदर्शिता वर्तते[4]।

जम्बूद्वीपस्य प्रमुखाः नद्यः

श्रीमद्भागवतमहापुराणानुसारेण जम्बूद्वीपे प्रामुख्येण **'सीता चक्षुः भद्रा अलकनन्दा'** चेति चतस्रो नद्यः प्रसिद्धाः सन्ति। विष्णुपादोद्भवा **'गङ्गा'** ब्रह्मकमण्डलात् मेरौ पतिता। तत्र पतितायाः गङ्गायाः धारा चतसृषु दिक्षु विभाजिता बभूव। सा एव गङ्गा **'सीता'** नाम्ना पूर्वदिशि **'चक्षुः'** नाम्ना उत्तरस्यां दिशि **'भद्रा'** नाम्ना प्राच्यां दिशि **'अलकनन्दा'** नाम्ना च दक्षिणदिशि प्रसिद्धा अस्ति[5]। अस्मिन्सन्दर्भे विभिन्नानि मतमतान्तराणि अपि समुपलभ्यन्ते।

'गङ्गा' त्रिपथगा भूत्वा पूर्वदिशि **'सीता'** नाम्ना पूर्वसमुद्रपर्यन्तं प्रवहतीति। **'सीता'** मेरोः पूर्ववाहिनी धारा वर्तत इति। पौराणिकभौगोलिकसन्दर्भे वर्णनमस्ति[6]। अलीमहोदयस्य मते इयमेव **'सीता'** नदी सम्प्रति **'किजित्सुनदी'** वर्तते[7]। **'चक्षुः'** माल्यवान्केतुमालवर्षाभ्यां भ्रमन्ती प्राच्यां दिशि समुद्रपर्यन्तं प्रवहति[8]। **'भद्रा'** नदी **'भद्रशोभा'** नाम्नाऽपि प्रसिद्धाऽस्ति। इयं **'उत्तरकुरुवर्षं'** स्पृशवती उत्तरस्यां दिशि समुद्रपर्यन्तं प्रवहति[9]। **'अलकापुरी'** नगर्याः समीपे **'अलकनन्दा'** वहति। इयञ्च **'अलकनन्दा'** हेमकूटहिमालयपर्वताभ्यां भारतवर्षं प्रति प्रवाहिता अस्ति[10]।

---

1. हिमाचलस्य याम्येन क्षाराब्धिवृतमन्यतः। वर्षं स्याद् भारतं नाम प्रथमं कार्मुकाकृतिः ॥ समराङ्गणसूत्रधारम् 5.28
2. शकुन्तलायां दुष्यन्ताद् भरतश्चापि जज्ञिवान् ।
   यस्य लोके सुनाम्नेदं प्रथितं भारतं कुलम् ॥ महाभारतम् अ.प.74.131 (उद्धृतं भुवनकोशविमर्शे पृ.135)
3. अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यद् आरभ्य व्यपदिशन्ति । श्रीमद्भागवतम् 5.17.3 (उद्धृतं भास्करीयगोलमीमांसायाम्)
4. ऐन्द्रं कशेरुशकलं किल ताम्रपर्णमन्यद्गभस्तिमदतश्च कुमारिकाख्यम् ।
   नागं च सौम्यमिह वारुणमन्त्यखण्डं गान्धर्वसंज्ञमिति भारतवर्षमधये ॥
   वर्णव्यवस्थितिरिहैव कुमारिकाख्ये शेषेषु चान्त्यजजना निवसन्ति सर्वे ।
   माहेन्द्रशुक्तिमलयर्क्षकपारियात्राः सह्यः सविन्धय इह सप्त कुलाचलाख्याः ॥ सिद्धान्तशिरोमणिः गो.भु. 42
5. तत्र चतुर्धा विद्यमाना चतुर्भिर्नामभिश्चतुर्दिशमभिस्यदन्ती नदनदीपतिमेवाभिर्निविशति सीताऽलकनन्दाचक्षुर्भद्रेति । श्रीमद्भागवतम् 5.17.5 (उद्धृतं भास्करीयगोलमीमांसायाम् पृ.60)
6. पुराणपरिशीलनम् पृ.326
7. श्रीमद्भागवत् का सांस्कृतिक अधययन । गङ्गा प्रकरण (उद्धृतं भुवनकोशविमर्शे पृ.140)
8. पुराणपरिशीलनम् पृ.326
9. श्रीमद्भागवतम् 5.17.8 (उद्धृतं भास्करीयगोलमीमांसायाम् पृ.61)
10. श्रीमद्भागवतम् 5.19.18

जम्बूद्वीपस्य स्थितिः लङ्कादेशतः ध्रुवनिरक्षदेशात्ऋ उत्तरे 180^0 पर्यन्तं स्वीकृतमस्ति। अस्मिन् जम्बूद्वीपे भारतदेशस्य हिमवत्पर्वतस्य चावस्थितिः सम्प्रत्यपि प्राप्यते। अन्यदेशानां पर्वतानाञ्च यद्वर्णनं जम्बूद्वीपान्तर्गतं तत्र समुपलभ्यते तेषां कालप्रवाहवशात्सम्प्रतिस्थितिः सम्यग्रूपेण नावगम्यते। यतः पुराणादिषु यद्वर्णनं तत्तु न्यूनतमं 1500 वर्षपूर्वस्य अस्ति। सम्प्रति तेषां नामानि परिवर्तनानि अथवा भौगोलिकसंरचनायां किञ्चिदन्तरमपतत्। अनेन तत्रोक्ताः देशपर्वतादयः वस्तुतः समीचीनाः सन्ति न वेति यक्षप्रश्नः। किं ते भारतदेशीयाः आचार्याः केवलमेतेषां देशपर्वतनगरादीनां परिकल्पनां कृतवन्तः? अस्मिन् विषये किमपि स्पष्टरूपेण कोऽपि न वक्तुं प्रभवति। तत्रोक्तानां देशपर्वतादीनां वर्तमानेऽवस्थितिज्ञानार्थं अर्वाचीनाचार्याः प्रयत्नं कृतवन्तः परन्तु मतवैभिन्यात् परिकल्पनत्वाच्च स्पष्टरूपेण तेषां स्थितिः नाभिज्ञायते। अत्राश्चर्यजनकं यत् 'सप्तद्वीपा वसुन्धरेति' प्राचीनाचार्याणां यदभिमतमासीत्तत्तु किञ्चिद्भिन्नस्वरूपे सम्प्रत्यपि परिलक्ष्यते। नैके विद्वांसः सम्प्रति सप्तमहाद्वीपाः एशिया-यूरोप-अफ्रीका-आस्ट्रेलिया-उत्तरीअमेरिका-दक्षिणीअमेरिका-अंटार्कटिका इति स्वीकुर्वन्ति। अतः अद्यापि 'सप्तद्वीपा वसुन्धरेति'।

जयसिंहनिर्मापितस्य जयपुरनगरस्य वास्तुशास्त्रीयाध्ययनम्

डॉ. प्रवेशव्यासः
श्रीकृष्णचन्द्रशर्मा

भारतदेशे राजस्थानप्रदेशे च बहूनि प्राचीननगराणि वर्तन्ते। तत्र प्रत्येकं नगरं वास्तुशास्त्रदृष्ट्या विशिष्टमस्ति। एतादृशमेव नगरमेकं वर्तते जयपुरम्। नगरमिदं राजस्थानप्रदेशस्य राजधानीत्वेन विलसति। जयपुरनगरस्य स्थापनाकाले भारते केन्द्रीयसत्तायाः वशं पूर्णरूपेण सञ्जातमासीत्। अनेन राजनैतिकरिक्ततया सह सांस्कृतिकरिक्तताऽपि समुत्पन्ना। तां सांस्कृतिकरिक्ततां परिपूर्णाय आम्बेरनृपेण एतादृशी प्राक्कल्पना चिन्तिता येन सः सांस्कृतिकभूभागे सर्वोच्चस्थाने प्रतिष्ठापयितुं शक्नुयात्। आमेरराज्यस्य पूर्वीभागे जाटशासकानाम् अभ्युदयः आमेरप्रदेशाय चिन्ताप्रद आसीत्। यद्यपि मुगलसाम्राज्यान्तर्गतत्वेनैव जाटशासकाः सक्रिया आसन्। वकीलरिपोर्टानुसारं[1] राजारामसिंहप्रथमस्य काले जाटशासकाः आमेरराज्याय संकटप्रदाः सञ्जाता आसन्। अतः मुगलादेशानुसारं रामसिंहस्य पुत्रः विशनसिंहः 1688 तमे ईस्वीयवत्सरे जाटजनैः सह युद्धाय उद्यतः परन्तु पराजयम् अवाप्नोत्।[2] विशनसिंहस्य असामयिकमृत्योरनन्तरं सवाईजयसिंहः सिंहासनारुह्य जाटयुद्धाभियानद्वयमकरोत्। प्रथमाभियाने पराजितो भूत्वा 1722 तमे वत्सरे द्वितीयाभियाने विजयम् आप्नोत्।[3] विजयोपरान्तं जयसिंहः दिल्लीनगरं गत्वा वेधशाला विजयस्मृतित्वेन निर्मापयितुम् अचिन्तयत्। परन्तु अनेन कार्येण तस्य सन्तुष्टिः न जाता। अतः नगरनिर्माणाय तस्य मनसि विचारः स्फुटितः।

जदुनाथसरकारः जयपुरस्य इतिहासः इत्यस्मिन् पुस्तके प्रतिपादयति–धूनविजयोपरान्त जयसिंहः चत्वारि वर्षाणि यावत् गङ्गास्नान–बृजपरिक्रमा, दिल्लीनगरे वेधशालानिर्माणम्, आमेरराज्ये जयनिवासप्रासादनिर्माणे च व्यस्तो अभवत्।[4] यद्यपि जयपुरनिर्माणप्रक्रिया 1725 तमे ईस्वीयवत्सरेणैव प्रारम्भा। परन्तु अस्य विधिवत् शिलान्यासः 1727 तमे वत्सरे नवंबरमासस्य अष्टादशतमे दिनाङ्के 1784 तमे विक्रमसंवत्सरे पौषमासस्य कृष्णप्रतिपदायां[5] समभवत्।

---

1. केशोरायात् रामसिंहः 1687, राज.राज्य अभिलेखागारः बीकाणा, पृ.– 115।
2. तत्रैव।
3. भरतपुर अपटू 1826, जयपुर–1970, पृ. 26।
4. जदुनाथ सरकार, ए हिस्ट्री आफ जयपुर, पृ. 205।
5. करि असीम विनती करि देहा वेग वसाय। संवत सतरेसो सुनी चौरासी मन लाय।।
   पौषहि सुदि परिवा जहाँ वार सनीसरवरा। गिरधारी या शहर को जनम महा सुभवार।।
   गिरधारीभोजनसार दोहा 190–191।

जयनगरं (जयपुरं) देशस्य सांस्कृतिककेन्द्रनिर्माणाय जयसिंहेन ज्यामितिक-ज्योतिषीय-परम्पराणाम् अध्ययनं प्राप्य तस्याधारेण जयपुरनिर्माणाय योजना परिकल्पिता। यत्र चन्द्रपोल-सूर्यपोल-रामपोल-शिवपोल-किशनपोल-ध्रुवपोलानां निर्माणं जातम्, तस्मिन्नैव अनुपाते तोपखानाहुजूरी-तोपखानादेश-मोदीखाना-विश्वेश्वर-रामचन्द्रचौकडी-गङ्गपोल-सरहदचौ-कडी प्रभृतिषु जयनगरं विभाजितं जातम्। जनसामान्य-व्यापारिकवर्गयोः चन्द्रपोलवीथिविपणि-किशनपोलविपणि-गणगौरीविपणि-त्रिपोलियाविपणि-रामगंजविपणि-सिरहड्योढीविपणीनां निर्माणं कारितम्। अङ्कशास्त्रस्य प्रभावोऽपिदृग्गोचरो भवति नगरेऽस्मिन्। सप्तम-अङ्कस्य महत्ता भारतीयज्योतिषपरम्परानुरूपं जयनगरनिर्माणे दरीदृश्यते। यथा चन्द्रप्रासादः (सिटीपैलेस) सप्ततलीयो वर्तते। सुरक्षादृष्ट्या आमेरपार्श्वे जयगढनिर्माणम्, दक्षिणे हथरोई शिवगढ (मोतीडूंगरी) इत्यनयोः निर्माणं कारितम्। किपलिंगनामकः वैदेशिकः जयपुरम् ''आश्चर्यनगरम्'' इति निगदितवान्। अत्रस्थभवनानां समरूपतां सुन्दरतां च दृष्ट्वा सः सम्मोहितो जातः। ज्योतिषविद्याविशारदेन नृपतिजयसिंहेन निर्मापितं नगरमिदं तत्कालीनसमयस्य भारतीयनगरस्य उत्कृष्टमुदाहरणं वर्तते। अस्य नगरस्य स्थापनायां जयसिंहस्य प्रमुखपरामर्शदाता आसीत् विद्याधरभट्टाचार्यः। तस्य योगदानेन प्रसन्नो भूत्वा तं मन्त्रीपदे प्रतिष्ठापितवान् सवाईजयसिंहः।

नगरनियोजनं प्रति विद्याधरस्य रुचेः ज्ञानं कथमभवत्? अस्मिन् विषये एकः मनोरञ्जको दृष्टान्तः श्रूयते-कथ्यते वा यद् एकस्य राजप्रासादस्य निरीक्षणकाले महाराजाजयसिंहः प्रासादस्य सोपानमानचित्राय आदेशम् अयच्छत् अधिकारीभ्यः। किन्तु कोऽपि अधिकारी सुन्दर-श्रेष्ठमानचित्रं नारचयत्। तदा युवकः विद्याधरः अस्मै कार्याय कटिबद्धो जातः। तेन मोम इत्यनेन सुन्दरं वक्रयुक्तं सोपानमानचित्रं जयसिंहस्य पुरतः प्रदर्शितम्। इदं दृष्ट्वा जयसिंह अतिप्रसन्नो भूत्वा अस्य समुचितशिक्षाम् अकल्पयत्। कालान्तरे यदा जयसिंहः नगरनिर्माणाय चिन्तनमकरोत् तदा तेन निश्चितरूपेण विद्याधरस्य सहायतां स्वीकृतम्[1]। प्रौद्योगिकदृष्ट्या नगरमिदं सर्वाधिकं सुनियोजितं बहुसंरचनायुक्तं च वर्तते। नगरनियोजनसिद्धान्तं वर्तमानकाले जापान-अमरीकादेशस्थनगरेषु नियोजकाः स्थापत्यकलाविदः परिपालयन्ति परन्तु बृहत्संरचनासिद्धान्ताः प्रायः बृहद्भवनेषु एव दृश्यन्ते, परन्तु सम्पूर्णजयपुरनगरे सिद्धान्तस्य परिपालनं कृतं दृश्यते[2]।

जयपुरनगरनियोजनं शिल्पशास्त्रस्य प्राचीनसिद्धान्तोपरि कृतं वर्तते। अस्य नगरीयस्वरूपं निर्माणस्य मापकीयपद्धतिश्च वास्तुकलासिद्धान्ताधारितमस्ति। स्थापत्यविदामनुसारेण जयपुरं एकं स्मारकत्वेन वर्तते। नगरमिदं भारतीयनगरनियोजनस्य स्थापत्यकलायाश्च प्रतीकत्वेन अपि शोभते।[3]

---

1. राज. का सांस्कृतिक इतिहास, असीमकुमारराय, पृ.-41।
2. राज. का सांस्कृतिक इतिहास, असीमकुमारराय, पृ.-33।
3. ए हिस्ट्री अफ जयपुर, जदुनाथसरकार, पृ.- 207।

टिफेन्थैलर (जयसिंहकाले जयपुरागमनम्) महोदयानुसारं- नाहरगढ़पर्वतमालातः अस्य नगरस्य दृश्यम् अत्यन्तं मनोहरं प्रतीयते, नवीनं जयनगरमिदं निश्चितरूपेण भारतदेशस्य प्राचीननगरेषु सर्वाधिकं सुन्दरमस्ति। अस्य मुख्यराजमार्गः बहुविशालः वर्तते यत्र षड्-सप्तवाहनानि सुगमतया आवागमनं कर्तुं शक्नुवन्ति।[1]

विशपहैबरस्य (1824 तमे ईस्वीयवत्सरे जयपुरागमनम्) मतानुसारेण नगरस्य प्राचीरं क्रेमलिननगरवत्[2] वर्तते, अत्रागत्य एवं प्रतीयते यद् अहं मॉस्कोनगरे एवास्मि।

एकः फ्रांसीसी विद्वान् (1832 तमे जयपुरागमनम्) लिखति यद् अस्य मुख्यमार्गेएव मुख्यविपण्यः विद्यमानास्सन्ति। मुख्यमार्गमभितः प्रासाद-देवालय-आवासीयभवनानाम् अधस्थाः आपणास्सन्ति। मुख्यमार्गस्य मध्ये धान्यवणिकानां विशालापणाः विद्यन्ते। एते आपणाः अस्थायिरूपेण निर्मितास्सन्ति। दिल्लीनगरे एकमेव एतादृशं स्थलं वर्तते नाम चांदनी-चौक इति। परन्तु जयपुरे तु एतादृशं दृश्यं सम्पूर्णराजमार्गे दरीदृश्यते। अत्रस्थसामान्यजनानां भवनानि प्रस्तरनिर्मितानि सन्ति। परन्तु धनिकानां आवासे प्रस्तरोपरि श्वेतचूर्णलेपनं (पलस्तर) कृतमस्ति। देवालयाः श्वेतसंगमरमर इति प्रस्तरेण अलंकृताः दृग्गोचराः भवन्ति। अनेन प्रकारेण जयपुरस्य स्थापत्यकला परिष्कृतशैल्याः वर्तते।[3]

जयपुरनगरनिर्माणे समेषां शासकानां विशिष्टमवदानं वर्तते। जयपुरस्य विकासः त्रिभागेषु, प्रथमकालः 1727 तः 1799 ईस्वीयंयावत्, द्वितीयकालः 1800 तः 1835 ईस्वीयंयावत्, तृतीयकालश्च 1836 ईस्वीयवत्सरतः रामसिंहद्वितीयस्य शासनारम्भपर्यन्तमिति, विभक्तः कृतः विद्वद्भिः।[4] महाराजारामसिंहस्य योगदानमपि विशिष्टं वर्तते। यतोहि प्रारम्भिककाले नगरमिदं श्वेतवर्णेन लेपितमासीत्। परन्तु अनेन भूभृता सम्पूर्णनगरं पाटलवर्णेन लेपितं अकारयत्। पाटलवर्णचयनस्य बहुमताः प्रदर्शयन्ति विद्वांसः। प्रथममतानुसारं पाटलवर्ण उदितसूर्यस्य परिचायको वर्तते। यतोहि जयपुरराजवंशः आत्मानं सूर्यवंशी इति स्वीकरोति। अतः पाटलवर्णस्य नगरलेपने चयनं सञ्जातम्। अन्यमतानुसारं पाटलवर्णः राजपूतशौर्यस्य परिचायको वर्तते। केचन् स्वीकुर्वन्ति यद् अवलोकने सुन्दरताकारणात् पाटलवर्णः चितः। तदारभ्य जयपुरं पाटलनगरी इति नाम्ना प्रसिद्धिं लेभे। अनेन एव कारणेन अद्यापि जयपुरं पर्यटकान् आकर्षयति[5]।

जयपुरस्य राजा प्रजाश्च वैष्णवधर्मावलम्बिन आसन्। अतः वैष्णवमतसम्बन्धिताः

---

1. ए हिस्ट्री आफ जयपुर, जदुनाथसरकार, पृ.- 207।
2. रुसदेशे स्थितमिदं सुदृढ़प्राचीरै आवृत्तं वर्तते।
3. राज. का सांस्कृतिक इतिहास, रामपाण्डे, जयपुर-2000, पृ. 59।
4. A History of Jaipur, Asim Kumar Rai.
5. राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, रामपाण्डे पृ. 59-60।

देवालयाः बाहुल्येन दरीदृश्यन्ते जयपुरे। अत्र राधागोविन्ददेवमन्दिरं जयपुरस्य आराध्यदेवत्वेन वर्तते। शिवालयानां निर्माणमपि मध्ये मध्ये सञ्जातं येषु प्रमुखः ताडकेश्वरमहादेवः विराजते। नगरेऽस्मिन् जैन-मुस्लिम-ईसाईमतावलम्बिनामपि धार्मिकभवन-देवालयादयः सन्ति। यत्र टेऊँरामस्थलं धार्मिकास्थायाः जनकेन्द्रत्वेन वर्तते। उत्तरस्थः गढ़गणेशदेवालयः दक्षिणे मोतीडूंगरीविद्यमानस्थः विनायकदेवश्च अस्याः नगर्य्याः धार्मिकसौहार्दपरम्परायाः द्योतकत्वेन वर्तेते। अनेन साम्प्रदायिकसौहार्दभावेन जयपुरनगरं धार्मिकनगरत्वेन प्रसिद्धमस्ति। प्रारम्भकालादेव जयपुरं सुधीजनानाम् आश्रयस्थलत्वेन वर्तते। सवाईजयसिंहः महाराष्ट्र-कर्णाटक-तमिल-बंगादिप्रदेशेभ्यः विदुषः एकत्रीकृत्य तेभ्यः ब्रह्मपुरी इत्यस्मिन् स्थले वासव्यवस्थाम् अकल्पयत्। अत्रैव सम्राट्जगन्नाथ-पुण्डीरकयोः आवासभवनानि पर्यटकेभ्य औत्सुक्यं जनयन्ति। सम्पूर्णनगरं राजाधिकारीणां मार्गदर्शने निर्मितं जातं तेषु बहूनि भवनानि अद्वितीयानि निर्मितानि सन्ति। येषु पुण्डरीकभवन-नाथूलालभवन-नगरवणिष-भवनानि सुन्दराणि वर्तन्ते। भवन-देवालयान् अलंकारणाय भित्तिचित्रशैली प्रयुक्तास्ति। अनया शैल्या धार्मिकपरम्परा-रीति-सामाजिकजीवनप्रभृतीनां दर्शनं भवति। जीवशैल्या निष्पादिता वस्त्राभूषणकला जयपुरस्य परिचायिका वर्तते। यत्र विभिन्नप्रकारकाणां स्वर्ण-रजताभूषणानि जयपुरस्य धरोहरत्वेन वर्तन्ते। एवञ्च सांगानेर-बगरुनगरं वस्त्रनिर्माणकलायै बहुश्रुतमस्ति। जयपुरं सांस्कृतिकदृष्ट्या एकम् अद्भुतं नगरं वर्तते। अत्र आचरितेषु समेषु पर्वषु विशेषरूपेण गणगौर-तीजपर्वणि महत्वपूर्णे स्तः। **रानी पूजे राजा ने म्हें पूजा म्हारो सुहाग** एतादृशानि गीतानि तीजपर्वणि महिलाभिः गीयन्ते। इदं पर्व सम्पूर्णराजस्थाने सोल्लासेन आचर्यते। जयपुरे गणगौरपर्वणि गणगौरसवारीयात्रा बहुप्रसिद्धा वर्तते। महिलाः गणगौरप्रतिमां निर्मीय वस्त्राभूषणैरलङ्कृत्य पूजां कुर्वन्ति।[1]

जयपुरनगरस्य स्थापत्यकला अपि अद्वितीया वर्तते। राजप्रासादे निर्मिताः कूप-वापी-जलाशयादयः शिल्पदृष्ट्या महत्वपूर्णाः वर्तन्ते। एवञ्च मन्दिरस्थापत्यकला वास्तुकलां प्रतिपादयति। जयपुरस्थापत्य-कलायाः वैशिष्टयमिदं वर्तते यत् कलेयं राजपूतशैल्या सह मुगलशैली-कर्णाटकशैली-बंगालशैलिभिरपि प्रभाविता अस्ति। दिवङ्गतनृपाणां पुण्यस्मृतौ निर्मितगैटोरस्थस्य 'राजपरिवारछतरी' तत्कालीनसंस्कृतिं व्यञ्जयति। सवाईजयसिंहस्य राज्याभिषेकोपरान्तम् अत्र वैदिकयज्ञानामायोजनं प्रारम्भमभवत्। अमुना विंशतिवयसि एव वाजपेययज्ञः समायोजितः। ततः अश्वमेधादियज्ञानायोज्य राजधानीत्वेन नवनिर्मितां जयपुरनगरीं प्रतिष्ठापयामास। एतादृशैः बृहदायोजनैः जयपुरम् अपरा काशी इति नाम्ना प्रथितम्।

जयपुरनगरं निर्माणशैल्याधारे सृष्टेः नवखण्डानि इति सिद्धान्तोपरि नवभागेषु (नव चौकड़ी) विभक्तं वर्तते। नगरमिदं गुलाबीनगरी, भारतस्य पेरिस इति नाम्ना अपि विश्वप्रसिद्धं वर्तते। अस्य मुख्याधारो वर्तते जयनगरस्य सौन्दर्यपूर्णशिल्पम्। अस्य

1. रामपाण्डे, हिस्ट्री एण्ड ग्रोथ ऑफ टूरिज्म जयपुर 2004। पृ. 27

नगरनिर्माणस्य स्वप्नद्रष्टा महाराजसवाईजयसिंहः पं. विद्याधरभट्टाचार्यस्य साहाय्येन सुमुहूर्ते शिलान्यासम् अकरोत् येन जयनगरं कला-उद्योग-शिल्पादिक्षेत्रेषु प्रसिद्धं जातम्। जयपुरस्य नियोजनं विद्याधरेण वृत्ताकार-वर्गाकारयोः शिल्पसिद्धान्तयोराधारोपरि कृतम्। नगरस्यास्य निर्माणं पूर्वनियोजितमानचित्राधारेण सम्पादितम्। अनेन कारणेन भारतीय नगरेषु जयपुरस्य विशिष्टं स्थानं वर्तते।

नगरनियोजनम्-

जयपुरनगरस्य स्थापकस्य कछवाहाराजवंशस्य तत्कालीनमुगलशासकेन सह मधुरसम्बन्ध-कारणात् अस्य नगरस्य निर्माणे न किमपि काठिन्यम् अभवत्। महाराज जयसिंहेन देहली-मथुरा-उज्जैन-जयपुरादिनगरेषु वेधशालाः (जन्तर-मन्तर) निर्मापिताः। ततः अनेन आमेरनगरस्य सविधे नूतननगरनिर्माणाय प्रयासः कृतः यस्मिन् प्रत्येकं भवनानि पूर्णरूपेण वास्त्वनुरूपाणि स्युः, प्रत्येकं राजमार्गः व्यवस्थितः स्यादपि च प्रत्येकं गतिविधि-क्षेत्रं तस्य नाम्ना ख्यातं भवेदिति। एतादृशस्य प्राक्कल्पनायाः सङ्कल्पसिद्धिप्रयासः अस्य मन्त्रिपरिषदि कार्यरतेन विद्याधरेण कृतः। प्रायः इतः पूर्वं कस्यापि नगरस्य निर्माणं अनेन प्रकारेण पूर्वनिर्धारितनगरनियोजनाधारेण न दृश्यते। जयपुरस्य नगरनियोजने तत्कालीनचीनदेशस्थवोटोयानगर - इराकस्थबगदादनगरयोः वृत्ताकार-वर्गाकारपरिमितिजननिवासक्षेत्रयोः अनयोः द्वयोः सिद्धान्तयोरनुपालनं कृतम्। नगरस्य मध्यभागे राजप्रासाद-राजकार्यालयौ स्थापितौ। एका वृहत् सरसी उत्तरभागात् पूर्वभागाच्च अरावलीपर्वतमाला नगरमिदं सुरक्षितं करोति।

जयपुरस्य शिलान्यासः 1727 तमे ईस्वीयाब्दे नवम्बरमासस्य नवविंशत्तमे दिनाङ्के राजपंडितेन जगन्नाथेन कृतः। सर्वप्रथमराजभवनानां केन्द्रीयवृत्तस्य पश्चिमभागस्थलघुचतुष्पटी निर्मिता। ततः राजमार्गनिर्माणं वर्गाकारसिद्धान्ते कृतम्। उत्तरदिशा पर्वतमालाकारणात् सुरक्षादृष्ट्या अत्यन्तमहत्वपूर्णा आसीत्। अतः दुर्गस्य निर्माणम् अस्मिन् पर्वते सुनिश्चितं जातम्। जनावासाय सुरक्षितं उत्तर-पश्चिमस्थानं पूर्वभागे स्थानान्तरितं कृतं येन गलतातीर्थं नगरान्ते समाहितम्। नगरं समीकृत्य जयनिवासः तालकटोरास्थलं च निर्मितम्। पूर्वतः पश्चिमदिशं प्रति समागतः राजमार्गः नगरस्यास्य प्रमुखराजमार्ग अभवत्। पूर्वीभागस्य निर्माणं भूमिं समीकृत्य कृतम्। दक्षिणभागस्थप्राचीरात् तथा च प्रत्येकं स्थले सुरक्षाकेन्द्रकारणात् नगरमिदम् अत्यन्तं सुरक्षितं जातम्। नगरसुरक्षायाम् आमागढ-नाहरगढदुर्गयोः योगदानम् अत्यन्तं महत्वपूर्णं वर्तते, यस्य परीक्षणं मुगल-मराठाक्रमणकाले जातम्। नगरनिर्माणे धार्मिकस्थलानि यथास्थानं प्रतिष्ठाप्य सुरक्षितानि कृतानि। अद्यापि एतानि मन्दिराणि दृग्गोचराणि भवन्ति।

विद्याधरः वर्गाकारसिद्धान्तानुरूपं निर्माणकार्ये बृहद्राजमार्गस्य निवेशं विशिष्टतया अकरोत्। तेन इदं निश्चितं यत् नगरस्य उत्तर-दक्षिणभागापेक्षया पूर्वपश्चिमभाग अधिकः विस्तारयुक्तः स्यात्। नाहरगढ़दुर्गस्य अधोभागे 100 एकड़ परिमितः वनप्रदेश आसीत्। अतः

तत्सविधे एको बृहद्जलाशयः निर्मितः यः तालकटोरा इति नाम्ना प्रसिद्धो जातः।

स्थलमिदं सवाईजयसिंहाय अत्यन्तं प्रियमासीत्। अतः अस्य पार्श्वे एव वेधशालानिर्माण ाय तेन विचारितः। तालकटोरा समीपे एव जयनिवासः नामकः राजप्रासादः निर्मितः। तेन जयनिवासमिदं वृन्दावननगरात् समागतानां जयपुरनगरस्य आराध्यदेवानां गोविन्ददेवानां चरणाविन्देषु समर्पितम्।

गलताराजमार्गः नगरं पूर्वतः पश्चिमभागं प्रति योजयति। अस्य राजमार्गस्य द्वयोः स्थानयोः द्वारद्वयं निर्मापितम्। एते द्वारे सूर्यचन्द्रयोः प्रतीकत्वेन सूर्यपोलद्वारं चन्द्रपोलद्वारञ्च नाम्ना अभिधीयेते। अस्य मार्गस्य मध्यभागे एका नदी प्रवहति स्म। या नगरस्य सौन्दर्यं वर्धयति स्म।

विद्याधरः नगरस्यास्य रूपरेखा नववर्गसिद्धान्तोपरि प्रकल्पितवान्। प्रारम्भे आपणे अलिन्दोपरि टिननिर्मितछर्दिः आसीत्। परन्तु सरमिर्जाकाले तत्स्थाने प्रस्तरनिर्मितालिन्दाः निर्मिताः, येन जनानामावागमने पूर्णतः सौविध्यं जातम्।

मुख्यो राजमार्गः 108 फीटपरिमितो विस्तृतः, अन्यमार्गाणां विस्तारः क्रमशः 54, 26, 13, 6 फीटपरिमित आसीत्। राजमार्गम् अभितः निश्चितमानदण्डाधारितापणास्सन्ति। द्वयोः चतुर्मार्गयोः मध्ये एकषष्ट्यधिकशताधिकापणाः वर्तन्ते। मुख्यराजमार्गम् अभितः भवनानां विस्तारः राजमार्गविस्ताराद् अर्धभागादधिकं न स्वीकृतम्। अनेन प्रकारेण एतेषाम् आपणानां पृष्ठभागस्थभवनानां विस्तारः न्यूनः कृतः। येन प्रत्येकं भवनं समुचितं प्रकाशादिकं प्राप्नुयात्। भवनानां सम्मुखम् एतादृशं निर्मितं येन सूर्यप्रकाशः मुक्तवायुश्च निर्बाधतया समागच्छतः। नगरस्य चतुर्षु भागेषु बृहत्स्तम्भाः, लघुगवाक्षाश्च जयपुरनगरस्य सौन्दर्यं वर्धयन्ति।

तत्र बृहद्भवनानां निर्माणं परिवारसुरक्षायै कृतम्। प्रत्येकं वर्गाकृतिः (चौकडी) लघु-लघु चतुष्के विभक्तासीत्। प्रत्येकं चतुष्के प्रायः चतुश्शतानि गृहाणि आसन्। प्रत्येकं हर्म्ये देवालया आसन्। उत्तरभागस्य चौकडीसरहद इति नाम आसीत्, यत्तु सुमेरुपर्वतस्य प्रतीकत्वेन गृहीतम्। अस्मिन् भागे राजप्रासादानां शासकीयकार्यालयानां निर्माणं कृतम्। नगरस्य भिन्न-भिन्न स्थलानां नामानि चौकडीरामचन्द्रः, गगपोलः, तोपखाना हुजूरी, घाटद्वारम्, चौकडीविश्वेश्वरः, मोदीखाना, तोपखाना इत्यादीनि सन्ति। सुव्यवस्थिते जयपुरनगरे राजमार्गाणां बृहद्वीथीनां च अत्यन्तमहत्वपूर्णं स्थानं वर्तते। राजमार्गम् अभितः निर्मितविपणिभ्यः बहिः, पदातीनां कृते पदपथः(फुटपाथ) निर्मितः।

पर्वतमालया आच्छादितः चन्द्रप्रासादः नववर्गसिद्धान्ते मध्यवर्गे स्थितो वर्तते। अत्रस्थित चतुष्कालिन्द-उद्यान-जलस्रोतादीनि राजशाहीप्रासादवत् बादलप्रासादं यावत् क्षेत्रस्यास्य अप्रतिमसौन्दर्यं वर्धयन्ति। संगमरमरप्रस्तरनिर्मितं प्रागणं टाइल्सनिर्मितभित्ति-कारणाच्च प्रासादस्यास्य अपरनाम प्रीतमनिवासः वर्तते। पञ्चतलयुक्तस्य प्रासादस्यास्य प्रथमतलः सुखनिवासः, द्वितीयतलः रंगमन्दिरं, तृतीयतलः शोभानिवासः, चतुर्थतलः छविनिवासः, पञ्चमतलः मुकुटनिवास इति नामभिः प्रसिद्धः।

दीवानेखास-दीवानेआम-सिरहड्योढीभवनानि त्रिपोलियाप्रासादे आवागमनाय निर्मितानि। रसोवडा, तातारखाना, तोशाखाना, इत्यादीनि स्वस्वकार्यानुरूपं निर्मितानि। शस्त्रागार-कोषागारादयः महत्वपूर्णविभागाः प्रासादस्य विभागे निर्मापिताः।

शाहीवर्गाकारम् अभितः चौपडद्वयं वर्तते। पूर्वीभागे बृहद्चतुष्पटिका पश्चिमभागे लघुचतुष्पटिका च वर्तते। तयोः दैर्घ्यं विस्तारात् त्रिगुणं वर्तते। द्वयोः चतुष्पट्योः मध्ये अर्धमीलमिता दूरी वर्तते। अनेन प्रकारेण एताः चतुष्पट्यः जनानाम् आमोदप्रमोदाय मिलनस्थलानि वर्तन्ते। नगरस्थवीथीमभितः आपणाः जनेभ्यः लाभदायकाः सन्ति। विस्तृतः पदपथः आपणिक-जनानां च कृते सौविध्यप्रदायकः सिद्धः। पदपथानाम् अधोभागे जलनिकासव्यवस्था प्रकल्पिता येन वृष्टिकालेऽपि जनजीवनं सामान्यं भवेत्। आपणानाम् उपरि रिक्तस्थानात् जनता पर्वकाले तत्र परस्परं सम्मिल्यानन्दोत्सवमाचरन्ति । अनया व्यवस्थया लीकाबूजियर-लुईसकान्हमहोदयौ बहुप्रभावितौ आस्ताम्।

सवाईजयसिंहेन जन्तरमन्तरनामकवेधशाला निर्मापिता। अस्यां वेधशालायां जयप्रकाशयन्त्र-सम्राटयन्त्र-राशिवलयंन्त्र-रामयन्त्राणि खगोलशास्त्राध्ययने अत्यन्त-महत्वपूर्णानि सन्ति। वर्तमानकालेऽपि एतेषां यन्त्राणां प्रासंगिकता वर्तते। अनेन प्रकारेण जयपुरनगरं सवाईजयसिंहस्य काले पं. विद्याधरचक्रवर्तिना सम्यग्रूपेण सुप्रतिष्ठापितमिति।

सवाईजयसिंहः कुशाग्रबुद्धियुक्तः महाराज आसीत्। तस्य मुगलैः साकं मधुरसम्बन्धाः आसन्। येन जयपुरनगरनिर्माणं निर्विघ्नतया सुसम्पन्नमभवत्। जयसिंहः नगरनिर्माणाय नगरनियोजकं विद्याधरभट्टाचार्यं नियुक्तं कृतवान्। अनेन स्वप्रतिभया जयसिंहस्य कल्पनानुगुणं नगरनियोजनस्य प्रारूपं प्रस्तुतम्। नवखण्डेषु विभक्तं नगरमिदं वर्गाकारे वर्तते। नगरस्य वायव्यकोणे नाहरगढ इति नाम्ना पर्वतः वर्तते। नगरनियोजने वायव्यकोणस्थं वर्गमण्डलं एतस्मात् पर्वतात् खण्डितम् अभवत्। अतः तं मण्डलं परिपूर्त्यर्थं आग्नेय-कोणे वर्गमेकं वर्धयित्वा वास्तुशास्त्रसिद्धान्तस्य परिपालनं कृतं वास्तुविदा विद्याधरेण। यतोहि ईशानभागे अपि भौगोलिकदृष्ट्या स्थानम् अनुपलब्धमासीत्। नगरेऽस्मिन् राजमार्ग-निर्माणे वास्तुनियमानां परिपालनं कृतमस्ति। राजप्रासादोऽपि वास्तुशास्त्राधारितो दृश्यते। इत्थं प्रायः समेषां वास्तुनियमानामाधारेण जयसिंहनिर्मापितस्य नगरमिदं न केवलं भारते अपितु समस्तविश्वेऽपि नगरनियोजनसौन्दर्यात् च विशिष्टख्यातिम् अलभत्। यूनेस्को इति संस्थया 2019 तमे ईस्वीयवत्सरे जुलै मासस्य षड् दिनांके यूनेस्कोविश्वधरोहरसूची मध्ये अस्य नाम सम्मिलितं कृतम्। एतत् तु अस्माकं कृते गौरवाय वर्तते।

भारतीयवास्तुशास्त्रे भूमिपरीक्षणसिद्धान्ताः

डॉ. मृत्युञ्जयकुमारतिवारी

स्थापत्यवेद इति नाम्ना सुप्रसिद्धं वास्तुशास्त्रं तावत्प्राचीनं वर्तते यावद्भूम्युपरि मनुजानां सभ्यता विकसिता जाता। वास्तुविद्यायाः निदर्शनं तु वैदिककालादेव दृश्यते परन्तु तस्य सम्पूर्णं स्वरूपं वेदाङ्गेषु, पुराणेषु, आगमेषु च पल्लवितं परिपुष्टञ्च जातम्। वेदाङ्गेषु, ज्योतिषशास्त्रे कल्पशास्त्रे च वास्तुविद्यायाः वर्णनं मुख्यतया दरीदृश्यते। शुल्वसूत्रेषु प्रतिपादितं वेदीनिर्माण-विधिः भारतीयवास्तुविद्याया आधारशिला वर्तते। वास्तुशास्त्रे शास्त्रीयतायाः भौतिकतायाश्च सुविकसितं स्वरूपं प्राप्यते। तद्यथा राष्ट्रकविना लिख्यते यत्-

शैशवदशा मे देश प्रायः जिस समय सब व्याप्त थे।
निःशेष विषयों में तभी हम प्रौढता को प्राप्त थे।।
जब थे दिगम्बर रूप में वे जंङ्गलों में घूमते।
प्रासाद केतन पट हमारे चन्द्र को थे चूमते।।[1]

अस्मिन् संसारे सर्वे जनाः सुखशान्तिमिच्छन्ति। एतदर्थं प्रथमावश्यकता गृहस्य दृश्यते। गृहनिर्माणाय उत्तम स्थानं भवेत्, कारणं यत् गृहं तु अस्माकं समस्तपारिवारिकजनानां, मित्रादीनां, पशवादीनां, कुटुम्बादीनां कृते चाह्लाददायकं भवति -

स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदम्।
जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम्।।
वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते।
गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विबुधाः श्रीविश्वकर्मादयः।।[2]

एवमस्माकं समस्तशुभाशुभकर्माणि गृहं विना नैव सिद्ध्यन्ति, यथोक्तम्-

गृहस्थस्य क्रिया सर्वा न सिद्ध्यन्ति गृहं विना।[3]

एतदर्थं निवासार्थमुद्दिष्टस्य भूखण्डस्य गृहनिर्माणात् प्राक् यत्नेन परीक्षणं शास्त्ररीत्या एव करणीयम्। भूमिपरीक्षणे यथा तस्य स्थानस्य उर्वरत्वं, स्वास्थ्यं, प्राकृतिकं सौन्दर्यं, सर्वसौविध्ययुक्तत्वं तथा चानुकूलवातावरणं भवेदिति चिन्तनीयम्। भूमेः

---

1. भारत भारती
2. उद्धृतं बृ. वा. मा. 1.4
3. वास्तुरत्नावली 1.4

परीक्षणविषये वास्तुशास्त्रस्य मानक-ग्रन्थेषु प्राधान्येन समुल्लिखितं दृश्यते। भूपरीक्षणस्य विभागद्वयं वर्तते। तद्यथा-

1. भूस्थलपरीक्षणम्।

2. मृत्तिकापरीक्षणञ्च।

भूपरीक्षणस्य मुख्योद्देश्यन्तु भूमे औचित्यमनौचित्यविचारः। परीक्षणे वर्णः, गन्धः, दिङ्मुखता, ध्वनिः, स्पर्शास्वादनादीनां विस्तृतं ज्ञानं परमावश्यकम्। तद्वदेव स्थलमपि समतलं, शुभादिगभिमुखं, काठिन्यस्वरं, वामतो दक्षिणदिशां प्रति जलस्य प्रवाहयुतं, मृत्तिकायाः प्राचुर्ययुतं च भवेत्। अस्य विपरीतगुणयुता भूमि अधमा त्याज्या चेति विजानीयात्। मानसारानुसारं पूर्वाभिमुखी भूमि एव श्रेष्ठा। एवमेव मयमुनिमते नोर्वराभूमि एकवर्णी च प्रथिता। तद्यथा-

श्वेतासृक्पीतकृष्णा हयगजनिनदा षड्रसा चैकवर्णा।
गोधान्याम्भोजगन्धोपलतुषरहिता प्राक्प्रतीच्युन्नता च॥
पूर्वोदग्वारिसारा वरसुरभिसमा शूलहीनास्थिवर्ज्या।
सा भूमिः सर्वयोग्या कणदरहिता सम्मताद्यैः मुनीन्द्रैः॥[1]

यस्यां भूमौ ग्राम-नगर-पुर-पत्तन-दुर्ग-प्रासाद-भवन-देवालयादीनां निर्माणं करणीयं सा भूमिः प्रथमतया यत्नपूर्वकं परीक्षणीया। समराङ्गणसूत्रे मुख्यतया भूमि-देश-स्थानादिभेदाच्च भूमेः वर्गीकरणं प्रकारत्रयेणोक्तम्। तद्यथा -

1. जाङ्गलभूमिः
2. अनूपभूमिः
3. साधारणभूमिश्चेति।

यस्मिन् स्थाने जलस्याभावः तथा कण्टकादियुताः छायारहितवृक्षाः दृश्यन्ते, रुक्षोष्ण-प्रचण्डवायोः प्रवाहमनुभूयते, भूमिश्च कृष्णमृतिकायुता भवेत्तज्जाङ्गलभूमि इत्यभिधीयते। तथा च यत्र जलाधिक्यं भवेत्, सुरम्यवायुः प्रवहति, दीर्घकायवृक्षाः शोभन्ते, सा सरित्युता भूमि अनूपनाम्ना विज्ञायते। पूर्वोक्तयोरुभयोर्देशयोः सम्मिश्रितप्रकारः नातिशीतोष्णं च प्रदेशो भवेत्तत्तु साधारणमित्यभिधीयते।

समराङ्गणसूत्रादिषु वास्तुशास्त्रीयेषु ग्रन्थेषु आधुनिके युगे प्रचलितानुवंशाङ्गिकनिय-मानाधारीकृत्य भूपरीक्षणस्य पञ्चप्रकाराः उल्लिखिताः सन्ति। यथा-

1. गन्धः
2. वर्णः
3. आस्वादनम्
4. स्पर्शः

---

1. मयमतम् 3.20

5. शब्दः, ध्वनिर्वा।

गन्धः-

घृतगन्धाभूमिः विप्राणां कृते प्रशस्ता, एवमेव क्षत्रियाणां कृते रक्तगन्धा, वैश्याणां तु अन्नगन्धा, शूद्राणां कृते तु मद्यगन्धा निवासाय शुभा मन्यते। यथोक्तम् -

सुगन्धा ब्राह्मणी भूमि रक्तगन्धा तु क्षत्रिया।
मधुगन्धा भवेद्वैश्या मद्यगन्धा च शूद्रिका।।[1]

एवमेव कुङ्कुमस्य, अगरोः, कर्पूरस्य, एलस्य तथा चन्दनादीनाञ्च पृथक्पृथक् वा मिश्रितः वा गन्धः प्राप्यते चेदथवा कल्हारस्य, पाटलस्य, कमलपुष्पस्य, मालत्याः, चम्पादि-पुष्पाणां वा गन्धोऽथवा, गोमूत्रस्य, गोमयस्य, दध्नः, दुग्धस्य, मधोः, घृतस्य वा पूर्वोक्तानां चातुर्वर्णानां सदृशः सुगन्धो भवेच्चेत्तेषां फलमपि स्ववर्णसदृशं भविष्यति।

वर्णः -

चत्वारो वर्णाः भूमौ दृश्यते तद्यथा- श्वेतं, रक्तं, पीतं, कृष्णञ्च। चतुर्णां वर्णानां कृते श्वेतादिक्रमेण भूमिः प्रशस्ता ज्ञेया। भूमेः वर्णव्यवस्थायाः मुख्याधारः शुक्लादिवर्ण एव गण्यते। यथोक्तं वसिष्ठमुनिना-

श्वेता शस्ता द्विजेन्द्राणां रक्ता भूमिर्महीर्भुजाम्।
विशां पीता च शूद्राणां कृष्णान्येषां विमिश्रिता।।[2]

आस्वादनम् -

मधुरा भूमिः सर्वेषां वर्णानां कृते शुभप्रदा मन्यते। परम्परया चतुर्णां वर्णानां कृते रसाधारेणापि भूम्यावण्टनं क्रियते यथा- मधुरा भूमिः ब्राह्मणानां, कषाया च क्षत्रियाणां, अम्ला तु वैश्यानां तथा तिक्ता च शूद्राणाम् कृते शुभङ्करी वर्तते। कल्पद्रुमे यथोक्तम् -

मधुरा ब्राह्मणी भूमिः कषाया क्षत्रिया मता।
अम्ला भूमिर्भवेद्वैश्या तिक्ता शूद्रा प्रकीर्तिता।।[3]

स्पर्शः-

स्पर्शाधारेणापि भूमेः मृतामृतत्वं परीक्ष्यते विद्वद्भिः। यस्यां भूमौ वृक्षाः सम्यक् प्रवर्धन्ते सा जीविता भूमि इति कथ्यते। सा च निवासाय उपयुक्ता भवति एवञ्चास्य विपरीता भूमिः यत्र वृक्षादिकं न प्रवर्धन्ते सा मृता भूमि इति कथ्यते। सा च निवासाय अनुपयुक्ता। तद्यथा-

---

1. विश्वकर्मा प्रकाश 1.25
2. बृहद्वास्तुमाला 1.33
3. विश्वकर्मा प्रकाश 1.26

यत्र वृक्षा प्ररोहन्ति सस्यं हर्षात्प्रवर्द्धते।
सा भूमिर्जीविता वाच्या मृता चातोऽन्यथा भवेत्।।[1]

शब्दः –

वाद्ययन्त्राणां ध्वनिमाधारीकृत्यापि भूपरीक्षणं कुर्याद्यथा मृदङ्गस्य, वेणोः, वल्लक्याः, दुन्दुभेः, भेर्याः, गजस्य, तुरंङ्गस्य ध्वनिः निवासाय प्रशस्ता मन्यन्ते।

प्रकारान्तरेणाऽपि विभिन्नेषु शास्त्रेषु भूपरीक्षणविषये चर्चा वर्तते। तत्र अष्टासु दिक्षु प्लवादीनां विचारः विशेषरूपेण कथ्यते यथा–

श्रियं दाहं तथा मृत्युं धनहानि सुतक्षयम्।
प्रवासं धनलाभं च विद्यालाभं क्रमेण च।।[2]

सामान्यरूपेण पूर्वदिश आरभ्य क्रमेण फलादिकं श्लोकेऽस्मिन् कथितम्। एवमेव सामान्यतया दक्षिणदिशः प्लवमशुभं मन्यते। सर्वैः वास्तुविदैरेकमतेन पूर्व–ईशान–उत्तरदिक्–प्लवाभूमिः प्रशस्ता मन्यते। यथा वाल्मीकिरामायणे प्राप्यते–

प्रागदुक्प्रवणे देशे गुहा साधु भविष्यति।
पश्चाचैवोन्नता सौम्य निवातेयं भविष्यति।।[3]

सुग्रीवस्य राज्याभिषेकानन्तरं भगवता रामेण प्रस्त्रवणगिरिशिखरे स्वनिवासाय तत्र गुहाविषये लक्ष्मणं प्रति भणितम्–ईशानकोणतः निम्नं तथापि नैर्ऋत्यकोणतः उन्नतमस्ति एतदर्थं निवासाय उत्तमं भविष्यति। अस्य वैज्ञानिकं कारणं यदुदयकालीनस्य सूर्यस्य किरणाः प्रातः गृहे एव पतन्ति अनेन गृहे सर्वेषां जनानां नीरोगत्वं सदैव स्थीयते इत्यस्मात् कारणात् गृहे सर्वानन्दत्वं दृश्यते। पश्चिम–दक्षिणदिशोः भूप्लवत्वेऽस्य विपरीतं फलमनुभूयते इति शास्त्रसिद्धम्।

---

1. बृ. वा. मा. 1.101
2. वृहद्वास्तुमाला 1.35
3. वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा कांड 27.12

पुराणेषु वास्तुशास्त्रस्वरूपम्

कन्हैयाकुमारझा (शोधच्छात्रः)

प्रारम्भे तु पुराणन्तु एकमेवासीदिति वर्णनं मत्स्यपुराणे दृश्यते। यथा–

पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पान्तरेऽनघ।
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्।।[1]

अपि च अन्यान्यपि मतानि पुराणेषु यत्तानि वेदप्रतिपादकानि सन्ति। यथा– **पुरा नवं भवति पुराणम्।**[2] **जगतः प्रागवस्थाम् अनुक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्।**[3] **सर्ववेदार्थसाराणि पुराणानीति भूपते।**[4] **पुराणं पञ्चमो वेद इति ब्रह्मानुशासनम्। यो न वेद पुराणं हि न स वेदो हि किञ्चन।।**[5] **यस्मात् पुरा हि अनति इदं पुराणम्**[6] **यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः। न चेत्पुराणं संविधान्नैव स स्याद् विचक्षणः।।**[7] **पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदुर्बुधा**[8]**।।**

व्याकरणशास्त्रदृष्ट्या पुराणशब्दस्यार्थं पुरार्थात् पुरातनमिति भवति। यास्कस्य निरुक्तानुसारेण पुरा नवं भवति इति पुराणम्। अनेन वायुपुराणानुसारं पुरा अनति अर्थात् प्राचीनकाले यो जीवितमासीदिति। पद्मपुराणानुसारं पुरा परम्परां वष्टि कामयेत् अर्थात् यः परम्परायाः कामना करोतीति, ब्रह्माण्डपुराणानुसारं पुरा एतत् अभूत् अर्थात् प्राचीनकाले एतदभूदिति पुराणम्भवतीति। पणिनीयव्याकरणानुसारं पुराणशब्दः णीञ् प्रापणे धातोः 'ड' प्रत्ययेन 'टि' लोपेन णत्वेन च (पुरा+नी+ड)'पुराण' शब्दः निष्पन्नो भवति। अष्टादशपुराणानि सन्ति। यथा–

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्ट्यम्।
अनाप्लिङ्गकूस्कानि पुराणानि प्रचक्षते।।[9]

---

1. म.पु.अ.53श.–4
2. निरुक्ते 3/1/34)
3. सायण ए.ब्रा. भूमिका
4. ना.पु.1–9–100
5. स्कन्द.पु.बलदेव उपाध्याय इतिहास
6. वायु पु.1/102
7. वायु 1–1–100
8. म.पु.5/3/172
9. देवीभागवतम्–1/3/21

अनेन विवरणेन मत्स्य मार्कण्डेय-भविष्यभागवत-ब्रह्माण्डब्रह्मवैर्वतब्रह्म-वामनवाराहविष्णु-वायुरग्निनारदपद्मलिङ्गगरुडकूर्मस्कन्दपुराणान्येव महापुराणानि सन्ति। पुराणेषु प्रतिपाद्यविषयान् आश्रित्येव पुराणानामाचार्याः पञ्चलक्षणानि निर्दिशन्ति। यथा-

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥[1]

1. सर्गः सृष्ट्युत्पत्तिवर्णनम्। 2. प्रतिसर्गः प्रलयस्य सृष्टेश्च पुनरुद्भवः। 3. वंशदेवानामृषीणाञ्च वंशावल्याः वर्णनम्। 4. मन्वन्तराणि प्रत्येकं मनोः कालः तत्कालाधारितानाञ्च वृत्तीनां वर्णनम्। 5.वंशानुचरितम् सूर्यचन्द्रादिवंशजानां नृपाणां वृत्तात्मकं वर्णनम्। एकस्मिन् प्रसङ्गे वर्णनं मिलति यत् पुराणं मानवधर्मः साङ्गवेदः चिकित्सितञ्चेति चत्वारः ईश्वराज्ञया सिद्धाः सन्ति। यथा-

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्।
अज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः॥[2]

महाभारते वर्णनं मिलति यत् 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'[3] इति।

पुरा अपि नवं पुराणम् इति रीत्या प्राचीनविहितस्य क्रियाकलापस्य विविधपरिस्थितौ नवप्रयोगवर्णनपरकात् पुराणम् अद्वितीयम् इति निश्चप्रचम्। पुराणप्रवाचकः सूतः स्थापत्यस्य उत्कृष्टतमः विद्वान् आसीत्। अपि च विविधेषु पुराणेषु तत्तद्देवता प्रतिपादकत्वात् तेषां समेषां क्रियाकलापादीनां प्रतिपादनं भविष्यति।

प्रायः समेषु पुराणेषु स्थापत्यकलायाः वर्णनं लभ्यते। तेषु वास्तु-शिल्प-चित्रकलानां बहवः महत्त्वपूर्णबिन्दवः क्वचित् विस्तरात् कुत्रचिच्च सङ्केतमात्रेण गोचरीक्रियन्ते। एतेषु पुराणेषु वास्तुशास्त्रीयदृष्ट्या अत्यधिकं समृद्धं पुराणं मत्स्यपुराणं विद्यते। प्रसंगात् प्रथमं संक्षिप्तेन मत्स्यपुराणानुसारं वास्तुविषयकं विवेचनं करोमि।

मत्स्यपुराणम् -

मत्स्यपुराणे स्थापत्यविद्यायाः अत्यधिकं व्यवस्थितं स्वरूपं प्राप्यते। अत्र प्रायः अष्टादशसु अध्यायेषु वास्तुशास्त्रीयविषया अतिविस्तरेण गदितास्सन्ति। तत्र द्विपञ्चाशदुत्तरद्विशततमेऽध्याये (अध्यायः 252) सप्तत्युत्तराधिकद्विशततमे (270) अध्याये, 254, 255, 257, 258, 259, 270, 273 एवं 292 तमेऽध्याये वास्तुशास्त्रस्य चर्चा विद्यते। 'वास्तुभूतोद्भव'-नामके आदिमे (252 तमे) अध्याये वास्तुपुरुषस्य उत्पत्तिः, भूपरीक्षणम्, एकाशीतिवास्तु-पदविन्यासः इत्यादि विषयाः वर्णितास्सन्ति। 'गृहमाननिर्णय' इत्याख्येऽध्याये सर्वतोभद्र-नन्द्यावर्त-वर्द्धमा

1. शिव.पु. वा.सं. पूर्वभाग दृअ.1/41
2. महाभारत अनुसाशनपर्व।
3. महाभारत आदिपर्व।

नादिभवनानाम् उल्लेखोऽस्ति। 255 तमेऽध्याये रुचक-वज्र-द्विवज्र-प्रलीनक-वृत्तेतिपञ्चानां महास्तम्भानां वर्णनं वर्तते। प्रासादनिर्देशाख्ये मण्डपलक्षणाख्ये च अध्याये मन्दिरस्थापत्यस्य प्रासादस्थापत्यस्य च विस्तृतं वर्णनमस्ति। एतदतिरिच्य प्रतिमालक्षणमपि अतिसूक्ष्मतया विवे. चितमस्ति पुराणेऽस्मिन्।

अग्निपुराणम्

अग्निपुराणे वास्तुशास्त्रसम्बद्धाः बहब अध्यायाः वर्तन्ते। एतेषु नगरवास्तुनः, प्रासा. दवास्तुनः, प्रतिमावास्तुनश्च विशिष्टं वर्णनं प्रत्यक्षीक्रियते। पुराणेऽस्मिन् प्रतिमावास्तुकलाया अतिविशदतया उल्लेखोऽस्ति।

अग्निपुराणे वास्तुविषयाः

क्रमाङ्कः	**अध्यायः**	**वास्तुविषयाः**
1	24	कुण्डनिर्माणस्य वर्णनम्
2	38 तः 46	पर्यंतम् वास्तोः चर्चा
3	49 तः 55	पर्यन्तम् प्रतिमालक्षणवर्णनम्
4	62	देवीप्रतिष्ठाविधिः
5	66	सामान्यदेवप्रतिष्ठावर्णनम्
6	92 तः 106 पर्यन्तम्	देवप्रतिष्ठाविधितः शालाभेदनिरूपणं तावत्
7	122	कालस्य गणना
8	166	कुण्डप्रमाणविधिः
9	247	वास्तुलक्षणादिवर्णनम्
10	327	देवालयस्य माहात्म्यञ्च देवालयादीनां निर्माणस्यावशकता।

गरुडपुराणम्

गरुडपुराणेऽपि वास्तुविद्यासम्बन्धिविषयाणां बहुविस्तरेण विवरणमुपलभ्यते। अत्र त्रिविधानाम् आवासीय-सैन्य-देवालयानां विस्तारपूर्वकं चर्चा विहिताऽस्ति। अत्र पञ्चविधानां प्रासादानां वैराज-पुष्पक-कैलाश-मालिका-त्रिविष्टपानां विवरणञ्च प्राप्यते।

गरुडपुराणे वास्तुविषयाः

क्रमाङ्कः	**अध्यायः**	**वास्तुविषयाः**
1	45	प्रासादमूर्त्तिलक्षणनिरूपणम्।
2	46	प्रासाददुर्गदेवालयादीनां वास्तुमानानुसारेण लक्षणं निरूपणञ्च
3	47	प्रासादलिङ्गमण्डपादिशुभाशुभवर्णनम्
4	48	संक्षिप्तदेवप्रतिष्ठाविधिनिरुपणञ्च
5	9	यममन्दिरप्रवेशवर्णनम्

6	11	ऊर्ध्वाधोगतिज्ञापकोत्क्रमणद्वारनिरूपणम्
7	20	प्रेतानां स्वगृहमित्रगृहादिषु पीडोत्पादनम्

स्कन्दपुराणम् -

स्कन्दपुराणस्य विभिन्नेषु अध्यायेषु वास्तुशास्त्रीयाः विषयाः वर्णिताः सन्ति। तत्र वैष्णव-महेश्वरखण्डयोः कक्ष-मण्डपस्थानां निर्माणसम्बन्धिश्लोकाः वर्तन्ते।

स्कन्दपुराणान्तर्गत माहेश्वरखण्डान्तर्गतकौमारिकखण्डः

क्रमाङ्कः	अध्यायः	वास्तुविषयाः
1	6	विश्वकर्माद्वारा निर्मापिते महीनगरे स्थापनावर्णनम्
2	35	अथ महीसागरसंग्रामे देवानां प्रार्थनया जयस्तम्भं संस्थाप्य तदुपरि विश्वकर्मणा निर्मितस्य तृतीयस्य लिङ्गस्य स्तम्भेश्वरनाम्ना संस्थ. ापनं, कूपतीर्थनिर्माणं च।
3 माहेश्वरखण्डे तृतीये उत्तरार्द्धे	16	सरः खननपूर्वकं पुरनिर्माणपुर:सरारुणाचलेश्वरमन्दिरनिर्माणम्
4 वैष्णवखण्डः	7	विश्वकर्मकृतपुरालंकारादिक्रमः जगन्नाथक्षेत्रमाहात्म्यम्
5	16	इन्द्राद्युम्नाज्ञया देवशिल्पिनां देवालयनिर्माणम्। ततो नारदहस्तेन नरसिंहमूर्त्तिस्थापनम्
6	23	सतीन्द्रद्युम्नेन मयेन निर्मिते प्रासादे देवस्थापनम्
7	25	श्रुत्वेन द्युम्नन्नाज्ञया पद्मनिधिना स्वर्णशालानिर्माणम् नारदाज्ञया विश्वकर्मणा स्यन्दनत्रयनिर्माणम् तस्य रथस्य नारदेन स्थापनम्। तत्प्रसंगेन रथस्थापनविधिप्रकारवर्णनम्, रथध्वजे नृसिंहमूर्त्ति विधाय समन्त्रकां गरुडप्रार्थनां कृत्वा रथे भगवन्मूर्त्तिप्रतिष्ठापनवण र्णनम्।
8	28	देवताप्रतिष्ठासमयोच्चारितमंत्रस्तद्देवानां प्रत्यक्षदर्शनं स्वस्थान. ावस्थानं च वेदादीनामपि प्रत्यक्षमूर्त्तिभिरागमनम्
9 स्कन्दपुराणे तृतीये ब्रह्मखण्डे	37	फुलग्रामस्य क्षीरकुण्डमाहात्म्यवर्णनम् विश्वकर्मद्वारा मुद्गलाश्रमे विस्तीर्णकुण्डखननम्।
10 धर्मारण्यखण्डम्	32	धर्मारण्यस्य पुनः पूर्ववत्सत्यमंदिरनगरं स्थितिस्थापनम्
11	33	जीर्णोद्धारकार्यारम्भं विधाय विविधवहिशाला, गृहशाला, बह्मशालानां निर्मापनम्, दुर्गकुण्डप्रतोली धर्मवापीकूपप्रभृतिनगरो पयोगिव्यवस्था
12 काशीखण्डे	1	कुण्डमाहात्म्यसहितसांवदित्यमाहात्म्यकथनम्
13 षष्ठे नगरखण्डे	40	ब्रह्मणा पृथिव्यां शिलास्थापनम्
14	73	धृतराष्ट्रकृतप्रासादस्थापनादिवृतान्तवर्णनम्।
15	75	यज्ञभूमिमाहात्म्यवर्णनम्

16	105	प्रासादनिर्माणे राज्ञा प्रत्यनकरणम्। ततो भूमिखननसमये चतुर्वक्त्रलिङ्गदर्शनम्।
17	107	लिङ्गानां नवप्रासादं रचयित्वा स्थापनाकरणम्
18	160	पुष्पादित्यस्य मंदिरनिर्माणकरणम्
19	161	दुर्गोत्पत्तिवर्णनम्
20 प्रभासखण्डे	23	चन्द्रेण शिवदत्तं लिङ्गं गृहीत्वा विश्वकर्मणा लिङ्गस्थापनायज्ञकरणम् ततः स्वर्गलोकं गत्वा प्रभासं यज्ञकर्तुं। विश्वकर्मणा यज्ञशाला, पत्नीशालादिनिर्माणम् ततश्चन्द्रेण ब्रह्मादिभिः सह यज्ञकुण्ड-निर्माणम्

विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् -

वास्तुशास्त्रस्य विशदं वर्णनं विष्णुधर्मोत्तरपुराणेऽस्ति। तत्र प्रायः चत्वारिंशत्सु अध्यायेषु वास्तु-प्रतिमा-चित्रकलानां विषया वर्णिताः दृश्यन्ते। पुराणेऽस्मिन् भूचयनस्य, भूपरीक्षणस्य, वास्तुपुरुषस्य च लक्षणं द्वितीये खण्डे एकोनविंशेऽध्याये तथा तृतीये खण्डे त्रिनवतितमेऽध्याये विद्यते। तद्यथा-

गर्भे च कुसुमं यस्यां न म्लानम् उपगच्छति।
उदकं च तया यस्यां शीघ्रं राम न जीर्यते॥
न निर्वाणमाप्नोति यस्यां दीपश्च भार्गव।
सा प्रशस्ता क्षितिस्तस्यां निवेशं कारयेद् बुधः॥[1]

चतुःषष्टि-वास्तु-पदविन्यासः, भवनानां विभागादयः अध्यायेऽस्मिन्नेव वर्णिताः सन्ति। वृक्ष- उद्यानसम्बन्धिविषयाः पुराणेऽस्मिन् त्रिंशेऽध्याये विस्तरेण प्रतिपादिताः सन्ति। तृतीये खण्डे नवसु अध्यायेषु चित्रकलायाः अतिविशदतया वर्णनमस्ति। भित्तिचित्रनिर्माणविधयः प्रलेप-रचनाप्रभृत्युपायैः तेषां कलानां संरक्षणं चित्राणां सत्य-वैणिक-नगर-मिश्रेतिप्रकारचतुष्टयम्, चित्रालेखनस्य विविधपद्धतय इत्यादि नैके विषया अत्र समाहिताः सन्ति। तृतीये खण्ड एव प्रायः एकादशसु अध्यायेषु मन्दिरवास्तुनः प्रासादवास्तुनश्च अतिरम्यं चित्रणं वर्तते। शतविधानां देवप्रासादानां लक्षणादयः तेषां रचनाविधिः तदर्थं शिलाचयनविधिः वज्रचूर्ण-अवलेहनिर्माण विधिश्चेत्यादयो विषया वर्णितास्सन्ति।

विष्णुधर्मोत्तरपुराणस्य तृतीयः खण्डः

क्रमाङ्कः	**अध्यायः**	**वास्तुविषयाः**
1	2	प्रतिमास्वरूपस्य वर्णनम्
2	47	विष्णुप्रतिमानिर्माणस्य वर्णनम्
3	74	लिङ्गस्वरूपस्य वर्णनम्
4	87	चतुष्षष्टिदेवतायाः सामान्यप्रासादस्य लक्षणम्।

1. विष्णुधर्मोत्तरपु. खण्ड-2, अध्यायः 29/6-7

5	91	वर्णभेदानुसारेण प्रासादस्य इष्टिकायाः वर्णनम्।
6	93	नगरेषु प्रतिमायाः देवतायननिर्माणस्य भूमिचयनम्
7	95	वास्तुपुरुषस्य शल्याशल्यविचारः
8	97	प्रतिष्ठाविधिः
9	341	देवप्रासादस्य संस्कारः

ब्रह्मवैर्वतपुराणे वास्तोः वर्णनम्

क्रमाङ्कः	**अध्यायः**	**वास्तुविषयाः**
1	2	रत्नमण्डपम्।
2	3	कोपमन्दिरद्वारम्।
3	5	राधामन्दिरषोडशद्वाराणां वर्णनम्।
4	13	नन्दगृहगमनगर्गगृहगमनञ्च।
5	40	हिमाचलगृहमानम्
6	57	पददेवताजयदौवारिक-अभयदानवर्णनम्
7	70	कृष्णमूर्त्तिवर्णनम्
8	102	सान्दीपनिगृहगमनम्।
9	103	द्वारकानगराऽर्थं स्थलयाचनद्वारकानिर्मातुं विश्वकर्माणं प्रत्याज्ञा द्वारकापुरं किदृग्गुणविशिष्टं भवेदिति वर्णनम्, पुर प्रवेशस्य वर्णनम्
ब्रह्मवैवर्तपुराणे ब्रह्मखण्डे	10	शिल्पकारोत्पत्तिर्भूलोके विश्वकर्मणादिवर्णनम्

विष्णुपुराणम्

क्रमाङ्कः	**अध्यायः**	**वास्तुविषयाः**
1	6	दुर्गपुरखर्वटग्रामादिपृथिवीविभागकाराणम्
2	22	विश्वकर्मणा समुद्रे द्वारकानिर्माणम्

वाराहपुराणम्

क्रमाङ्कः	**अध्यायः**	**वास्तुविषयाः**
1	92	पुरनिर्माणम्
2	186	रौप्यप्रतिमास्थापनम्
3	196	धर्मराजपुरवर्णनम्, यमपुरप्रमाणे नानाविधसमृद्धिवर्णनम्

भविष्यपुराणम्

क्रमाङ्कः	**अध्यायः**	**वास्तुविषयाः**
1	131	सूर्यप्रतिमायाः निर्माणम् एवञ्च दारुपरीक्षणम्
2	132	सर्वदेवप्रतिमालक्षणवर्णनम्
3	133	प्रतिमाप्रतिष्ठाविधिवर्णनम्
4	134	प्रतिष्ठाकामोपयुक्तकालादिवर्णनम्
5	135	सर्वदेवप्रतिष्ठावर्णनम्
6 मध्यमपर्वे	12	प्रतिदेवताप्रतिमालक्षणम्
9	13	विविधकुण्डनिर्णयवर्णनम्
10	19	प्रतिष्ठाविधिवर्णनम्
11	20	गृहवास्तुदेवप्रतिष्ठार्चनवर्णनम्

अनेन प्रकारेण विविधपुराणेषु बहुधा वास्तुघटकविषयाः वर्णिताः सन्ति। सर्वेषां विषयाणां विवेचमत्र निबन्धे असम्भवम्। अत एव संक्षिप्तेन वास्तुविषयाः विवेचिताः।

वास्तुशास्त्रे द्वारविधानम्

मधुसूदन शर्मा

नमस्ते वास्तुपुरुष भूशय्याभिरतप्रभो।
मद्गृहे धनधान्यादि समृद्धिङ्कुरु सर्वदा।।

निवासार्थकाद् वस् इत्यस्माद्धातोः तुण् प्रत्यये कृते सति निष्पन्नोऽयं वास्तुशब्दः। यत्र मनुष्याः निवसन्ति च तस्य संज्ञा वास्तु इति। अस्य बहवो भेदास्सन्ति यथा-गृहं, देवालयः, ग्रामः, नगरम्, पुरम् इत्यादयः। अथवा वसन्ति प्राणिनो यत्र अनया व्युत्पत्या वास्तुशब्दस्य अर्थो भवति गृहम् अथवा गृहकरणयोग्य भूमिः। निरुक्तकारेण निरुक्तेखपि **वास्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः गृहकरणयोग्यभूमिः**[1] निर्वचनमिदं कृतम्।

शतपथश्रुतौ दर्शपूर्णमासेष्टौ स्विष्टकृद्यागप्रसङ्गेऽपि वास्तुशब्दस्य अर्थो भवति यज्ञशालाऽथवा भूमिः। तद्यथा - **यज्ञेन वै देवाः दिवमुपोदक्रामन्नथ योऽयं देवः पशूनामीष्टे स इहाहीयत तस्माद्वास्तव्य वास्तौ हि तदहीयत।**[2] मानवाय निवासाय च गृहनिर्माणमावश्यकं वर्तते यतोहि गृहा वै प्रतिष्ठा अनया श्रुत्या मानवीय प्रतिष्ठायाऽधारं गृहमेवोक्तम्। अतः प्रत्येकं मानवस्य स्वगृहं भवितव्यम्, यतोहि गृहं बिना न लभ्यते श्रौत. स्मार्तफलम् तदुक्तं बृहद्वास्तुमालायाम्-

गृहस्थस्य क्रियाः सर्वाः न सिद्धयन्ति गृहं बिना।
यतस्तस्माद् गृहारम्भ-प्रवेश समयौ ब्रुबे।।
परगेहे कृताः सर्वाः श्रौतस्मार्तक्रियाः शुभाः।
न सिद्धयन्ति यतस्तस्माद् भूमीशः फलमश्नुते।।[3]

गृहादिनिर्माणकार्येषु वास्तुशास्त्रीयदृष्टिकोणमावश्यकम् वर्तते यतोहि एतस्मात् सर्वदोषाणां निराकरणं भूत्वा शुभप्रवृत्तीनामागमनं वर्धानञ्च भवति। तदुक्तं वास्तुकल्पलतायाम्- **''प्रसादभवनोद्यानप्रारम्भे परिवर्तने। पुरवेश्मप्रवेशेषु सर्वदोषापनुत्तये।।''**[4]

अतः वास्तुशास्त्रानुसारेण भवननिर्माणार्थम् एतादृश्याः भूमेः चयनं करणीयं, या समदृढोच्चा च भवेत्, तत्र वृष्टिजलम् एकत्रितं न भवेत्, एतस्मिन् सन्दर्भे भूमौ पिपीलिका -

---

1. निरुक्ते - 10/2/9
2. शतपथश्रुतौ- 1/6/7/1
3. बृहद्वास्तुमालायाम्- 2/7
4. वास्तुकल्पलतायाम्- 6

सर्पाऽस्थिभस्मखर्परलोहादयः यदि प्राप्यन्ते तर्हि तत्र भवननिर्माणं नैव करणीयं, यतोहि एतानि वस्तूनि सङ्केतयन्ति यत् भूमिर्दृढा नास्ति। यत्र भूमिः दृढा भवति तत्र गुरुत्वाकर्षणशक्तेः प्रभावात् निर्मितं भवनमपि सुदृढं चिरञ्च भवति।

कात्यायनश्रौतसूत्रे यज्ञवेदिनिर्माणप्रसङ्गे स्पष्टनिर्देशोऽयं यत् यागशालामण्डपवेदि. निर्माणाय भूमिः दृढोच्चसमा भवेदिति। **''उच्चतमं समविभ्रंशि''**[1] एवमेव वेदाङ्गनिर्देशं वास्तुविद्यायां यथावत् गृह्यते। तदुक्तं बृहद्वास्तुमालायाम्–

पूर्वप्लवो वृद्धिकरो धनदश्चोत्तरप्लवः।
दक्षिण्यो मृत्युदो वास्तुर्द्धनहा पश्चिमप्लवः।।[2]

ततः परं जिज्ञासा जायते यत् भवने द्वारनिमाणं कुत्र, कदा, कति वा करणीयम्? अतः वास्तुशास्त्रानुसारेण मया द्वारनिर्माणविधानं क्रियते।

मुख्यद्वारस्थापनं भवनस्य कस्यां दिशि भवितव्यम् इति जिज्ञासायां वास्तुशास्त्रचार्याणां भिन्नं-भिन्नं मतमुपलभ्यते। तेषां मतानां वर्णनं मयाऽत्र क्रियते।

1. गृहेशराश्यनुसारेण द्वारदिग्विभागः–

कर्कवृश्चिकमीनराशीनाङ्कृते प्राच्यांदिशि, कन्यामकरमिथुनराशीनाङ्कृते दक्षिणस्यां दिशि, तुलाकुम्भवृषराशीनाङ्कृते प्राच्यां दिशि, मेषसिंहधनुषराशीनाङ्कृते उत्तरस्यां दिशि द्वारनिर्माणमुत्तमफलदायकं भवति। बृहद्दैवज्ञे तदुक्तम्–

पूर्वे ब्राह्मणराशीनां वैश्यानां दक्षिणे शुभम्।
शूद्राणां पश्चिमे द्वारं नृपाणामुत्तरे स्मृतम्।।[3]

गृहारम्भमासाधारेणद्वारम्–

कर्क (श्रावण), नक्र (मकर-माघ), सिंहकुम्भराशिस्थ सूर्ये यदि गृहारम्भो भवति चेत् पूर्वपश्चिमयोः मुखयोः द्वारयोः भवनं भवितव्यम्। तुलामेषवृषवृश्चिकराशिस्थ सूर्ये यदि गृहारम्भो भवेत् चेत् दक्षिणोत्तरयोः मुखं भवितव्यम्। अस्यापरविधिना कश्चन भवनद्वाररस्य निर्माणं कारयति चेत् महान् कष्टो भवति अर्थात् शारीरिकरोगशोकं धनादिनाशश्च भवति। तथा च मीनधनुमिथुनकन्याराशिस्थसूर्ये भवनद्वारनिर्माणं न भवति शुभम्।

फाल्गुनमासे कुम्भराशिस्थसूर्ये, श्रावणमासे कर्के सिंहराशिस्थसूर्ये, पौषमासे मकरराशिस्थसूर्ये गृहारम्भो भवति चेत् पूर्वाभिमुखं पश्चिमाभिमुखञ्च भवनस्य निर्माणमुत्तमम्, मार्गशीर्षे तुलावृश्चिकराशिस्थसूर्ये, वैशाखमासे वृषमेषराशिस्थसूर्ये दक्षिणाभिमुखं गृहं शुभदमिति। तदुक्तं रत्नमालायाम्–

---

1. का.श्रौ.सू. 7/1
2. बृहद्वास्तुमालायाम् 10/41
3. बृहद्दैवज्ञे - 86/354

कुम्भेऽर्के फाल्गुने मासि श्रावणे सिंह कर्कयोः।
पौषनक्रे गृहं कुर्यात् पूर्वपश्चिमदिङ्मुखम्॥
मार्गे तुलाऽलिगे भानौ वैशाखे वृषभाजयोः।
दक्षिणेदिङ्मुखं श्रेष्ठं मन्दिरं नेष्टमन्यथा॥[1]

गृहारम्भतिथ्याधारेण द्वारनिर्माणम्-

गृहारम्भस्य मुहूर्त्तः यदि पूर्णिमातिथित आरभ्य अष्टमीपर्यन्तं भवेत् चेत् भवनस्य मुख्यद्वारं प्राच्यां न निर्मातव्यम्। यदि कृष्णपक्षस्य नवमीतिथितः चतुर्दशीतिथिपर्यन्तं गृहारम्भो भवेत् चेत् उत्तरस्यां दिशि द्वारं न भवति शुभम्। अमावस्यातः शुक्लपक्षस्य अष्टमीपर्यन्तं गृहारम्भो भवति चेत् पश्चिमायां दिशि द्वार निर्माणं शुभं न भवति। पुनः शुक्लपक्षस्य नवमीतिथितः चतुर्दशी पर्यन्तं गृहारम्भो भवति चेत् दक्षिणस्यां दिशि द्वारो न भवति शुभम्। तदुक्तं वास्तुरत्नाकरे-

पूर्णिमातोऽष्टमीं यावत्पूर्वस्यां वर्जयेद्गृहम्।
उत्तरस्यां न कुर्वीत नवम्यादि चतुर्दशीम्॥
अमातश्चाष्टमीं यावत्पश्चिमास्यं विवर्जयेत्।
नवम्यादौ दक्षिणास्यं यावच्छुक्लचतुर्दशीम्॥[2]

द्वारस्थापने शुभनक्षत्रणि-

अश्विनी त्रिषूत्तरादिषु, स्वाती, रोहिणी एतानि नक्षत्राणि द्वारस्थापनाय शुभकारकाणि भवन्ति। तदुक्तं बृहद्वास्तुमालायाम्-

द्वारस्थापननक्षत्राण्युच्यन्तेऽश्विनि चोत्तराः।
स्वातौ पूष्णि च रोहिण्यां द्वारशाखावरोपणम्॥[3]

द्वारस्थापने वारविचारः-

गुरुमतानुसारेण ध्रुवनक्षत्रे शुभवारे स्थिरलग्ने शुभतिथौ च द्वारस्थापनं शुभं भवति। तेष्वपि मृगशिरा चित्र च कुलसम्पत्तिं वर्द्धयति, अपि चरे स्थिरे च नक्षत्रे बुधश्शुक्रवासरेश्च शुभतिथौ द्विस्वभावलग्ने द्वारं शुभं भवति। तदुक्तं बृहद्वास्तुमालायाम्-

ध्रुवभे शुभवारे च स्थिरे लग्ने शुभे दिने।
द्वारं स्थाप्यं मृगचित्रवर्गसम्पद्विवर्द्धनम्॥
चरे स्थिरे च नक्षत्रे बुधशुक्रदिने तिथौ।
शुभकपाटयोगः स्याद् द्विस्वभावोदये गृहे॥[4]

---

1. रत्नमालायाम् - 17/14-15
2. वास्तुरत्नाकरे 81/12/13
3. बृहद्वास्तुमालायां द्वारस्थापन विचारे-168
4. बृहद्वास्तुमालायाम् 173/174 पृ. 93

यदि एकद्वारस्योपरि द्वितीयं द्वारनिर्माणकर्तुमिच्छेत् चेत्तदा अधोद्वारस्यापेक्षया लघ्वाकारो निर्मातव्यः बृहदाकारो न। लघुबृहदाकाराणि यानि द्वाराणि भवन्ति तेषां शीर्षाणि एकसूत्रे उत्तमानि। द्वारमानं यदि प्रमाणापेक्षया अधिकं भवति तदा रोगं प्रददाति तथा च न्यूने सति धननाशो भवति। वास्तुमुखं गृहद्वारात्मकं तस्याङ्गभङ्गो यदि भवति चेत् तस्मिन् निवासकर्ता कदापि सुखं न प्राप्नोति।

निर्माणदृष्ट्या सौन्दर्यदृष्ट्या च प्रधानद्वारम् अन्यद्वारापेक्षया बृहद्-घट-पत्रं फलमित्यादि-माङ्गलिकैः चिन्हैः सज्जितं कार्यम्। शेषद्वाराणि सामान्यरूपेणैव भवितव्यानि। तदुक्तं बृहद्वास्तुमालायाम्-

मूलद्वारं नान्यैरभिसन्धीत रूपद्धर्या।
घटफलपत्रप्रमथादिभिश्च तन्मङ्गक्लैश्चिनुयात्॥[1]

द्वारप्रमाणम् -

भवनस्य हस्तात्मकं व्यासतुल्याङ्गुलीषु 50 अङ्गुलीनां योगकृते सति कनिष्ठद्वारस्य उच्चता, 50 अङ्गुलं संयोज्य मध्यमद्वारस्य उच्चता, तथा च 70 अङ्गुलं योजयित्वा उत्तमद्वारस्य उच्चता भवति। भवनदैर्घ्यस्य (13) त्रयोदशभागयुक्तदैर्घ्यार्धसमानोत्तमदीर्घता, दैर्घ्यस्य तृतीयांशन्यूनसमा मध्यमद्वारस्य दीर्घता, तथा च दैर्घ्यार्धतुल्यं निकृष्टद्वारस्य दीर्घमानं भवति। तदुक्तं वास्तुराजबल्लभे-

षष्ट्या वाऽथ शतार्धसप्तति युतैर्व्यासस्य हस्ताङ्गुलै-
र्द्वारस्योदयको भवेच्च भवने मध्यं कनिष्ठोत्तमौ।
दैर्घ्यार्धोन च विस्तरः शशिकलाभागोधिकः शस्यते
दैर्घ्यात्त्रयंशविहीनमर्धरहितं मध्यं कनिष्ठं क्रमात्॥[2]

तावदङ्गुल्यद्वारस्य दीर्घता अपि च द्वारस्य दीर्घतां द्विगुणी कृत्य द्वारस्योच्चता करणीया। यदि भवने एकमेव द्वारं भवेत् तर्हि पूर्वदिशि निर्माणमुत्तमं भवति। ब्रह्मा-भूतेन-जैनानां मन्दिरेषु चतुर्षु दिक्षु द्वारनिर्माणं श्रेष्ठं भवति। यदि भवने द्वारद्वयं निर्माणं कर्तुमिच्छति चेत्तर्हि पूर्वपश्चिमाभ्यां सहैव द्वार निर्माणं यदि द्वारत्रयमिच्छेत्तदा दक्षिणे द्वारं न करणीयम्। तदुक्तं वास्तुरत्नाकरे -

एकं द्वारं प्राङ्मुखं शोभनं स्याच्चातुर्वक्त्रं धातृभूतेषजैने।
युग्मं प्राच्यां पश्चिमेऽथ त्रिकेषु मूलद्वारं दक्षिणे वर्जनीयम्॥[3]

यस्मिन् भवने बहूनि द्वाराणि भवन्ति तस्मिन् भवने द्वारप्रमाणं नावश्यकम्। मुख्यगृहं विहाय अन्येषु गृहेष्वपि द्वारप्रमाणं नावश्यकम्।

---

1. बृहद्वास्तुमालायाम् 94/159
2. वास्तुराजवल्लभे 5/13
3. वास्तुरत्नाकरे 91/49

बहुद्वारेष्वलिन्देषु न द्वारनियमः स्मृतः।
तथोपसदने जीर्णे द्वारे सन्धारणेखपि च।।[1]

द्वारदोषः-

वास्तुशास्त्रे द्वारसम्बन्धीनां प्रमुखदोषानामुल्लेखो प्राप्यते। यथा-

1. गृहस्वामिनः राशिः, वर्णोऽथवा ध्वजाद्याधारेण निर्धारितेषु दिक्षु न द्वारस्थापना।
2. निर्धारितगृहपार्श्वेष्वपि तस्य पार्श्वस्य निर्दिष्टभागे द्वारस्थापना न भवेत्।
3. द्वारस्य दीर्घोच्चता वास्तुशास्त्रसम्मता न भवेत्।
4. द्वारस्योपरि अथवा पार्श्ववर्ती भागे वक्रतादि भवेत्।
5. द्वारस्य स्वयमेव उद्घाटनं पिधानं वा भवेत्।
6. द्वारस्योद्घाटनसमये पिधानसमये वा शब्दो यदि भवेत्।
7. द्वारस्योपरि द्वारं तथा च द्वारस्यपुरतः द्वारं भवेत्।
8. भवनस्य द्वयोः पार्श्वयोः सन्धिस्थाने द्वारं भवेत्।
9. भित्तेः मध्यभागे द्वारं भवेत्।
10. भवनस्य शिरा मर्मस्थाने वा द्वारं भवेत्।
11. द्वारस्याग्रे वेधकारकः पदार्थो यदि भवेत्।

विविधद्वारदोषाणां विशेषफलम् -

द्वारस्योद्घाटनं यदि स्वयमेव भवति तदा स्वामी उन्मादरोगेन पीड़ितो भवति। स्वयमेव पिधानं भवति चेत् गृहस्वामिनः कुलनाशो भवति, शास्त्रोक्तप्रमाणेन यदि दीर्घाकारो भवति तस्मात् राजभयम्, तथा च न्यूने सति चोरभयं शारीरिककष्टमपि भवति। प्रमाणेन स्थूलाधिक्ये सति बुभुक्षा भयकारकश्च भवति। द्वारशाखायां वक्रतादोषश्चेत् कुलनाशो भवति। तथा च गूलरकाष्ठेन निर्मितं द्वारं गृहस्वामिनः कृते कष्टदातृ भवति। गृहमन्ते द्वारे प्रवृत्तिः यदा भवति तदा गृहस्वामी मृत्युतुल्यकष्टं प्राप्नोति। गृहात् बहिः प्रवृत्तिश्चेत् गृहपतये प्रवासाधिक्यो भवति। यथोक्तम् -

स्वयमपि च कपाटोद्घाटनं वा पिधानं भयदमधिकहीनं शाखयोर्वा विचाले।
पुरुषयुवतिनाशं स्तम्भशाखाविहीनं भयदमखिलकाष्ठाग्रं यदाधाः स्थितं स्यात्।।[2]

उपर्युक्तेन शास्त्रोक्तप्रकारेण यदि भवने द्वारनिर्माणं क्रियते तर्हि भवनवासिनः नीरोगतां, निर्भयतां, निरापदां, सुरक्षां, सन्तुष्टिं, समृद्धिं, सबलतां, सर्वविधसफलताञ्च प्राप्नुवन्तीति।

---

1. वास्तुरत्नाकरे 91/50
2. वास्तुराजवल्लभे 5/29

वास्तुशास्त्रदृष्ट्या द्वारस्थापनविचारः

विजयप्रसादरतूड़ी

अस्मिन् संसारे सर्वे प्राणिनः सुखस्य कृते तत्पराः सन्ति परन्तु सुखस्य प्राप्तिः कथं भवेदित्यर्थं प्राचीनकालादेव महर्षयो मनीषिणश्च नैकानां मार्गाणां दिग्दर्शनं कृतवन्तः। अत एव गृहादिनिर्माणे यो विधिः वास्तुशास्त्रे अस्ति तमनुसृत्य एव गृहनिर्माणे गृहद्वारस्य ज्ञानम् करणीयम्। यस्मिन् स्थाने देवाः मानवाश्च निवासं कुर्वन्ति सः वास्तु इति नाम्नः ज्ञेयम्। वास्तुशास्त्रस्य चत्वारो भेदाः सन्ति प्रथमं भूमिः द्वितीयं प्रासादः, तृतीयं यानं तथा चतुर्थं शयनञ्च।

भूमि प्रासादयानानि शयनं च चतुर्विधम्।
भूरेव मुख्यवस्तु स्यात्तत्र जातानि यानि हि॥
प्रासादादीनि वास्तूनि वस्तुत्वाद् वस्तुसंश्रयात्।
वस्तून्येव हि तान्येव प्रोक्तान्यस्मिन् पुरातनैः॥[1]

एषु च प्रधानवस्तु भूमिः वर्तते। सम्पूर्ण संसारे सर्वे पदार्थाः अस्याः एव उत्पन्नाः जाताः। प्रासादादयः प्रधानवास्तु भवति। अत एव सर्वेषां पदार्थानाम् उत्पत्तिः स्थानं रत्नगर्भा भूमिरस्ति। एवं च आश्रिताः अपि भवन्ति। अतः ते सर्वे वास्तुरूपेण परिलक्षितं भवति। वास्तुशास्त्रस्याभिप्रायः निवासोपयुक्तं स्थानं भवति। वैदिकवाङ्मये वास्तुशब्दस्याऽर्थः गृहं, भवनं इति नाम्नः ज्ञायते। अयं शब्दः ''वस्'' निवासे धातुना सह 'तुण्' प्रत्ययेन निष्पन्नो भवति यत्र निवासो भवति तदेव वास्तुः 'वसन्ति प्राणिनो यत्र'। वस्तुतः ''वास्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः'' सः वास्तु 'वस्' धातौ 'वसेस्तुन वसेर्णिच्च' इत्यनयोः सूत्रयोः निष्पद्यते। अस्या अनेकभेदाः सन्ति। यथा गृहम्, ग्रामः, देवालयः पुरादयश्च। ऋग्वेदे एकस्मिन् मन्त्रे वास्तुदेवतां 'वास्तोष्पतिं' प्रार्थयन् ऋषिः निगदति यत् हे वास्तोष्पते। अस्मान् प्रति जानीहि वयं सर्वे जनाः नीरोगिणः भवन्तु। यद् धनं वयं याचामहे तद् अस्मभ्यं ददातु द्विपदे चतुष्पदे च कल्याणकारी भव –

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्वावेशो अनमीवोभवा नः।
यत् त्वेमहे प्रतितन्नो जुषस्व शं नो भवद्विपदे शं चतुष्पदे॥[2]
अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन्। सखा सुशेव एधि नः॥[3]

---

1. मयमतम् अ.2 श्लो. 2–3
2. ऋग्वेदसंहिता– (7/54/1)
3. ऋग्वेदसंहिता– (7/55/1)

वास्तुशास्त्रे गृहद्वारमेव गृहस्यप्रमुखमङ्गमस्ति। मानवदेहे यथा नासिकामुखयोः स्थानं भवति तथैव गृहे द्वारस्य स्थानं भवति। गृहे यदि कश्चिद्दोषः भवति तदा तस्य दोषस्य प्रभावः सन्तत्युपरि पतति। अत एव वास्तुशास्त्रस्य विविधग्रन्थेषु गृहद्वारस्य एकं निश्चितं मानं भवति। गृहनिर्माणे बहूनां विषयाणां विचारः क्रियते। वास्तुशास्त्रानुसारेण गृहनिर्माणात् पूर्वं भूखण्डस्य परीक्षणं, भूखण्डोपरि दिक्शोधनस्य ज्ञानञ्च करणीयम्। तत्पश्चात् स्वेच्छानुसारेण वास्तुशास्त्रमाध्यमेन च भवनानां निर्माणं तथा गृहे द्वारस्य विचारः कर्तव्यः। गृहनिर्माणकाले दिग्ज्ञानमावश्यकमस्ति। दिग्ज्ञानं विना भूखण्डस्य तथा गृहद्वारस्य सम्यक् स्थितिः ज्ञातुं न शक्यते। वास्तुशास्त्रमाध्यमेन गृहद्वारं निवासकर्तृणाम् उन्नतेः द्वारमपि भवति। अत एव द्वारस्थापने वास्तुशास्त्रस्य विधिः प्रयुक्तः करणीयः। द्वारस्यायामो विस्तारश्च कीदृशः स्यात्? कस्यां दिशि गृहद्वारं शुभदं भवतीत्यपि विचारणीयम्। भवनस्य यस्यां दिशि द्वारनिर्माणं क्रियते तदा तस्यां दिशि भवनस्य यद् दैर्घ्यमानं भवति, तं नवधा विभज्य पञ्चभागं दक्षिणे भागे तत्पश्चात् भागत्रयं वामभागे विहाय शेषभागे द्वारनिर्माणं करणीयम्। भाद्रपदमासात् त्रयस्त्रयो मासाः पूर्वादिक्रमेण यस्यां दिशि वास्तुपुरुषस्य मुखं भवेत्, तस्याम् एव दिशि गृहद्वारं शुभं भवति।

त्रिषु-त्रिषु च मासेषु नभस्यादिषु वै क्रमात्।
यद् दिङ्मुखो वास्तुनरः तन्मुखं सदनं शुभम्।।[1]

वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु गृहस्य मुख्यद्वारस्थापने राशिविचारः क्रियते। गृहपतेः राश्यनुसारेण द्वारस्य निर्धारणं करणीयम्। ब्राह्मणवर्णराशीनां कृते पूर्वद्वारं शुभं भवति। क्षत्रियवर्णराशीनां कृते उत्तरदिशि द्वारं शुभकारकं भवति। वैश्यानां कृते दक्षिणाभिमुखं, शूद्राणां च कृते पश्चिमद्वारं शुभफलदायकं भवति।

पूर्वे ब्राह्मणराशीनां वैश्यानां दक्षिणं शुभम्।
शूद्राणां पश्चिमे द्वारं नृपाणामुत्तरे मतम्।।[2]

कन्याराशितः त्रिषु त्रिषु राशिषु सूर्ये पूर्वादिदिक्षु द्वारनिर्माणं न करणीयम्-

राशयः	**अशुभद्वारदिशा**
कन्या-तुला-वृश्चिकाः	पूर्वस्याम्
धनुः, मकरः, कुम्भः	दक्षिणस्याम्
मीनः, मेषः, वृषः	पश्चिमस्याम्
मिथुन-कर्क-सिंहाः	उत्तरस्याम्

1. विश्वकर्मप्रकाश अ.-7, श्लो.-2, पृ. 196
2. बृहद्वास्तुमाला- श्लो-149, पृ. 102

सिंहस्य सूर्ये सति पश्चिमद्वारनिर्माणम् अशुभं भवति। तुलायाः सूर्ये उत्तराभिमुखं द्वारमशुभं भवति। कर्कराशिगते सूर्ये पूर्वद्वारं, पश्चिमद्वारं च अशुभम्। कर्क-सिंहयोः सूर्ये सति पूर्वद्वारमशुभं भवति। तुला-वृश्चिकराशिगते सूर्ये सति पश्चिमदिङ्मुखं द्वारं सर्वथा त्याज्यम्। अन्यासु दिक्ष्वेव द्वारस्य निर्माणं करणीयम्। कर्कसिंहयो सूर्ये दक्षिणदिङ्मुखं द्वारं शुभं न भवति। मकरकुम्भयोः सूर्ये उत्तराभिमुखं द्वारम् अशुभं भवति। मिथुन-कन्या-धनु-मीनराशिषु सूर्ये द्वारस्य निर्माणं सर्वथा त्याज्यम् -

सिंहे तु पश्चिमद्वारं तुलायां चोत्तरं तथा
कर्कटे पूर्व दिग्द्वारं द्वारं पश्चिमवर्जितम्
कर्कटेऽर्के च सिंहस्थे पूर्वद्वारं न शोभनम्
तुलायां वृश्चिके चैव द्वारं पश्चिमवर्जितम्
कर्कटेऽर्के च सिंहस्थे याम्द्वारं न शोभनम्
सूर्ये मकर-कुम्भस्थे सौम्यद्वारं च निन्दितम्
नृयुक् कन्या-धनुर्मीन-संस्थितेऽर्के न कारयेत्
द्वारस्तम्भो तथा दारु संचयं च विवर्जयेत्।।[1]

वर्णानुसारं द्वारस्थापनम् -

आचार्यैः वर्णानां विभागः विप्रादीनां चतुर्षु वर्णेषु कृतः। तत्र ब्राह्मणानां पश्चिममुखं द्वारं, क्षत्रियाणामुत्तरमुखं द्वारं, वैश्यानां पूर्वमुखं, शूद्राणां च दक्षिणमुखं द्वारं शुभं भवति -

प्रत्यङ्मुखं ब्राह्मणानां, क्षत्रियाणां तथोत्तरे
वैश्यानां पूर्वदिग्द्वारं, शूद्राणां दक्षिणे शुभम्।।[2]

वर्णः	**शुभद्वारम्**
ब्राह्मणानाम्	पश्चिममुखम्
क्षत्रियाणाम्	उत्तरमुखम्
वैश्यानाम्	पूर्वमुखम्
शूद्राणाम्	दक्षिणमुखम्

राश्यनुसारं द्वारस्थापनम्-

गृहस्य मुख्यद्वारस्थापने राशिविचारः क्रियते। यथा मेष-सिंह-धनुराशीनां द्वारं उत्तरदिशि, वृष-तुला-कुम्भराशीनां द्वारं पश्चिमदिशि मिथुन-कन्या-मकरराशीनां द्वारं दक्षिणदिशि, कर्क-वृश्चिक-मीनराशीनां द्वारं पूर्वदिशि शुभफलकारकं भवति।

कर्कटो वृश्चिको मीनो ब्राह्मणः परिकीर्तितः।
मेष सिंहो धनुर्धारी राशयः क्षत्रिया स्मृताः।।

1. वि.क.प्र.-अ.-7 श्लो. 8-10, पृ. 197
2. वि.क.प्र.-अ.-7, श्लो.- 13, पृ. 198

वैश्या मृगवृषो कन्या शूद्राः शेषाः प्रकीर्तिताः।
वर्णक्रमेण पूर्वा दिग्, दक्षिणे पश्चिम तथा॥
यो यस्य राशेर्मर्त्यस्य तस्य द्वारं ततश्चरेत्।
दिशि तत् विपरीतं तु कर्तुर्नेष्टफलं भवेत्॥[1]

राशयः	**वर्णाः**	**द्वारदिक्**
मीन-कर्क-वृश्चिकाः	विप्राणाम्	पूर्वदिशि
मेषः-सिंह-धनुराशयः	क्षत्रियाणाम्	दक्षिणदिशि
वृषः-कन्या-मकराः	वैश्यानाम्	पश्चिमदिशि
मिथुन-तुला-कुम्भाः	शूद्राणाम्	उत्तरदिशि

यदि चन्द्रो धनु-मेष-सिंहराशिषु भवेत् तदा पूर्वस्यां दिशि द्वाररस्य मुखं करणीयम्। यदि च चन्द्रो मकर-वृष-कन्याराशिषु स्यात् तदा दक्षिणमुखद्वारं शुभं भवति। यदि कुम्भ-मिथुन-तुलाराशिषु चन्द्रो भवेत् तदा पश्चिमदिग्द्वारं शुभं भवति, मीन-कर्क-वृश्चिकराशिषु चन्द्रमा भवेत् तदा उदीच्यां दिशि द्वारं शुभं भवति।

धनुर्मेषसिंहे यदा राशिनाथस्तदा पूर्वभागे न्यसेद् द्वारमात्रम्।
मृगकन्यकागोषु द्वारं च याम्ये तुलायुग्मकुम्भे तथा पश्चिमास्यम्॥[2]

आयानुसारेण द्वारदिग्विचारः

आयसाधनमपि वास्तुशास्त्रस्य मूलाधारेषु अन्यतमं वर्तते। सर्वप्रथमं कस्यापि भवनस्य निर्माणात् पूर्वं पिण्डसाधनं भवति। तत्पश्चात् निर्मितस्य भवनस्यापि आयसाधनं भवति। भवनस्य दीर्घविस्तारयोः गुणनफलमष्टभिः विभज्य शेषवशाद् आयः ज्ञायते। शेषसंख्यानुसारमेव ध्वजादिक्रमेण आयानां ज्ञानं करणीयम्। तदनन्तरम् मुख्यद्वारस्य दिक्निर्धारणं कर्तव्यम्।

गृहस्य कृते सिंहगजध्वजवृषायाः शुभदायकाः भवन्ति। गजायप्रमाणेन निर्मितगृहे दक्षिणपूर्वदिशोः द्वारमुत्तमं भवति। तथा ध्वजायप्रमाणेन निर्मितगृहे दक्षिणदिशि द्वारं शुभकारकं भवति परन्तु वृषायप्रमाणेन निर्मितगृहे दक्षिणदिशि द्वारम् अशुभं भवति।

चन्द्रनक्षत्रवशाद्-द्वारस्थापनम्-

विश्वकर्मप्रकाशग्रन्थे उक्तं यत् कृतिकातः आश्लेषापर्यन्तं सप्त नक्षत्राणि पूर्वस्यां दिशि। मघातो विशाखानक्षत्रपर्यन्तं सप्तनक्षत्राणि दक्षिणस्याम्, अनुराधानक्षत्रात् श्रवणं यावत् सप्त नक्षत्राणि प्रतीच्याम्, धनिष्ठातो भरणीपर्यन्तम् सप्तनक्षत्राणि उत्तरस्यां दिशि स्थापयेत्।

---

1. वि.क.प्र.-अ.-7, श्लो.- 14-16, पृ. 198
2. वि.क.प्र.-अ.-7, श्लो.- 17, पृ. 198

चन्द्रः यस्मिन् दिङ्नक्षत्रे स्यात्तद्दिग्द्वारे द्वारस्थापनं प्रशस्यते।

कृतिकाद्यं सप्त पूर्वे मघाद्यं सप्त दक्षिणे।
मैत्राद्यं पश्चिमे ज्ञेयं धनिष्ठाद्यं सप्तोत्तरे॥
यद् दिग्भसंस्थिते चन्द्रे तद् दिग्द्वारं प्रशस्यते।
पृष्ठ-दक्षिण-वामस्थे न विदध्यात्कदाचनः॥[1]

मासानुसारेण द्वारदिग्विचारः

कस्मिन्मासे द्वारस्य स्थापनं भवेदिति विषये भणितमस्ति यत् - फाल्गुनमासे कुम्भेऽर्के, श्रावणे कर्केऽर्के सिंहस्थे च सूर्ये, पौषमासे मकरराशिगतेऽर्के च पूर्वमुखं द्वारं पश्चिममुखद्वारञ्च शुभं भवति। वैशाखमासे मेषवृषयोः सूर्ये सति तथा मार्गशीर्षमासे तुलावृश्चिकयोर्गते सूर्ये दक्षिणोत्तरमुखं द्वारं शुभं भवति।[2] त्रिषु-त्रिषु, मासेषु क्रमेण पूर्व-दक्षिण-पश्चिमोत्तर-दिक्षु राहोर्वासो भवति। तदा तस्यां दिशि मासे द्वारस्य निर्माणं न करणीयम्। द्वारनिर्माणेन अग्निभयं तथा स्तम्भनिर्माणेन च वंशनाशो भवति।

मासाः	**राहुवासदिशा**	**द्वारनिर्माणम्**
मार्गशीर्षः, पौषः, माघः	पूर्वदिशि	अशुभम्
फाल्गुनः, चैत्र, वैशाखः	दक्षिणस्याम्	अशुभम्
ज्येष्ठः, आषाढः, श्रावणः	प्रतीच्याम्	अशुभम्
भाद्रपदः, आश्विनः, कार्तिकः	उदीच्याम्	अशुभम्

त्रिषु त्रिषु च मासेषु मार्गशीर्षादिषु क्रमात्।
पूर्वदक्षिणतोयेश - पौलस्त्याशां क्रमादगुः॥

तद्दिशायां न कर्त्तव्यं द्वारं स्तम्भनिवेशनम्।
द्वारे वह्निभयं प्रोक्तं स्तम्भे वंशविनाशनम्॥[3]
कर्किनक्रहरिकुम्भगतेऽर्के पूर्वपश्चिममुखानि गृहाणि।
तौलि मेषवृषवृश्चिकयाते, दक्षिणोत्तरमुखानि च कुर्यात्॥[4]

नक्षत्रद्वारचक्रम्

द्वारस्थापनाय नक्षत्रद्वारचक्रस्य ज्ञानं करणीयम्। यथा-सूर्यनक्षत्राच्चत्वारि नक्षत्राणि द्वारस्योपरि स्थापयेत्। ततो द्वे-द्वे नक्षत्रे चतुर्षु कोणेषु, चतुष्कं शाखयोः, ततश्च त्रीणि नक्षत्राणि देहल्यां स्थापयेत्। तत् पश्चात् चत्वारि नक्षत्राणि द्वारमध्ये स्थापयेत्। यदि द्वारस्थापनदिवसस्य चन्द्रनक्षत्रं मस्तकस्य नक्षत्रेषु आगच्छति तस्मिन् स्थाने द्वारनिर्माणं

1. वि.क.प्र.-अ.-7, श्लो.- 19-20, पृ. 199
2. रत्नमाला 17/14
3. वि. क. प्र. 7/23-24
4. रत्नमालायां-अ.-17, श्लो. 14

क्रियते तदा राज्यसुखं प्राप्नोति। कोणस्य नक्षत्रेषु द्वारनिर्माणेन उच्चाटनम्, शाखानक्षत्रेषु द्वारनिर्माणेन लक्ष्मीः प्राप्यते। तथा देहल्यां नक्षत्रेषु द्वारनिर्माणेन सुखप्राप्तिः भवति।

द्वारचक्रं प्रवक्ष्यामि यथोक्तं ब्राह्मणा पुरा
सूर्यभाद् चतुष्कं तु द्वारस्योपरि विन्यसेत्
द्वे-द्वे कोणे प्रदातव्यं शाखायुग्मे चतुष्ककम्
अधश्च त्रीणि देयानि वेदा मध्ये प्रतिष्ठिताः
राज्य स्यादूर्ध्वनक्षत्रे कोणेषूद्वासनं भवेत्
शाखायां लभते लक्ष्मीं ध्वजे चैव मृतिर्भवेत्
मध्यस्थेषु भवेतसौख्यं चिन्तनीयं सदा बुधैः
द्वारचक्रमिदं प्रोक्तं द्वारनिर्माण हेतवे।।[1]

द्वारचक्रम्

सूर्यभान्नक्षत्राणि	1-4	5-12	13-20	21-23	24-27
द्वारे स्थानम्	मस्तके	कोणेषु	शाखयोः	देहल्याम्	मध्यभागे
फलम्	राज्यप्रदम्	उद्वासनम्	लक्ष्मीः	मृत्युः	सौख्यम्

तिथिवशाद् द्वारविचारः-

गृहनिर्माणार्थं पूर्णिमातः कृष्णपक्षस्याष्टमीतिथिपर्यन्तं पूर्वस्यां दिशि द्वारं, कृष्णपक्षस्य नवमीतिथितः चतुर्दशीतिथिं यावदुत्तरदिशि द्वारम्, अमावस्यातः शुक्लपक्षस्याष्टमीतिथिं यावत् पश्चिमदिशि द्वारं तथा शुक्लनवमीतिथितः चतुर्दशीतिथिं यावत् दक्षिणदिशि द्वारम् अशुभं भवति।

पूर्णेन्दुतः प्राग्वदनं नवम्यादिषूत्तरास्यं त्वथ पश्चिमास्यम्।
दर्शादितः शुक्लदले नवम्यादौ दक्षिणास्यं न शुभं वदन्ति।।[2]

द्वारस्थापनकाले यदि पञ्चमी तिथिः स्यात् तदा धनलाभः, एवमेव सप्तमी-अष्टमी-नवमी च तिथयः शुभफलप्रदाः भवन्ति। प्रतिपदातिथौ यदि द्वारस्थापनं क्रियते तदा अशुभं फलं भवति। तृतीयायां तिथौ रोगोत्पत्तिः, चतुर्थ्यां तिथौ खण्डयति। षष्ठ्यां तिथौ कुलनाशः। तथा दशम्यां तिथौ द्वारस्थापने धनहानिः भवति। अमावस्यां तिथौ परस्परं विरोधो भवति।

प्रतिपत्सु न कर्तव्यं कृते दुःखमवाप्नुयात्,
तृतीया रोगदा ज्ञेया चतुर्थी भंगकारिणी।
कुलक्षयं तथा षष्ठी दशमी धननाशिनी,
विरोधकृत्वमावस्या नास्यां शाखावरोपणम्।।[3]

1. वि.क.प्र. अ.-7, श्लो. 31-34, पृ. 202
2. मुहूर्तचिन्तामणि-वास्तुप्रकरण, श्लो-17
3. वि.क.प्र.-अ. 72, श्लो. 36-38

तिथिः	प्रतिपदा	द्वितीया	तृतीया	चतुर्थी	पञ्चमी	षष्ठी	सप्तमी	अष्टमी
फलम्	दुःखम्	द्रव्यहानिः	रोगः	कार्यभंङ्गः	धनम्	कुलक्षयः	शुभम्	शुभम्
तिथिः	नवमी	दशमी	एकादशी	द्वादशी	त्रयोदशी	चतुर्दशी	पूर्णिमा	अमावस्या
फलम्	शुभम्	धननाशः	शुभम्	शुभम्	शुभम्	अशुभम्	शुभम्	विरोधः

वास्तुपदानुसारेण द्वारनिर्णयः

द्वारस्थापनाय एकाशीतिपदवास्तुमण्डले, चतुष्षष्टिः पदवास्तुमण्डले च पञ्चचत्वारिंशद्देवानां विचारः अवश्यमेव करणीयः। 81 पदवास्तुमण्डले, 64 पदवास्तुमण्डले वा स्थितदेवानां गुणधर्मितानुसारेण द्वारस्थापनं क्रियते। अस्मिन् विषये मतमस्ति यद् भूखण्डस्य नवभागं कृत्वा तदनन्तरम् दक्षिणहस्ते पञ्चभागं, वामहस्ते त्रिभागं च विहाय द्वारस्थापनं शुभफलदायकं भवति। वास्तुपदविन्यासानुसारं भल्लाटकुबेरचरकभूधरपदेषु ब्राह्मणानां कृते द्वारं शुभं भवति। गृहक्षत महेन्द्रसूर्यसत्यार्यमापदेषु क्षत्रियाणां कृते, यमवैवस्वतगन्धर्वगृहक्षतपदेषु वैश्यानां कृते, वरुणपुष्पदन्तमैत्रनैर्ऋत्यपदेषु शूद्राणां कृते द्वारं शुभं भवति।

भल्लाटे धनदे यद्वा चरके पृथिवीधरे।
ब्राह्मणस्य भवेत् वेश्म माहेन्द्रद्वारमुत्तमम्॥
माहेन्द्रेऽर्केऽथ सत्ये वा आर्यके वा निकेतनम्।
कार्यं गृहक्षतद्वारं क्षत्रियस्य शुभावहम्॥
याम्ये वैवस्वते वापि गान्धर्वेऽथ गृहक्षते।
वैश्यस्य भवनं कार्ये द्वारं पुष्पाह्वये शुभम्॥
वारुणे पौष्पदन्ते वा यद्वा मैत्रेऽथवासुर।
शूद्रस्यसदनं कार्यं भल्लाटद्वारमुत्तमम्॥[1]

अस्मिन्सन्दर्भे बृहत्संहितायां निगदितमस्ति-

नवगुणसूत्रविभक्तन्यष्टगुणेनाथवा चतुः षष्टेः।
द्वाराणियानि तेषामनलादीनां फलोपन्तयः॥
अनिलभयं स्त्रीजन्मप्रभूतधनता नरेन्द्रवाल्लभ्यम्।
क्रोधाधिकत्वमनृतं क्रोधं चौर्यं क्रमात्पूर्वे॥
अल्पसुतत्वं प्रैष्यं नीचत्वं भक्ष्यपानसुत वृद्धिः।
रोद्रं कृतघ्नमधनं सुतवीर्यघ्नं च याम्येन॥

1. समराङ्गणसूत्रधारः-अ.- 39, श्लो. 2-5

सुतपीडा रिपुवृद्धिर्न सुतधनाप्तिः सुतार्थफलसम्पत्।
धनसम्पत्तिनृपतिभयं धनक्षयो रोग इत्यपरे।
वधबन्धो रिपुवृद्धिः सुतधनलाभः समस्तगुणसम्पत्।
पुत्रधनाप्तिर्वैरं सुतेन दोषाः स्त्रिया नैः स्वम्॥[1]

एकाशीतिपदवास्तुनरः

ई द्वारम् (पू) आ

	शिखी	पर्जन्यः	जयन्तः	इन्द्रः	सूर्यः	सत्यः	भृशः	अन्त-रिक्षः	अनिलः	
	दितिः	आपः	जयन्तः	इन्द्रः	सूर्यः	सत्यः	भृशः	सावित्रः	पूषा	
	अदितिः	अदितिः	आप-वत्सः	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	सविता	वितथः	वितथः	
	भुजगः	भुजगः	पृथिवी-धरः	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विव-श्वान्	बृहक्षतः	बृहक्षतः	
(उ)	सोमः	सोमः	पृथिवी-धरः	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विव-श्वान्	यमः	यमः	(द)
	भल्लाटः	भल्लाटः	पृथिवी-धरः	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विव-श्वान्	गन्धर्वः	गन्धर्वः	
	मुख्यः	मुख्यः	राज-यक्ष्मा	मित्रः	मित्रः	मित्रः	इन्द्रः	भृङ्गराज	भृङ्गराज	
	नागः	रुद्रः	शोषः	असुर	वरुणः	कसुमु-दन्तः	सुग्रीव	भृङ्गराज	मृगः	
	रोगः	पाप-यक्ष्मा	शोषः	असुर	वरुणः	कसुमु-दन्तः	सुग्रीव	दौवा-रिकः	पिता	

वा (प) द्वारम् नै

द्वारनिर्माणे शुभनक्षत्रम्

द्वारनिर्माणकाले अश्विनी-उत्तरात्रय-हस्त-पुष्य-श्रवण-मृगशिरा-रेवती-रोहिणीनक्षत्राणि शुभानि भवन्ति।

अश्विनी चोत्तरा हस्ततिष्यश्रुतिमृगाश्शुभाः।
स्वातौ पूष्णे च रोहिण्यां द्वारशाखावरोपणे॥[2]

---

1. वृ.संहिता- वास्तुविद्याध्यायः, अ.- 53, श्लो. 69-73
2. वि.क.प्र.- अ.7, श्लो. 35, पृ. 204

द्वारस्थापने लग्नशुद्धिः

लग्नात् यदि केन्द्रत्रिकोणेषु शुभग्रहाः भवेयुः तथा त्रिषडाय-स्थानेषु पापग्रहाः स्युः। एवं सप्तमभावे दशमभावे च कोपि ग्रहः न स्यात्तदा द्वारशाखास्थापनं करणीयम्।

उपर्युक्तविषयाः वास्तुशास्त्रस्य मानक-ग्रन्थेषु विस्तरेण वर्णिताः सन्ति। द्वारनिर्माणमेकं महत्वपूर्णं कार्यमस्ति। कस्यापि गृहस्य मुख्यस्थानं प्रवेशद्वारं भवति। प्रवेशद्वारं गृहमुखं भवति। अत एव गृहनिर्माणावसरे विधिपूर्वकं द्वारविचारः करणीयः। एतदर्थं वास्तुशास्त्रविज्ञैः सम्यक्रूपेण परामर्शं कृत्वा तदनन्तरं गृहद्वारं स्थापयेदिति।

वास्तुशास्त्र में वृक्षविन्यास

प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय

धरा के आभूषण वृक्ष, केवल धरा की शोभा ही नहीं बढाते अपितु समस्त प्राणियों के कल्याण के साथ-साथ प्राकृतिक सन्तुलन बनाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। समस्त जीवों में प्राण सञ्चार करने वाली वायु को शुद्ध रखने एवं आवश्यकतानुसार उसे प्रवाहित करने में वृक्षों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। जब हम वास्तुशास्त्र के सन्दर्भ में इनकी भूमिका पर विचार करते हैं तब वहाँ भी वृक्षों की प्रबल सहभागिता सिद्ध होती है। वास्तु शब्द का सम्बन्ध निवास स्थान से है। गृह, ग्राम, नगर आदि की समग्र व्यवस्था एवं उससे सम्बन्धित गुणदोषों को निरूपित करनेवाली विद्या को वास्तुशास्त्र कहते हैं। इस दृष्टि से भी वृक्षों की उतनी ही महत्ता है जितनी भवनों की। क्योंकि वृक्ष भी पशु एवं पक्षियों के प्रत्यक्ष रूप से निवास स्थल होते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से देखा जाय तो देव, दानव, यक्ष, मानव आदि अनेक जातियों के साथ भी इनका अटूट सम्बन्ध है। पुराणों में स्पष्ट उल्लेख है कि देव, दानव, गन्धर्व, किन्नर, सर्प, गुह्यक, पशु-पक्षी तथा मनुष्य प्रसन्नता पूर्वक वृक्षों का आश्रय ग्रहण करते हैं।

देवदानवगन्धर्वाः किन्नरोरगगुह्यकाः।
पशुपक्षिमनुष्याश्च संश्रयन्ति मुदा द्रुमान्।।[1]

अतः वृक्ष भी निवास स्थान होने से वास्तुशास्त्र के अंगभूत हैं। इसलिए वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत वृक्षों का विमर्श अत्यावश्यक हो जाता है। मानवीय या दैवीय आलयों के लिए जिस प्रकार भूखण्ड का चयन किया जाता है तथा गुण-दोषों के आधार पर उनके शुभाशुभ होने का विचार किया जाता है, उसी प्रकार वृक्षों का भी गुणों के आधार पर चयन कर भवन में या भवन के निकट रोपित करने का विधान किया गया है। वृक्षों का परिचय देते हुए कहा गया है कि वृक्ष मूलतः वनस्पति हैं तथा इनकी तृण या वृक्ष प्रजाति कही गई है जो छः प्रकार की होती हैं- 1. वृक्ष, 2. गुल्म, 3. लता, 4. वल्ली, 5. त्वक्सार, तथा 6. तृण।

वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक्सारास्तृणजातयः।
षडेते वृक्षजातीयास्तासां रोपे फलं श्रृणु।।
यः पुमान् रोपयेद्वृक्षान् छायापुष्पफलोपगान्।
सर्वसत्वोपभोगाय स याति परमां गतिम्।[2]

---

1. वह्निपुराण तडागवृक्षप्रशंसाध्याय उद्धृत शब्दकल्पद्रुम, खण्ड 4, पृ. 476
2. तत्रैव

इन सभी प्रजातियों के अपने अपने गुणधर्म हैं। तदनुसार इनकी उपयोगिता एवं महत्व बतलाये गये है। साथ ही वृक्षारोपण को पुनीत कार्य बतलाते हुए यह भी कहा गया है कि सभी प्राणियों के उपभोग हेतु छाया, पुष्प और फल को देने वाले वृक्षों का रोपण जो व्यक्ति करता है वह परम गति को प्राप्त करता है। कुछ विशेष प्रकार के वृक्षारोपण की महिमा के प्रसंग में कहा गया है कि छाया, पुष्प और फल वाले 30 वृक्ष तथा 10 आम्र वृक्ष लगाने वाला व्यक्ति नरक में नहीं जाता।

छायापुष्पोपगांस्त्रिशत् फलपुष्पद्रुमांस्तथा
रोपयित्वा दशाम्रांस्तु नरो न नरकं ब्रजेत्।।[1]

भारतीय वाङ्मय में वृक्षों को जीवन्त प्राणी की तरह वर्णित किया गया है। भगवान श्रीराम ने वृक्षों से पूछा था क्या तुमने सीता को कहीं देखा है? भगवती सीता ने भी वृक्षों और नदियों द्वारा राम को संदेश दिया कि रावण ने मेरा हरण कर लिया है।

देवतानि च यान्यस्मिन् वने विविधपादपे ।
नमस्करोम्यहं तेभ्यो भर्तुः शंसत मां हृताम् ।।
आमन्त्रये जनस्थाने कल्णकारांश्च पुष्पितान् ।
क्षिप्रं रामाय शंसधवं सीतां हरति रावणः ।।[2]

वृक्षों का महत्वपूर्ण योगदान अन्य जीवों के साथ साथ मनुष्यों के लिए भी देखने को मिलता है। उनके क्रियाकलाप का भी वर्णन करते हुए कहा गया है कि वृक्ष भी मनुष्यों की भाँति पञ्चयज्ञ करते हैं। प्रत्येक गृहस्थ को पञ्चयज्ञ करने का निर्देश धर्मशास्त्र में दिया गया है। यद्यपि पञ्चयज्ञ सर्व विदित है किन्तु प्रसङ्ग उपस्थित होने से उनका भी उल्लेख कर देना उचित होगा।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।।[3]

अध्यापन करने से ब्रह्मयज्ञ (1), तर्पण करने से पितृयज्ञ (2), हवन करने से दैवयज्ञ (3), बलि (भोजन) देने से भूतयज्ञ (4), तथा अतिथिपूजन से नृयज्ञ (5) सम्पन्न होता है।

इसी प्रकार वृक्ष भी पञ्चयज्ञ करते है। इन्धन के लिए लकड़ी देकर अग्निहोत्र, छाया से पथिकों को विश्राम, पक्षियों को घोषला बनाने हेतु स्थान देकर भूदान, फल देकर भोजन दान तथा पत्ते, पुष्प, छाल, जड़ देकर औषधि दान। इस प्रकार वृक्षों द्वारा भी पञ्च यज्ञ करने का प्रमाण मिलता है। वृक्ष भी पञ्च यज्ञ द्वारा लोक कल्याण का कार्य करते हैं तथा पितरों को तृप्त करते हैं ।

---

1. वह्निपुराण तडागवृक्षप्रशंसाध्याय उद्धृत शब्दकल्पद्रुम, खण्ड 4, पृ. 476
2. वा.रा.3.49.31-32
3. मनुस्मृति 3/70

पत्रपुष्फलच्छाया मूलवल्कलदारुभिः।
परेषामुपकुर्वन्ति तारयन्ति पितामहान्।[1]

अपि च–

इन्धनार्थं यथानीतमग्निहोत्रं तदुच्यते।
छायाविश्रामपथिकैः पक्षिणां निलयेन च।
पत्रमूलत्वगादीन्श्च औषधार्थं तु देहिनाम्।
उपकुर्वन्ति वृक्षस्य पञ्चयज्ञः स उच्यते।।[2]

इन पञ्च यज्ञों से या वृक्षों द्वारा प्रदत्त अन्य वस्तुओं से देवादि सभी प्रसन्न होते हैं। पुष्पों से देवता, फलों से पितृगण, छाया से मनुष्य, पशु, पक्षी तथा मृग आदि सभी तृप्त होते हैं।

पुष्पैः सुरगणाः सर्वे फलैश्च पितरः सदा।
छाय्या मे मनुष्यास्तु पशुपक्षिमृगास्तथा।।[3]

इस प्रकार वृक्षों की जीवन्त महत्ता का वर्णन करने के उपरान्त वृक्ष लगाने वाले व्यक्तियों को जो पुण्य प्राप्त होता है उसका भी उल्लेख करना अत्यावश्यक है। शास्त्रों के अनुसार पुष्प और फल वाले वृक्षों का जो मनुष्य रोपण करता है वह सुन्दर भवन में निवास करते हुए प्रतिष्ठित पद पर आसीन होता है। एक पीपल, एक निम्ब, एक बरगद, 10 पुष्प जाती, दो अनार, 2 नींबू तथा 5 आम का वृक्ष लगाने वाला व्यक्ति नरक का दर्शन नहीं करता है।

पुष्पोपगन्धांश्च फलोपगन्धान् यः पादपान् रोपयते मनुष्यः।
समृद्धदेशे वरवेश्मवेद्यां लभेदधिष्ठानवरं स विप्रः।[4]
अश्वत्थमेकं पिचुमन्दमेकं न्यग्रोधमेकं दशपुष्पजातीः।
द्वे द्वे तथा दाडिम मातुलुङ्गे पञ्चाम्ररोपी नरकं न याति।[5]

पाठान्तर– **अश्वत्थमेकं पिचुमन्दमेकं न्यग्रोधमेकं दश चिञ्चिणीकम्।**
कपित्थविल्वामलकत्रायञ्च पञ्चाम्रवापी नरकं न पश्येत्।[6]

कहीं-कहीं वृक्षों की तुलना पुत्रों से की गई है। जिस प्रकार एक सुपुत्र प्रयत्न पूर्वक किये गये कठोर नियमों का पालन करता हुआ अपने कुल का उद्धार करता है उसी प्रकार वृक्ष भी अपने स्वामी (रोपण कर्ता) का नरक से उद्धार करते हैं।

यथा सुपुत्रः कुलमुद्धरेद्धि यथातिकृत्स्नान्नियमप्रयत्नात्।
तथात्र वृक्षाः फलपुष्पभूताः स्वं स्वामिनं नरकादुद्धरन्ति।।[7]

---

1. वह्निपुराण तडागवृक्षप्रशंसाध्याय उद्धृत शब्दकल्पद्रुम, खण्ड 4, पृ. 476
2. वाराह पुराण गोकर्णमाहात्म्यम् उद्धृत शब्दकल्पद्रुम, खण्ड 4, पृ. 476
3. वह्निपुराण तडागवृक्षप्रशंसाध्याय उद्धृत शब्दकल्पद्रुम, खण्ड 4, पृ. 476
4. तत्रैव
5. वाराह पुराण गोकर्णमाहात्म्यम् उद्धृत शब्दकल्पद्रुम, खण्ड 4, पृ. 476
6. बृहदवास्तुमाला वृक्षारोपाणदिविचारः श्लो. 22
7. वाराह पुराण गोकर्णमाहात्म्यम् उद्धृत शब्दकल्पद्रुम, खण्ड 4, पृ. 476

उक्त विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मानव ही नही अपि तु समस्त प्रणियों की जीवनचर्या एवं वास्तु शास्त्र के साथ वृक्षों का कितना गहरा सम्बन्ध है। जब ये वास्तुशास्त्र के अंगभूत सिद्ध हैं तो वास्तु प्रसङ्ग में इनका विमर्श आवश्यक हो जाता है।

आवासीय वास्तु में वृक्षविन्यास- यद्यपि सभी प्रकार के वृक्षों की अपनी अपनी विशेषता होती है किन्तु आवास के प्रसंग में कुछ वृक्षों को शुभ तथा कुछ को अशुभ भी माना गया है। अशुभ वृक्षों का गृह वास्तु में या वास्तु समीप रोपण का निषेध भी किया गया है। कुछ वृक्षों का शुभाशुभत्व दिशाओं के अनुसार बतलाया गया है। यथा-

याम्यादिष्वशुभफला जातास्तरवः प्रदक्षिणेनैते।
उदगादिषु प्रशस्ताः प्लक्षवटोदुम्बराश्वत्थाः॥[1]

अर्थात् प्लक्ष, वट, उदुम्बर तमथा अश्वत्थ वृक्ष क्रम से भवन के दक्षिण आदि दिशाओं में अशुभ तथा उत्तर आदि दिशाओं में शुभ होते हैं। आशय यह कि दक्षिण में प्लक्ष (पाकड़), पश्चिम में वट, उत्तर में उदुम्बर (गूलर) तथा पूर्व में अश्वत्थ (पीपल) अशुभ होते हैं किन्तु ये सभी विपरीत दिशाओं में शुभ माने जाते हैं। यथा- उत्तर में प्लक्ष, पूर्व में वट, दक्षिण में उदुम्बर तथा पश्चिम में पीपल शुभ होता है।

अग्निकोण में क्षीरवृक्ष (दूधवाले वृक्ष), वट, अश्वत्थ, रक्तपुष्प वाले वृक्ष, कांटेवाले वृक्ष, शाल्मली (सेमर), प्लक्ष, तथा उदुम्बर अग्निकोण में अशुभ एवं पीड़ादायक होते हैं। दक्षिण दिशा में कुछ विशिष्ट वृक्षों को छोड़कर प्रायः सभी वृक्ष अशुभ होते है। पनस (कटहल) प्रायः सर्वत्र (सभी दिशाओं में) शुभ माना गया है।

स्थान के अनुसार भी वृक्षों के शुभाशुभ का विचार किया गया है। यथा- आश्रम में नारियल शुभ, गृहस्थों के लिए सर्वत्र धनदायक, शिविर के ईशान कोण तथा पूर्व में पुत्रप्रद होता है। सामान्यतया नारिकेल सर्वत्र मनोहर एवं सुखप्रद होता है। इसी प्रकार रसाल (आम्र) वृक्ष के लिए भी कहा गया है कि यह सर्वत्र शुभद होता है फिर भी यदि पूर्व दिशा में आम्र का वृक्ष हो तो राजाओं को सम्पत्ति प्रदान करने वाला होता है। इसी प्रकार बिल्व, पनस, जम्बीर, बदरी को सर्वत्र शुभ कहा गया है तथा विशेष रूप से पूर्व दिशा में सन्तति देने वाला तथा दक्षिण में धनप्रद कहा गया है।

आश्रमे नारिकेलश्च गृहिणाञ्च धनप्रदः।
शिविरस्य यदीशाने पूर्वे पुत्रप्रदस्तरुः।
सर्वत्र मंगलार्हश्च तरुराजो मनोहरः॥
रसालवृक्षः पूर्वस्मिन् नृणां सम्पत्प्रदस्तथा।
शुभप्रदश्चसर्वत्र सुरकारो निशामय॥
विल्वश्च पनसश्चैव जम्बीरो वदरी तथा।
प्रजाप्रदश्च पूर्वस्मिन् दक्षिणे धनदस्तथा॥[2]

---

1. बृहतसंहिता वास्तुविद्याध्याय श्लो. 83
2. ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्मखण्ड अध्याय 102, उद्धृत शब्दकल्पद्रुम खण्ड 4, पृ. 475-476

यहाँ सर्वत्र का अभिप्राय गृह से बाहर कहीं भी वृक्ष रोपण करने से है किन्तु गृह के अन्दर शुभ नहीं माना गया है। कहा गया है कि जिस घर में पीपल, कदम्ब,कदली और बीजपूर उग जाते हैं तथा वहीं बढने लगते हैं तो उस गृह के स्वामी का विकास अवरुद्ध हो जाता है।

अश्वत्थं च कदम्बं च कदली बीजपूरकम्।
गृहे यस्य प्ररोहन्ति स गृही न प्ररोहति।।[1]

अतः वृक्षों के रोपण में शुभाशुभ का विचार अवश्य कर लेना चाहिए। जो शुभ हों तथा कुल वृद्धि करने वाले हैं उन्हीं वृक्षों का रोपण हेतु चयन करना चाहिए। वृक्षों के प्रभाव एवं उनके परिणाम ग्रन्थों में बताये गये हैं। उदाहरणार्थ कुछ वृक्षों के नाम एवं उनके परिणाम इस प्रकार हैं–

विभीतके दासवृद्धिर्वकुलोदास्यदस्तथा।
अपत्यनाशकस्तालो वकुलः कुलवर्धनः।
बहुभार्या नारिकेली द्राक्षः सर्वाङ्गसुन्दरः।
रतिप्रदा तथा केली केतकी रूपनाशिनी।।[2]

प्लक्ष रोपण को प्रतिष्ठापरक बतलाते हुए कहा गया है–

प्रतिष्ठां ते गमिष्यन्ति ये नराः प्लक्षरोपकाः।[3]

वाटिका में वृक्ष विन्यास–

विशाल वृक्षों की वाटिका की 7 श्रेणियाँ बताई गई हैं इनमें सर्वोत्तम वाटिका आम्रवृक्षों की कही गई है। उत्तरोत्तर न्यूनता क्रम से सातों वाटिकाओं का विवरण इस प्रकार है– 1. आम्र, 2. अश्वत्थ, 3. वट, 4. प्लक्ष, 5. निम्ब, 6. जम्बु तथा 7. इमली वृक्षों की वाटिका।

यद्यपि वाटिका में सभी दिशाओं में वृक्ष लगाये जाते हैं तभी वाटिका का स्वरूप भी लक्षित होता है। तथापि कुछ विशिष्ट वृक्षों के लिए स्थान विशेष का निर्देश किया गया है। यथा–

'ईशाने रोपयेद्धात्रीं नैर्ऋत्ये चिञ्चिणी द्रुमान्।
आग्नेय्यां दाडिमं चैव वायव्ये विल्ववृक्षकम्।।
प्लक्षोत्तरे पूर्ववटं प्रशस्तं ह्युदुम्बरं दक्षिणभागके च।
अश्वत्थवृक्षं दिशि वारुणस्यां मध्यं तथाम्रान् विविधप्रकारान्।।[4]

---

1. बृहदवास्तुमाला वृक्षारोपाणदिविचारः श्लो. 21
2. प्रदमपुराण सृष्टि खण्ड वृक्षारोपण अध्याय 29, उद्धृत शब्दकल्पद्रुम खण्ड 4, पृ. 476
3. तत्रैव
4. बृहदवास्तुमाला वृक्षारोपणादिविचारः श्लो. 23–24

वाटिका के ईशान कोण में धात्री (आँवला), नैर्ऋत्य में इमली, अग्नि कोण में अनार, वायव्य कोण में विल्ववृक्ष, उत्तर में प्लक्ष, पूर्व में वट, दक्षिण में उदुम्बर, पश्चिम में पीपल तथा मध्य में विविध प्रकार के आम के वृक्षों का रोपण करना चाहिए। इसी प्रकार दक्षिण और नैर्ऋत्य में जम्बू-कदम्ब, ईशान और पूर्व में कटहल और आम प्रशस्त माने गये हैं। वाटिका से बाहर पूर्व दिशा में बाँस, उत्तर में शमी, पश्चिम में वाटिका से बाहर खदिर (खैर), दक्षिण में बाहर की ओर बकुल का रोपण शुभ माना गया है।

वृक्षरोपणविधान-

अरिष्टाशोकपुन्नागशिरीषाः सप्रियङ्गवः।
मङ्गल्याः पूर्वमाराम रोपणीया गृहेषु वा।।[1]

किसी भी वाटिका के शुभत्व की वृद्धि के लिए सर्वप्रथम शास्त्रोक्त शुभवृक्षों का रोपण करना चाहिए। वे शुभ वृक्ष हैं 1. अरिष्ट (निम्ब), अशोक, पुन्नाग (पुष्पविशेष), शिरीष एवं प्रियंगु (मालकांगनी)। इनके रोपण के अनन्तर अन्य वृक्षों का रोपण करना चाहिए।

वृक्ष के पौधे को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रोपण के पूर्व उन्हे संक्रमण से बचाने के लिए उनका संस्कार करना चाहिए। संस्कार विधि को बतलाते हुए आचार्य वराहमिहिर ने लिखा है-

घृतोशीरतिलक्षौद्रविडङ्गक्षीरगोमयैः।
आमूलस्कन्धलिप्तानां संक्रामणविरोपणम्।।[2]

अर्थात् घृत, खस, तिल, मधु, वायविडङ्ग, दूध और गोबर का लेप बनाकर जड से लेकर स्कन्ध सहित अग्रभाग तक पौधे पर लेप करना चाहिए। तदनन्तर उसका रोपण करने से स्वस्थ वृक्ष तैयार होता है। वृक्ष का रोपण करते समय दो पौधों के बीच अन्तराल का धयान अवश्य रखना चाहिए। अन्तराल अल्प होने पर वृक्ष बडे होकर एक दूसरे के विकास को बाधित करते हैं। इस लिए दो वृक्षों के बीच अन्तराल बतलाते हुए कहा गया है-

उत्तमं विंशतिर्हस्ता मधयमं षोडशान्तरम्।
स्थानात् स्थानान्तरं कार्यं वृक्षाणां द्वादशावरम्।।[3]

दो वृक्षों के मध्य बीस हाथ का अन्तराल उत्तम, षोडश हाथ का मधयम तथा बारह हाथ का अन्तराल निख्रष्ट माना गया है।

वृक्षों के रोपण के लिए उचित काल (ऋतु) का भी धयान रखना चाहिए। बीज से उत्पन्न पौधों को शिशिर ऋतु में, काण्डरोपित (कलमी) पौधों को हेमन्त ऋतु में तथा

1. बृहतसंहिता वृक्षायुर्वेदाध्याय श्लो. 3
2. बृहतसंहिता वृक्षायुर्वेदाध्याय श्लो. 7
3. तत्रैव श्लो. 12

विशाल शाखाओं वाले वृक्षों का वर्षा ऋतु में उचित दिशाओं में रोपण करना चाहिए।

अजातशाखान् शिशरे जातशाखान् हिमागमे।
वर्षागमे च सुस्कन्धान् यथादिक्स्थान् रोपयेत्।।[1]

शास्त्रोक्त विधि से रोपण करने के उपरान्त पौधों के समुचित विकास के लिए समय पर लसचन करना चाहिए। सिंचन के लिए आवश्यक अन्तराल शास्त्रकारों ने दिये हैं–

सायं प्रातश्च घर्मर्तौ शीतकाले दिनान्तरे।
वर्षासु भुवः शोषे सेक्तव्या रोपिता द्रुमाः।।[2]

ग्रीष्मकाल में सायं, प्रातः, शीतकाल में एक दिन के अन्तराल पर तथा वर्षा ऋतु में जब भूमि शुष्क हो जाय तब सिञ्चन करना चाहिये।

इन विधियों का अनुसरण करते हुए वृक्षों का रोपण करने से वृक्ष स्वस्थ एवं शुभद होते हैं। यद्यपि वृक्षों के अनेक नियम हैं किन्तु प्रस्तुत निबन्ध में कुछ आवश्यक बिन्दुओं का ही स्पर्श करने का प्रयास किया गया है। ताकि अति संक्षेप में वृक्ष विन्यास की विधि शास्त्रोक्त प्रकार से प्रस्तुत की जा सके।

1. तत्रैव श्लो. 6
2. तत्रैव श्लो. 9

वास्तु-मुहूर्त विमर्श

- प्रो. ओंकारनाथ चतुर्वेदी

वसन्त्यस्मिन् इति वास्तु अर्थात् जिस भूमि अथवा भवन में निवास करने वाले लोगों को समुचित सुरक्षा, सुविधा एवं प्राकृतिक शक्तियों तथा पंचमहाभूतों के सामंजस्य से स्वास्थ्य लाभ मिलता रहे, उस भवन को ''वास्तु'' कहा जाता है। वास्तु सम्बन्धी नियमादि का वर्णन जिस शास्त्र में मिलता हो उसको ''वास्तुशास्त्र'' कहते हैं। ऋषियों, मनीषियों, आचार्यों ने सतत मनन-चिन्तन तथा अनुभवों के आधार पर इस शास्त्र को समृद्धशाली बनाया है। यद्यपि यह शास्त्र बहुत विस्तृत है, तथापि वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत भूमि एवं भवन के विधिसम्मत निर्माण में जिन कारकों का समावेश होता है, उसे ''गृहवास्तु'' कहा जा सकता है। गृहवास्तु के आधार पर भवन निर्माण में क्रमिक रूप से जो कार्य सम्पन्न किए जाते हैं उनमें भूमि पूजन से प्रारम्भ कर गृह प्रवेश पर्यन्त तक के सभी कृत्यों का वर्णन शास्त्रों में प्राप्त होता है।

प्रत्येक कार्य को सम्पन्न करने में ''काल'' का विशेष महत्त्व होता है। यदि उचित समय पर बीजारोपण किया जाए, तो कृषि भी उन्नत एवं पैदावार अधिक होती है। समय पर बीजारोपण न करने पर पैदावार भी न्यूनतम होने की सम्भावना रहती है। अतः भवन निर्माण भी समय सापेक्ष अनिवार्य माना जाता है। यदि शुभ समय पर भवन निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ की जाए तो भवन का निर्माण निर्विघ्न समाप्त होगा, अशुभ समय में प्रारम्भ प्रक्रिया से पग-पग पर विघ्न-बाधाओं के चलते भवन निर्माण की सम्भावना क्षीण एवं सन्देहास्पद ही रहेगी। ज्योतिष एवं वास्तुशास्त्र के अनुसार शुभ-समय का चयन करना ही ''मुहूर्त'' कहलाता है। मुहूर्त पंचांग शुद्धि एवं लग्नादि के आधार पर निश्चित होता है। कार्य की प्रवृत्ति, देश-काल का सम्यक् बोध करके ही, पूर्वाचार्यों ने मुहूर्तों के लिए शास्त्रों में निर्देश दिए हैं। ''गृहवास्तु'' में भूमि पूजन से प्रारम्भ कर गृह-प्रवेश पर्यन्त तक के विविध कृत्यों में ''मुहूर्तों'' का महत्वपूर्ण स्थान है।

भूमि पूजन मुहूर्त विचार

गृहारम्भ में सर्वप्रथम भूमि पूजन होता है। बाद में शिलान्यास किया जाता है। कुछ लोग भ्रान्तिवश भूमि पूजन एवं शिलान्यास को एक ही कार्य मान लेते हैं और दोनों

कार्य एक साथ ही सम्पन्न करते एवं कराते हैं। भूमि पूजन में शिलान्यास से पूर्व नींव के लिए खुदाई का कार्य होता है। शिलान्यास में नींव में प्रथम शिला स्थापित करके भवन की नींव भरी जाती है।

भूमि पूजन हेतु मुहूर्त के लिए मास शुद्धि, पक्ष शुद्धि, पंचांग शुद्धि एवं लग्न का विचार विशेष रूप से किया जाता है किन्तु इन सब के विचार करने के पूर्व भूमि की शयनावस्था का विचार करना चाहिए। भूमि शयन में भूमि पूजन न करके जाग्रत भूमि में ही भूमि पूजन करना श्रेयस्कर होता है। यथा –

प्रद्योतनात्पंचनगांकसूर्यनवेन्दुषड्विंशतिमितेषु भेषु।
शेते मही नैव गृहं विधेयं तडागवापी खननं न शस्तम्।।[1]

अर्थात् सूर्य नक्षत्र से चन्द्र नक्षत्र तक (जिस दिन भूमि–पूजन अभीष्ट हो) 5, 7, 9, 12, 19 एवं 26वाँ नक्षत्र हो तो, भूमि खनन अर्थात् नींव खोदने का कार्य नहीं करना चाहिए।

मतान्तर से सूर्य संक्रान्ति के दिन से 5, 7, 9, 11, 15, 20, 22, 23 एवं 28वें दिन भूमि शयन होता है। इसको विचार कर ही भूमि पूजन का मुहूर्त निश्चय करें। अन्य विचारणीय विषय निम्न प्रकार हैं –

1. गुरु–शुक्र तथा चन्द्रमा के अस्त होने पर भूमि पूजन नहीं होता।
2. रविवार एवं मंगलवार भूमि खनन में वर्जित हैं।
3. रिक्ता (4, 7, 9, 14) एवं अमावस्या तिथि त्याज्य हैं।

प्रशस्त मास – वैशाख, श्रावण, मार्गशीर्ष, पौष एवं फाल्गुन मास द्वारदिक्परक से ग्राह्य हैं। इनमें चान्द्र एवं सौरमासों का ग्रहण किया गया है। स्पष्टार्थ चक्र –[2]

मास (चान्द्र)	**सूर्यराशि**	**द्वारदिशा**
वैशाख	मेष, वृष	उत्तर–दक्षिण
श्रावण	कर्क, सिंह	पूर्व–पश्चिम
मार्गशीर्ष	तुला, वृश्चिक	उत्तर–दक्षिण
फैख	मकर	पूर्व–पश्चिम
फाल्गुन	कुम्भ	पूर्व–पश्चिम

मतान्तर से कार्तिक एवं माघ मास भी ग्राह्य हैं। शुभ मुहूर्त में यथोपलब्धोपचार से भूमि पूजन कर यथाशक्ति ग्रहों एवं वास्तु देवताओं का भी पूजन स्मरण करके नींव खनन का कार्य प्रारम्भ करना चाहिए।

---

1. बृहद्वास्तुमाला प्रयोग मिश्रप्रकरण श्लोक 96
2. मुहूर्तचिन्तामणि वास्तुप्रकरण श्लोक 15

नींव खनन का कार्य विदिशाओं से ही प्रारम्भ किया जाता है। मुख्य दिशा अर्थात् पूर्व-पश्चिम-उत्तर एवं दक्षिण दिशाओं में खनन प्रारम्भ नहीं होता है। राहु मुख का विचार करके विविध कार्यों में कोण दिशा से खनन प्रारम्भ किया जाता है। राहु मुख का ज्ञान करके पृष्ठविदिशा में नींव खनन का कार्य प्रारम्भ करके चारों तरफ खनन-कार्य सम्पन्न करना चाहिए। यथा -

देवालये गेहविधौ जलाशये राहोर्मुखं शम्भुदिशो विलोमतः।
मीनार्कसिंहार्कमृगार्कतस्त्रिभे खाते मुखात् पृष्ठविदिक् शुभा भवेत्॥[1]

खातदिक् ज्ञापक चक्र (राहु मुख - पृष्ठ चक्र)

कार्य	**राहु मुख दिशा (ईशान)**	**राहु मुख दिशा वायव्य**	**राहु मुख दिशा नैर्ऋत्य कोण**	**राहु मुख दिशा अग्निकोण**
देवालय	12, 1, 2 राशि के सूर्य में	3, 4, 5 राशि के सूर्य में	6, 7, 8 राशि के सूर्य में	9, 10, 11 राशि के सूर्य में
गृहारम्भ	5, 6, 7 राशि के सूर्य में	8, 9, 10 राशि के सूर्य में	11, 12, 1 राशि के सूर्य में	2, 3, 4 राशि के सूर्य में
जलाशय	10, 11, 12 राशि के सूर्य में	1, 2, 3 राशि के सूर्य में	4, 5, 6 राशि के सूर्य में	7, 8, 9 राशि के सूर्य में
खनन दिशा	अग्निकोण	ईशान	वायव्य	नैर्ऋत्य

अभीष्ट कोण से प्रारम्भ करके दक्षिणावर्तीक्रम से नींव का खनन करना उचित होता है।

शिलान्यास (गृहारम्भ) मुहूर्त -

नींव खनन हो जाने के पश्चात् नींव को भरने का कार्य प्रारम्भ होता है। प्रारम्भिक ईंट अथवा पत्थर की प्रथम शिला रखने को ही शिलान्यास कहते हैं। तत्पश्चात् गृह निर्माण करने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। फिर निरन्तर कार्य चालू रखना ही उचित होता है। शिलान्यास (प्रथम इष्टिका न्यास) सर्वदा अग्निकोण में ही करना चाहिए। खात (खनन) का प्रारम्भ तो किसी विदिशा (कोण) में हो सकता है, किन्तु शिलान्यास सदैव अग्निकोण में ही किए जाने का बहुसम्मत मत शास्त्रों में उपलब्ध होता है। यथा -

दक्षिणपूर्वे कोणे कृत्वा पूजां शिलां न्यसेत्प्रथमम्।
शेषाः प्रदक्षिणेन स्तम्भाश्च प्रतिस्थाप्या॥[2]

तथा शारंगधरः -

1. मुहूर्तचिन्तामणि वास्तुप्रकरण श्लोक 19
2. बृहद्वास्तुमालाप्रयोग मिश्रप्रकरण श्लोक 123

प्रासादेषु हर्म्येषु गृहेष्वन्येषु सर्वदा।
आग्नेय्यां प्रथमं स्थापयेत्तद्विधानतः॥[1]

कश्यप ऋषि का मत –

सूत्रभित्तिशिलान्यासं स्तम्भस्यारोपणं तथा।
पूर्वदक्षिणयोर्मध्ये कुर्यादित्याह कश्यपः॥[2]

अग्निकोण में शिलान्यास करके ताम्र कलश की स्थापना करनी चाहिए। ताम्रपाय (कलश) में तीर्थों की मिट्टी, ईंट, स्वर्ण, पंचरत्न, सप्तधान्य, शैवाल (काई) रख कर अग्निकोण में खुदे हुए गड्ढे में स्थापित करना अभीष्ट होता है। वह भवन निर्माण के समय का खातपात्र होता है। यथा –

मृदिष्टिका स्वर्णरत्नधान्यशैवालसंयुतम्।
ताम्रपात्रस्थितं सर्वं खातमध्ये नियोजयेत्॥[3]

गृहारम्भ में मास विचार – गृहारम्भ में वैशाख, श्रावण, मार्गशीर्ष एवं फाल्गुन ये चार माह श्रेष्ठ हैं, मकर के सूर्य होने पर पौष मास में भी गृहारम्भ किया जा सकता है। मतान्तर से कार्तिक मास भी ग्राह्य है। वृद्ध नारद के मतानुसार विष्णु के जाग्रतावस्था के मासों में ही गृहारम्भ करना चाहिए।

तिथि – शुक्ल पक्ष की 2, 3, 5, 6, 10, 11, 12 तथा 15 (पूर्णिमा) तिथियाँ शुभ हैं। मतान्तर से सप्तमी तिथि भी ग्राह्य है। कुछ विद्वानों के अनुसार कृष्ण पक्ष की 2, 3, 5 तिथियाँ भी प्रशस्त हैं।

वार – सोम, बुध, गुरु, शुक्र एवं शनिवार शुभ हैं।

शुभ नक्षत्र – रोहिणी, मृगशीर्ष, हस्त, चिचा, स्वाति, अनुराधा, तीनों उत्तरा, धनिष्ठा, शतभिषा एवं रेवती[4] नक्षत्र प्रशस्त माने गए हैं। मतान्तर से पुनर्वसु तथा पुष्य भी ग्राह्य हैं।[5]

उपर्युक्त शुभ नक्षत्रों में वृषवास्तुचक्र के अनुसार लाभप्रद होने पर ही गृहारम्भ करना उचित होता है, अन्यथा नहीं।

---

1. बृहद्वास्तुमालाप्रयोग मिश्रप्रकरण श्लोक 124
2. बृहद्वास्तुमालाप्रयोग मिश्रप्रकरण श्लोक 125
3. बृहद्वास्तुमालाप्रयोग मिश्रप्रकरण श्लोक 142
4. बृहद्वास्तुमालाप्रयोग गणनाप्रकरण श्लोक 65
5. मुहूर्त विज्ञान – प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी पृष्ठ 129

वृषवास्तु चक्र

सूर्यनक्षत्र से चन्द्र

नक्षत्र सं.		**वत्स (वृष) का स्थान**	**गृहारम्भ करने पर फल**
3	अशुभ	शिर	अग्नि भय
4	अशुभ	अग्रिम पाद	शून्य (रिक्त-अशुभ)
4	शुभ	पीछे के पाद	स्थिरता
3	शुभ	पीठ	लक्ष्मी प्राप्ति
4	शुभ	दक्षिण कुक्षि (कोख)	लाभ
3	अशुभ	पुच्छ (पूंछ)	स्वामी नाश
4	अशुभ	वाम कुक्षि (कोख)	निर्धनता
3	अशुभ	मुख	पीड़ा

वृषवास्तु चक्र में अभिजित नक्षत्र सहित 28 नक्षत्रों की गणना की जाती है।[1]

गेहारम्भ में प्रशस्त नक्षत्रों में से जिस चान्द्र नक्षत्र में मुहूर्त अभीष्ट हो, उस नक्षत्र का वृषवास्तु चक्र में अवलोकन करने के ही बाद मुहूर्त का निश्चय करना चाहिए। सूर्य जिस नक्षत्र में चल रहा हो उस नक्षत्र से अभीष्ट नक्षत्र की गणना करें, वह नक्षत्र वृषवास्तु चक्र में शुभ फलदायक हो, तभी उस नक्षत्र में गेहारम्भ-मुहूर्त करना चाहिए, अन्यथा नहीं। सारांश में वृषवास्तु चक्र में सूर्य नक्षत्र से 7 नक्षत्र अशुभ तथा बाद के 11 नक्षत्र शुभ, अन्तिम 10 नक्षत्र अशुभ फल देने वाले होते हैं। अतः सम्यक् रूप से विचार करके ही मुहूर्त का निश्चय किया जाए।

लग्न शुद्धि - भवन की स्थिरता के लिए स्थिर लग्न विशेष शुभ माने गए है। द्विस्वभाव लग्न भी ग्राह्य है। लग्न से छठें एवं आठवें भाव में शुभ ग्रह न हों, अन्य भावों में हों, तृतीय, षष्ठ एवं एकादश भाव में पाप ग्रहों की स्थिति होने पर लग्न शुद्धि होती है। बृहद्वास्तुमाला प्रयोग ग्रन्थ में लग्न शुद्धि इस प्रकार है - शुभ ग्रहों से युक्त अथवा इष्ट स्थिर या द्विस्वभाव लग्न में वास्तुकर्म (गृहारम्भ) शुभ होता है। लग्न से केन्द्र अथवा त्रिकोण स्थान में शुभ ग्रह तथा त्रिषडाय स्थानों में पाप ग्रहों की स्थिति को शुभ माना गया है। अष्टम स्थान में यदि क्रूर ग्रह हो तो, गृहकर्ता की मृत्यु हो जाती है। श्रीपति का कथन भी इसी प्रकार प्राप्त होता है।[2]

रामदैवज्ञ ने मुहूर्त चिन्तामणि वास्तु प्रकरण में पंचांग शुद्धि एवं लग्न शुद्धि के विषय में लिखा है -

---

1. मुहूर्त चिन्तामणि वास्तुप्रकरण श्लोक 14
2. बृहद्वास्तुमाला गणनाप्रकरण श्लोक 73

भौमार्करिक्तामाद्यूने चरोनगे विपंचके।
व्यष्टान्त्यस्थैः शुभैर्गेहारम्भस्त्र्यायारिगैः खलैः।।[1]

अर्थात् मंगलवार, रविवार, रिक्ता तिथि (4, 9, 14), अमावस्या, सप्तमी, चर लग्न (1, 4, 7, 10 लग्न) एवं पंचक को त्याग दें। विपंचके का अर्थ कुछ लोग पंचक के नक्षत्र को छोड़कर ऐसा करते हैं, किन्तु, धनिष्ठा, शतभिषा का गृहवास्तु में उल्लेख होने से यह अर्थ उचित नहीं, कुछ विद्वान बाण पंचक ग्रहण करते हैं, वह भी उचित नहीं, अतः पांचवी राशि सिंह राशि के सूर्य को छोड़कर, अर्थ ग्रहण करना उचित प्रतीत होता है। इनको त्याग कर लग्न से 12 एवं 8 स्थान के अतिरिक्त स्थानों में शभ ग्रहों की स्थिति तथा 3, 6, 11 स्थानों में पाप ग्रहों के रहने पर स्थिर (वृष, सिंह, वृश्चिक, कुम्भ) एवं द्विस्वभाव (मिथुन, कन्या, धनु, मीन) लग्नों में वास्तु अर्थात् गेहारम्भ शुभ माना है।

त्याज्य – गुरु-शुक्र के अस्त एवं बाल-वृद्धत्व के दिनों में गृहारम्भ नहीं किया जा सकता है।

द्वार स्थापन मुहूर्त – भवन निर्माण के समय द्वार स्थापना के समय भी मुहूर्त विचार किया जाता है। द्वार चक्र की शुद्धि देखना अभीष्ट होता है। अतः निम्नलिखित द्वार चक्र के आधार पर नक्षत्र शुद्धि के उपरान्त ही मुहूर्त विचारणीय होता है –

द्वार चक्र

स्थान	शिर	कोण	शाखा	देहली	मध्य
सूर्य नक्षत्र से चन्द्र नक्षत्र तक संख्या	4	8	8	3	4
फल	लक्ष्मीपति	उद्वास	सौख्य	मृत्यु	सौख्य

उपर्युक्त चक्रानुसार नक्षत्र शुद्धि विचार कर निम्न नक्षत्रों में द्वार की स्थापना करना शुभ होता है। अश्विनी, तीनों उत्तरा, स्वाति, रेवती, रोहिणी नक्षत्रों में द्वार स्थापना शुभ होती है।[2] मतान्तर से मृगशीर्ष, पुष्य, हस्त एवं श्रवण नक्षत्र भी द्वार स्थापना में ग्राह्य हैं।[3]

शुभ-वार[4] – द्वार स्थापना में बुध, गुरु, शुक्र एवं सोमवार शुभ माने गए हैं। मतान्तर से रविवार भी ग्राह्य है।

---

1. मुहूर्त चिन्तामणि वास्तु प्रकरण श्लोक 18
2. मुहूर्त चिन्तामणि वास्तु प्रकरण श्लोक 29
3. बृहद्वास्तुमाला प्रयोग गणनाप्रकरण श्लोक 165 टीका
4. तत्रैव 168

शुभ तिथि[1] - बृहद्वास्तुमाला प्रयोग में 5, 7, 8 एवं 9 तिथियाँ शुभ मानी गई हैं तथा 1, 2, 3, 4, 6, 10, 15 एवं 30 तिथियाँ अशुभ मानी गई हैं। किन्तु मतान्तर से मुहूर्त मुक्तावलि में नन्दा (1, 6, 11), पूर्णा (5, 10, 15) एवं जया (3, 8, 13) तिथियों में द्वार स्थापना शुभ बतलाया गया है।

शुभ लग्न - स्थिर लग्न अर्थात् वृष, सिंह, वृश्चिक एवं कुम्भ लग्न में ही द्वार स्थापना करना शुभ होता है।[2]

वृक्षारोपण मुहूर्त -

वृक्षारोपण समय -

अजातशाखान् शिशिरे जातशाखान् हिमागमे।
वर्षागमे च सुस्कन्धान् यथादिक्स्थान् रोपयेत्।।[3]

अजातशाखा (जिन वृक्षों में शाखा न निकली हों, अर्थात् बीज या लघु पौधे) पादपों को शिशिर ऋतु (माघ-फाल्गुन) में शाखा युक्त वृक्षों को हेमन्त ऋतु (मार्गशीर्ष-पौष) बड़ी शाखा (टहनी) वाले वृक्षों को वर्षा ऋतु (श्रावण, भाद्रपद) में रोपना चाहिए। इन वृक्षों को यथादिक् अर्थात् पूर्व-दक्षिण, पश्चिम-उत्तर दिशाओं में क्रम से लगाना चाहिए।

वृक्षारोपण नक्षत्र -

ध्रुव-मृदु-मूल-विशाखा-गुरुभं श्रवणस्तथाश्विनी हस्तः।
उक्तानि दिव्यदृग्भिः पादपसंरोपणे भानि।।[4]

अर्थात् दिव्य दृष्टि रखने वाले ऋषियों ने ध्रुवसंज्ञक नक्षत्र (तीनों उत्तरा, रोहिणी) मृदुसंज्ञक (मृग शीर्ष, रेवती, चित्रा, अनुराधा) मूल, विशाखा एवं पुष्य, श्रवण, अश्विनी तथा हस्त नक्षत्रों में वृक्षारोपण के लिए प्रशस्त नक्षत्र कहे हैं।

सामान्य रूप से वृक्षारोपण के समय शुक्र का बलवान होना आवश्यक माना गया है।

शुभवार - सोम, बुध, गुरु एवं शुक्रवार

जलचर राशियों में चन्द्रमा अर्थात् कर्क, मकर, मीन राशि के चन्द्रमा होने पर वृक्ष लगाना शुभ माना गया है।

---

1. तत्रैव 166-168
2. बृहद्वास्तुमाला प्रयोग श्लोक 169
3. बृहद्वास्तुमाला प्रयोग वृक्षायुर्वेद श्लोक 6
4. बृहद्वास्तुमाला प्रयोग वृक्षायुर्वेदाधयाय श्लोक 34

बृहस्पति के मतानुसार मूलनक्षत्र से युक्त सोमवार के दिन धनु लग्न में अथवा रेवती युक्त गुरुवार को धनु या मीन लग्न में वृक्षारोपण प्रशस्त होता है।[1]

गृह-प्रवेश मुहूर्त

गृह प्रवेश शास्त्रों में तीन प्रकार का बतलाया गया है - 1. अपूर्व, 2. सपूर्व, 3. द्वन्द्व। नव निर्मित भवन में निवास हेतु प्रथम बार प्रवेश करने को अपूर्व प्रवेश कहा जाता है। अधिक दिनों से बन्द अथवा लम्बी यात्रा के बाद जिस मकान में प्रवेश किया जाए उसको सपूर्व प्रवेश की संज्ञा दी गई है। अग्नि आदि उत्पात से अथवा जीर्ण होने पर पुनः मरम्मत कराकर प्रवेश किया जाए, उसे द्वन्द्व प्रवेश बतलाया गया है।[2] नूतन गृह प्रवेश दिन अथवा रात्रि में किसी भी समय शुभ माना गया है, सपूर्व एवं द्वन्द्व प्रवेश को दिन में विशेष प्रशस्त माना जाता है।[3]

त्याज्य - गुरु-शुक्र के अस्त एवं अधिकमास क्षयमास, गुरु एवं शुक्र के अतिचारी या नीच राशि में जाने पर, तेरह दिन का पक्ष होने पर भी गृह प्रवेश वर्जित है। होलिका दाह से पूर्व आठ दिनों (होलाष्टक) में भी गृह प्रवेश शुभ नहीं होता है। जिन नक्षत्रों में पापग्रह (सूर्य, मंगल, शनि) स्थित हों एवं जो नक्षत्र पापविद्ध हों, वे नक्षत्र भी तीनों गृह प्रवेश में त्याज्य हैं।[4]

ग्राह्य मास - नारदीय वचनानुसार तीनों प्रकार के गृह प्रवेश केवल उत्तरायण सूर्य में ही करने चाहिए।[5] माघ, फाल्गुन, वैशाख एवं ज्येष्ठ मास ही गृह प्रवेश में प्रशस्त (शुभ) माने गए हैं। कार्तिक एवं मार्गशीर्ष मास मध्यम माने गए हैं।[6]

वशिष्ठ के मतानुसार माघ मास में नूतन गृह प्रवेश में धनलाभ तथा फाल्गुन मास में निश्चित ही पुत्रलाभ एवं धनलाभ भी होता है। वैशाख में प्रथम प्रवेश करने से सभी प्रकार का अर्थात् धन-धान्य, पशु एवं पुत्र का लाभ होता है। हर्म्य अर्थात् ईंट, पत्थर आदि से निर्मित पक्के मकानों में उत्तरायण सूर्य (माघ, फाल्गुन, वैशाख, ज्येष्ठ, चैत्र को त्याग कर) में ही गृहारम्भ में प्रशस्त नक्षत्रवार आदि में गृह प्रवेश करना चाहिए। घास-फूंस से निर्मित मकानों में किसी भी समय प्रवेश किया जा सकता है।[7]

---

1. बृहद्वास्तुमाला वृक्षारोपणादिविचार श्लोक 42
2. बृहद्वास्तुमाला प्रयोग गृहप्रवेशप्रकरण श्लोक 1
3. तत्रैव श्लोक 2
4. तत्रैव श्लोक 6 का पूर्वार्ध।
5. तत्रैव श्लोक सं. 3
6. तत्रैव श्लोक सं. 4
7. तत्रैव श्लोक सं. 5

पक्ष एवं तिथि - शुक्ल पक्ष में रिक्ता - (4, 9, 15) तिथियों एवं अमावस्या को छोड़कर सभी तिथियों (1, 2, 3, 5, 6, 7, 8, 10, 11, 12, 13, 15) में प्रवेश शुभ होता है।

वार - चन्द्र, बुध, गुरु एवं शुक्रवार श्रेष्ठ होते हैं। मतान्तर से शनिवार भी ग्राह्य है।

नक्षत्र - चित्रा, तीनों उत्तरा, रोहिणी, मृगशीर्ष, अनुराधा, धनिष्ठा, रेवती तथा शतभिषा नक्षत्रों में त्रिविध प्रवेश करने से आयु, धन, आरोग्यता, सुपुत्र-पौत्रादि एवं सुकीर्ति की वृद्धि होती है।[1] मुहूर्त चिन्तामणि में हस्त, अश्विनी, पुष्य, स्वाति एवं श्रवण नक्षत्र भी, उपर्युक्त नक्षत्रों सहित प्रशस्त माने गए हैं।[2]

इन नक्षत्रों में कुम्भ (कलश) चक्र की शुद्धि देखकर ही मुहूर्त का विचार करना अभीष्ट होता है, बगैर कुम्भ चक्र के गृह प्रवेश का निर्णय करना सर्वथा निषिद्ध माना गया है।

कुम्भ चक्र - सूर्याधिष्ठित नक्षत्र से मुहूर्त वाले दिन के चन्द्र नक्षत्र तक गणना करके निम्नलिखित चक्र में नक्षत्र शुद्धि देखकर ही मुहूर्त का निश्चय करना अभीष्ट होता है।

कुम्भ (कलश) चक्र[3]

स्थान दिशा	मुख	पूर्व	दक्षिण	पश्चिम	उत्तर	गर्भ	नीचे (तल)	कण्ठ
नक्षत्र संख्या	1	4	4	4	4	4	3	3
फल	अग्निदाह	शून्य	लाभ	धनलाभ	कलह	विनाश	स्थिति	चिरस्थिति
निष्कर्ष	अशुभ	शुभ	शुभ	शुभ	अशुभ	अशुभ	शुभ	शुभ

इसके अतिरिक्त वामरविका विचार किया जाता है। वामरवि का विचार गृह प्रवेश लग्न से सूर्य स्थित भाव से विचार किया जाता है। यह भवन के द्वार (मुख्य) के अनुसार किया जाता है। यथाचक्र -

1. बृहद्वास्तुमाला प्रयोग गृह प्रवेश श्लोक 7
2. मु. चि. गृह प्रवेश प्रकरण श्लोक 3
3. मु. चि. गृह प्रवेश श्लोक 6

वामरविचक्र

पूर्वाभिमुख गृह	दक्षिणाभिमुख गृह	पश्चिम गृह	उत्तर गृह
8	5	2	11
9	6	3	12
10	7	4	1
11	8	5	2
12	9	6	3

गृह प्रवेश लग्न से सूर्य जिस भाव (राशि) में स्थित हो, उससे विचार किया जाता है। प्रवेश लग्न से वामरवि होने पर गृह प्रवेश विशेष शुभ माना जाता है।[1]

लग्न शुद्धि – सामान्य रूप से स्थिर एवं द्विस्वभाव राशि वाली लगन को गृह प्रवेश में शुभ माना जाता है। चर लग्न सर्वथा त्याज्य हैं।[2]

मतान्तर से कुम्भ लग्न को भी अशुभ माना गया है। गृह स्वामी की जन्म लग्न से अष्टम राशि की लग्न को भी त्याज्य माना गया है।

दैवज्ञवल्लभ के अनुसार निन्दित अर्थात् चर लग्न भी शुभ (स्थिर-द्विस्वभाव) नवांश में हों, अथवा चर राशि के लग्न में भी यदि गृह स्वामी की राशि से उपचय (3, 6, 10, 11) स्थानों में प्रवेश लग्न हो तो चर लग्न भी शुभ फल देने वाला होता है।[3]

स्थिर एवं द्विस्वभाव लग्न से 1, 2, 3, 5, 7, 9, 10 एवं 11वें भाव में शुभ ग्रह (बुध, गुरु, शुक्र) तथा 3, 6, 11 भावों में पाप ग्रह शुभ फल देने वाले होते हैं। लग्न से चतुर्थ एवं अष्टम भाव ग्रह रहित होना ही शुभ माना गया है।

पृष्ठस्थ शुक्र विचार – यात्रा में जिस प्रकार सम्मुख चन्द्र देखा जाता है, उसी प्रकार शुक्र का परिभ्रमण भी चारों दिशाओं में माना गया है।

गृह प्रवेश के समय गृहस्वामी जिस दिशा के द्वार से प्रवेश करता है उससे विप. रीत (गृहस्वामी के पृष्ठ भाग वाली) दिशा में शुक्र पृष्ठस्थ होता है। पृष्ठस्थ शुक्र में गृह प्रवेश करना शुभ फल कारक होता है।

द्वार दिशा	**शुक्र स्थित राशि**
पूर्व	मेष, सिंह, धनु
दक्षिण	वृष, कन्या, मकर
पश्चिम	मिथुन, तुला, कुम्भ
उत्तर	कर्क, वृश्चिक, मीन

1. मु. चि. गृह प्रवेश श्लोक 6
2. बृहद्वास्तुमाला प्रयोग – गृह प्रवेश श्लोक 11
3. तत्रैव श्लोक 12

गृह प्रवेश करते समय सपत्नीक गृहस्वामी जलपूर्ण कलश पर पंच पल्लव तथा नारियल रखकर गीत-वाद्य, घण्टा धवनि सहित, ब्राह्मण, गाय व कन्या सहित गृह प्रवेश का कार्य सम्पन्न करें।

जीर्ण गृह प्रवेश - जीर्ण गृह प्रवेश नवीन गृह प्रवेश के सभी मुहूर्तों में होता है किन्तु श्रावण, कार्तिक एवं मार्गशीर्ष मास भी ग्राह्य हैं।

शतभिषा, पुष्य, स्वाति और धनिष्ठा नक्षत्रों को भी शुभ माना गया है। गुर्वस्त-शुक्रास्त में भी गृह प्रवेश शुभ होता है।

जलाशयाराम सुर प्रतिष्ठा

जलाशय (तालाब, कुआँ, बावड़ी आदि) बगीचा एवं सभी देवी देवताओं की प्रतिष्ठा के लिए मुहूर्त विचार ऋषि, मुनियों, आचार्यों द्वारा किया गया है। **''नाऽसौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्''** की उक्ति के अनुसार यद्यपि यत्र तत्र मत विभिन्नता के दर्शन होते हैं, तथापि बहुसम्मत मत का संकलन ''मुहूर्त चिन्तामणि'' नामक ग्रन्थ में परिलक्षित होता है। अतः मुख्य रूप से उसी के आधार पर मुहूर्त विचार किया जाता है।

समय - जलाशय एवं सभी देवताओं की प्रतिष्ठा उत्तरायण सूर्य में चन्द्र, गुरु और शुक्र के उदित रहने पर ही प्रशस्त है।

ग्राह्य नक्षत्र - मृदु (मृगशीर्ष, चित्रा, रेवती, अनुराधा), क्षिप्र (हस्त, अश्विनी, पुष्य तथा अभिजित), चर (स्वाति, पुनर्वसु, श्रवण, धनिष्ठा), ध्रुव (रोहिणी, तीनों उत्तरा) अथवा जिस देवता की प्रतिष्ठा अभीष्ट हो, उसके नक्षत्र में (जैसे - श्रीकृष्ण का जन्म नक्षत्र रोहिणी, राम का जन्म नक्षत्र पुनर्वसु - इत्यादि।)

तिथि - रिक्ता (4, 9, 14) तिथियों को छोड़कर सभी तिथियाँ देव प्रतिष्ठा में ग्राह्य हैं।

वार - मंगलवार को त्याग कर सभी वार प्रशस्त माने गए हैं।

लग्नशुद्धि - प्रतिष्ठा लग्न से तृतीय, षष्ठ एवं एकादश भाव में चन्द्र तथा पापग्रह (सूर्य, मंगल, शनि) हों, अष्टम, द्वादश भाव में कोई ग्रह न हो, तो वह लग्न प्रतिष्ठा के लिए प्रशस्त माना गया है।

विशेष - जिस देवता की प्रतिष्ठा विचारणीय हो, उसकी तिथि - नक्षत्र एवं जन्म काल सदैव शुभ होता है।

देव विशेष की लग्न - सूर्य - सिंह लग्न, ब्रह्मा - कुम्भ, विष्णु - कन्या, शिव - मिथुन, सभी देवियों की प्रतिष्ठा में द्विस्वभाव (मिथुन, कन्या, धनु एवं मीन) क्षुद्र देव (चतुष्षष्ठी - योगिनी आदि) की प्रतिष्ठा में चर (मेष, कर्क, तुला एवं मकर) तथा सभी देवों की प्रतिष्ठा में स्थिर लग्न (वृष, सिंह, वृश्चिक एवं कुम्भ) विशेष रूप से प्रशस्त माने गये हैं।

देव विशेष के नक्षत्र – नव ग्रह की प्रतिष्ठा में पुष्य नक्षत्र गणेश, यक्ष, नाग, भूतादि की प्रतिष्ठा में रेवती तथा जैन देवताओं की प्रतिष्ठा में श्रवण नक्षत्र विशेष रूप से प्रशस्त माना गया है।[1]

कुछ अन्य ऋषियों व मनीषियों के मत संक्षिप्त रूप से **''जलाशय राम सुर प्रतिष्ठा''** के विषय में निम्न हैं –

उत्तरायण सूर्य में गुरु शुक्र के उदय में, शिव, विष्णु व अन्य देवताओं की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। वशिष्ठ के अनुसार उत्तरायण सूर्य में प्रतिष्ठा शुभ होती है, दक्षिणायन में नहीं। देवता आराम वाप्यादि प्रतिष्ठा उत्तरायण माघादि पाँच महीनों (माघ–फाल्गुन–चैत्र एवं वैशाख) में शुक्ल पक्ष एवं कृष्ण पक्ष की पंचमी तिथि तक करनी चाहिए, दक्षिण ायन में नहीं।

उत्तरायण में विष्णु शयन को छोड़कर, नक्षत्र शुद्धि देखकर माघादि छः मासों में (माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ मास तथा आषाढ़) में भी काल, नक्षत्र एवं लग्न की शुद्धि देखकर बुध–गुरु–शुक्र वार में जलाशयादि प्रतिष्ठा करनी चाहिए।

माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ तथा आषाढ़ मास में सभी देवताओं की प्रतिष्ठा उत्तरायण व्यतीत होने पर भी शुक्ल पक्ष में की जा सकती है। किन्तु मत्स्य पुराण **''विचेत्रेष्वेव मासेषु माघादिषु च पंचसु''** के आधार पर चैत्र मास को त्याग कर पांच मासों में प्रतिष्ठा शुभ बतलाई है। उग्र प्रकृति के देवताओं की प्रतिष्ठा दक्षिणायन सूर्य में प्रशस्त मानी गई है।

यथा –

मातृभैरववाराहनारसिंहत्रिविक्रमाः।
महिषासुरहन्त्री च स्थाप्या वै दक्षिणायने॥[2]

इस प्रकार शुभ मुहूर्तों का विचार करते हुए वास्तुकार्य सम्पन्न किये जाने चाहिए।

1. मु. चि. म. नक्षत्रप्रकरण 61–63
2. बृहद्वास्तुमाला प्रयोग – जलाशयराम सुरप्रतिष्ठा प्रकरण 8

वास्तुपद विन्यास में वर्णित विविध पद देवताओं की प्रकृति, स्वरूप एवं लक्षण

प्रो. वासुदेव शर्मा

भारतीय वास्तुशास्त्र का आधिदैविक स्वरूप प्राचीन ऋषि-महर्षियों की अन्तश्चेतना और पर्यवेक्षण दोनों प्रकार के चिन्तन मनन का परिणाम है तथा समस्त विश्व के कण-कण में व्याप्त उस ईश्वरीय तत्त्व के साक्षात्कार और चेतनाशक्ति से चिति तक की यात्रा का सांगोपांग विवेचन है।

'या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते' से लेकर **चितिरुपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्। नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः** में वर्णित बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, छाया, शक्ति, तृष्णा, क्षान्ति, जाति, लज्जा, शान्ति, श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्मृति, दया, तुष्टि, मातृ, भ्रान्ति, व्याप्ति ओर अन्त में समस्त जगत् को व्याप्त करके स्थित होने वाली 'चिति' शक्ति ही वास्तुपद की अधिष्ठातृ शक्ति है। जिस प्रकार वास्तुपद के अधिष्ठातृ देव वास्तुपुरुष के शरीर में ही वास्तुमण्डल के 45 देवता स्थित हैं। तथैव वास्तुपुरुष के भौतिक शरीर को पञ्चमहाभूत के माध्यम से प्रगट करने वाली अलौकिक शक्ति का नाम ही 'चिति' है, वही समस्त भौतिक स्वरूप में नगर विन्यास, देवालय, गृह, प्रासाद, जलाशय, आराम, राजद्वार, स्तूप, भूमिगत जलगत गुहा आदि के द्वारा हमारे समक्ष प्रगट होती है। हम यहां केवल सर्वविध निर्माण (चिति) उपयोगी एकाशीतिपद वास्तुमण्डल में वर्णित वास्तु के विभिन्न पदों में स्थित पञ्चचत्वारिंशत् देवों के प्रकृति, स्वरूप और लक्षण का विवेचन करेंगे।

आवासीय वास्तुपदविन्यास 81 पद का वास्तुपद विन्यास है। जिसमें 81 पदों में 45 देवता स्थापित किये जाते हैं। जिनके आवाहन पूजन ओर प्रार्थनापरक वैदिक एवं पौराणिक मन्त्रों से हम उनके प्रकृति स्वरूप और लक्षणों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। भारतीय वास्तुशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आवासार्थ पञ्च महाभूतों का प्रबन्धन करना ही वास्तु का प्रतिपाद्य है। ये पञ्चमहाभूत ही वैदिक काल से लेकर आज तक देवताओं के रूप में पूजित किये जाते रहे हैं। इन ही महाभूतों के विभिन्न स्वरूपों का दर्शन हमें वास्तुमण्डल के देवताओं के रूप में होता है।

ईशान कोण से आरम्भ कर अधोमुख स्थित वास्तु के शिरः स्थानीय एक पद में (ईशानकोणस्थ पद) में "शिखि" नामक देवता का आवाहन किया जाता है। आवाहन मन्त्र है[1] –

कर्पूरधवलं वाहनं शिखिनमेकपदम्।
आवाहयामि देवेशं शंकरं शिखिरूपिणम्।।
चतुर्हस्तं त्रिनेत्रं च स्रक् शूलं दक्षिणे करे।
डमरुं स्रुवकं वामे स्वाहोमासहितं विभुम् ।।
आगच्छ त्वं शिखिन्देव क्षेत्रेऽस्मिन् सन्निधो भव।

यहां कर्पूरधवल श्वेतवर्ण अग्नि का स्वरूप ही अभिप्रेत है। **स्वाहा** यज्ञमयी अग्नि का आहुति मन्त्र पूरक है। चतुर्हस्त और त्रिनेत्र क्रियामयी ऊर्जा तथा ज्ञानमयी ऊर्जा का प्रतीक है। डमरु और त्रिशूल क्रमशः शब्द शास्त्र के चतुर्दश सूत्रों (शब्द ज्ञान) और आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक त्रिविध दुःखों (शूलों) के निराकरणार्थ ज्ञानमयी श्वेत अग्नि का आवाहन हैं। **"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते"**[2] इत्यादि गीतोपनिषद् का उद्घोष यहां वास्तु के प्रथम पद स्थानीय देवता "शिखि" का दैविक भौतिक स्वरूप ही विभिन्न लक्षणों के द्वारा ज्ञात होता है। यही पञ्चमहाभूतों में अग्नितत्त्व का प्रथम स्वरूप शिखि नाम से ध्येय (ध्यान योग्य) है। यह अग्नि वास्तु के शिर में ज्ञानाग्नि स्वरूप में अवस्थित है –

"शिखी कर्पूरधवलस्त्रिनेत्रो वृषवाहनः।
वरत्रिशूलहस्तश्च वास्तोः शिरसि संस्थितः।।"[3]

इस अग्नि का वाहन (आधार) वृष स्वरूप में साक्षात् धर्म है। यही प्रथम देवता है।

81 वास्तुपद में द्वितीय पद (दक्षिणपद) नेत्रस्थानीय एक पद में पर्जन्य स्थित है। यह पर्जन्य जल तत्त्व का स्वष्प है। पर्जन्य (वृष्टि) मेघ के लक्षणों से युक्त यह देवता जलतत्त्व की शुद्धि, उपयोगिता, महत्त्व के अनेक स्वरूपों को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। कालिदास का मेघदूत में कथन हैं –

"धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः"।[4]

यहां भी आवाहन मन्त्र में कहा गया है –

---

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 52
2. श्रीमद्भागवतगीता 4/37
3. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 52
4. मेघदूत पूर्वमेघ श्लो. 5

"आवाहयामि पर्जन्यं यादसां मुख्यनायकम्
कुंभीरथसमारूढम् पाशहस्तम् वरप्रदम्।
नौस्थस्तडित्वान्पर्जन्यो नानावर्णपरिप्लुतः
ज्योतिर्भूताम्बुवाहात्मा वास्तोर्दक्षे दृशि स्थितः॥"[1]

नौका में स्थित, तडितवान् आकाशीय विद्युत् से युक्त अनेक वर्णमय ज्योतिर्भूत, अम्बुवाहात्मा इत्यादि लक्षण आकाशीय दिव्य जलराशी का स्वरूप ही पर्जन्य नाम से वास्तुमण्डल के द्वितीय देवता के रूप में पर्जन्य नाम से पूजित होता है।

पर्जन्य से दक्षिणस्थ अधः पद में वास्तु के श्रोत्र (कर्णेन्द्रिय) स्थानीय द्विपद "जयन्त" (इन्द्रपुत्र) वृष्टि के देवता के पुत्र रूप में ध्यातव्य एवम् आवाहनयोग्य है यथा –

"आवाहयामि तं देवं महेन्द्रतनयं प्रभुम्।
मुद्रिकाकंकणैर्युक्तं सर्वाभरणभूषितम् ॥
वरदाभयहस्तं च जयन्तं पूजयाम्यहम्॥"
"जटिलः श्मश्रुलः शान्तः कमण्डल्वक्षसूत्रभृत्।
जयन्तोऽब्जासनो गौरो वास्तोर्दक्षश्रवस्थितः॥"[2]

जयन्त नामक देवता का स्वरूप जटिल, श्मश्रुल, शान्त, अब्जासन (कमलासन) गौरवर्ण कमण्डलु आदि धारण सम्यक् वृष्टि (पर्जन्य) के उपरान्त प्राप्त होने वाली शान्त स्वच्छ जल राशि का प्रतीक है जो कि सभी प्रकार के अभय को देती प्रतीत होती है।

वास्तुमण्डल के वास्तुपद विन्यास में चतुर्थ क्रम पर स्थापित देवता जयन्त से दक्षिण दिशा में दो पद में वास्तुपुरुष के अंसस्थान (कन्धा) में कुलिश आयुध को धारण किये हुए इन्द्र देवता का ध्यान आवाहन एवं प्रार्थना इन्द्र के स्वरूप, प्रकृति और लक्षणों को इस प्रकार प्रकट करती है –

"एहि देव सहस्राक्ष देवारिबलसूदन ।
ऐरावतसमारूढ शचीहृदयनन्दन ॥
वज्रहस्तं सुराध्यक्षमिन्द्रमावाहयाम्यहम् ।
इन्द्र ऐरावतारूढो पीतो दैत्यविमर्दकः
कुलिशाक्षकरो वास्तोरंसस्थलसमाश्रितः ॥"[3]

वास्तु मण्डल के चतुर्थ क्रम पर स्थित यह **'इन्द्र'** देव, देवताओं के शत्रुओं के बल को क्षीण करने वाला, ऐरावत (श्वेत हाथी) समारुढ हैं। यह चतुर्विध पुरुषार्थ में मोक्ष

---

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 53
2. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 53
3. तत्रैव

का प्रतीक है। यह इन्द्र शची के हृदय नन्दन हैं। अतः गृह लक्ष्मी को प्राप्त होने वाले आनन्द के भी प्रतीक है। इनके हाथ में वज्र (आकाशीय जल की शक्ति है) । इनका वर्ण पीत है। पीत वर्ण आधिदैविक शक्ति का प्रतीक है। जिससे दैत्य (आसुरी भाव) का विमर्दन करने की शक्ति गृह स्वामी को प्राप्त होती है। इस प्रकार इस चतुर्थ देव 'इन्द्र' की प्रकृति देवभाव **'अतिथिदेवो भव' 'मातृदेवो भव' 'पितृदेवो भव' 'आचार्य देवो भव'** इत्यादि भावों के विरोधी भावों के बल को सूदन (क्षीणता) कर गृह को देवत्व से युक्त बनाती है।

इसके बाद वास्तुपदविन्यास में दक्षिण के पदद्वय में वास्तुपुरुष की दक्षिण बाहु में सूर्य देवता का वास है। इनके आवाहन के लिये इनकी प्रकृति स्वरूप व लक्षण ज्ञान इस प्रकार हैं –

"आवाहयामि देवेशं भास्करं तिग्मतेजसम्।
कलिंग काश्यपं रक्तं सप्ताश्वं सप्तरज्जुकम्॥
द्विभुजं पद्महस्तञ्च त्रैलोक्यतिमिरापहम्।
सर्वसौख्यप्रदातारं कर्मसाक्षिणमीश्वरम्॥
आगच्छ भगवन् सूर्य क्षेत्रेऽस्मिन् सन्निधो भव।
सूर्यो रक्तो ग्रहाध्यक्षो धृताब्जो द्विभुजः प्रभुः॥
सप्ताश्वरथगो भास्वान्वास्तोर्दक्षांससंस्थितः॥"[1]

यह सूर्य देव सप्ताश्व, सप्तरज्जु अर्थात् सप्ताह के सभी दिनों में सप्तविध रश्ययों से गृह को सर्वसौख्य से समन्वित करने वाले विशेष लक्षणों से युक्त हैं। प्रकृति से तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाला यह गृहस्वामी के आध्यात्मिक, दैविक, भौतिक लोकों के तिमिर (अन्धकार) का अपहरण करने वाला भी है। यह देवता गृह में निवास करने वालों के प्रत्येक कर्म (शुभाशुभ) का साक्षी भी है। यह दो भुजा, कमल को हाथ में लिए, रक्तवर्ण आदि लक्षणों से युक्त हैं। इस देवता सूर्य का स्वरूप और प्रकृति प्रभुता, कर्म पर नियन्त्रण, तिग्म तेज अर्थात् तेजस्वी बनने की शक्ति प्रदान करता है।

सूर्य से दक्षिणस्थ दो पदों में वास्तुपुरुष की दक्षिण प्रबाहू में **'सत्य'** नामक देवता का वास है। यह ब्रह्म का ही प्रतीक है, जिनके आवाहन ध्यान और प्रार्थना में इस देव का प्रकृति स्वरूप एवं लक्षण इस प्रकार वर्णित है –

"आवाहयामि तं सत्यं पुण्ययुक्तमकल्मषम्।
पद्महस्तं महाबाहुं वरदं निर्मलं शुभम्॥
ज्ञानमुद्राधरं देवं चिन्तितं ब्रह्म केवलम्।
आगच्छ देव सत्य त्वं क्षेत्रेऽस्मिन्सन्निधो भव॥

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 53

सत्यो भूतहितो धर्म्मो वरदाभयपाणिकः।
प्रसन्नाब्जनिभो वास्तोर्दक्षबाहौ च संस्थितः॥"[1]

यह सत्य नामक देव पुण्य युक्त, अकल्मष (पाप रहित) वरद, निर्मल, शुभ सभी प्राणियों के हित में रत, विकसित कमल के समान प्रसन्न रहने की शक्ति देने वाली प्रकृति से युक्त है। इनका स्वरूप और लक्षण दीर्घ भुजाओं अर्थात् अधिक कार्य करने की क्षमता, ज्ञान मुद्रा (अंगुष्ठ और तर्जनी के संयोग से उत्पन्न मुद्रा) जीव और ब्रह्म के ऐक्य समन्वयात्मक स्वरूप को प्रदर्शित करने की क्षमता, केवल **"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"**[2] **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"**[3] आदि विषयों को बोध कराने वाला, घर परिवार में ज्ञान की ज्योति जगाने वाला उत्तम लक्षणों के प्रभाव से युक्त सत्य स्वरूप ही सत्य देव का स्थान है।

सत्य देव से दक्षिण दिशा में दो पदों में वास्तु पुरुष के दक्षिणकूर्पर में **'भृश'** नामक देवता काम पुरुषार्थ के प्रतीक रूप में स्थित है। इसकी प्रकृति काम की पूर्ति करने वाली तथा तीनों भुवनों में सञ्चरणशील है। यथा आवाहन, ध्यान तथा प्रार्थना मन्त्रों से स्पष्ट है –

"आवाहयेऽहं भृशमादिदेवं सञ्चारशीलं भुवनत्रयेऽपि।
एकेन हस्तेन वरं दधानमभीष्टदानन्त्वपरेण तेन॥
भृशः पुष्पविमानस्थः सपुष्पेषुधनुः करः।
गौरो नादरतः कामी यो वास्तोर्दक्षबाहुगः॥"[4]

इसका स्वरूप द्विभुज है। एक हाथ से वरद मुद्रा तथा अपर हस्त से अभीष्ट वस्तुएं देने की क्षमता है। पुष्प के विमान पर स्थित कामदेव के पुष्पमय धनुर्बाण से मुक्त यह देवता गौरवर्ण तथा विशेष कामी है, अर्थात् घर परिवार में काम की पूर्ति कराना, परस्पर आकर्षण में बांधना इसका विशेष लक्षण है। उच्चनाद (स्वर) से युक्त इसका प्रभाव काममयनाद का गृह में श्रवण कराता है।

इसके अनन्तर दक्षिणपदस्थ वास्तुपुरुष के बाहू स्थान में एकपदीय **"आकाश"** नामक देवता आकाशतत्व की विभिन्न प्रकृति, स्वरूप और लक्षणों से युत है जो कि गृहप्राणियों के मध्य **'शब्दगुणकम् आकाशम्'** की प्रकृति के अनुरूप सम्बन्ध स्थापित कराने वाला है –

---

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 53
2. गीतारहस्य पृ. 229
3. तै. उ. 2/1
4. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 53–54

आवाहये तमाकाशं विष्णोः पदमनन्तकम्।
यत्र देवास्तथा यक्षा ग्रहाः सर्वे प्रतिष्ठिताः॥
आगच्छ त्वं महाकाश क्षेत्रेऽस्मिन् सन्निधो भव।
शंखचक्रधरं देवमसितं स्वस्तिकासनम्॥
सशब्दं सर्वगं व्योम प्रवाहौ चैव संस्थितम्॥[1]

आकाश की प्रकृति अनन्त का द्योतक है। महाकाश से घटाकाश तक समष्टि से व्यष्टि का सम्बन्ध स्थापित करना ही इसका लक्षण और स्वरूप है। समस्त देवता, यक्ष, ग्रह आदि को अपने अन्दर समाहित कर यह देवता गृहस्वामी को विशाल हृदय बनाता है। इसका स्वरूप शंख चक्र धारण किये हुए असितवर्ण स्वस्तिकासन (आकाशीय पूर्व दक्षिण पश्चिमोत्तर के विभिन्न तारागणों से निर्मित स्वस्तिकाकृति आसन) पर विराजमान शब्दशक्ति से सर्वत्र गमनशील लक्षणों से समन्वित है।

वास्तुमण्डल के अग्निकोणस्थ दक्षिण पद में एक पदीय **"वायुदेव"** जो कि वास्तुपुरुष के प्रबाहु स्थानीय देव के रूप में स्थित है, उनका आवाहन मन्त्र है –

आवाहयामि देवेशं भूतानां देहधारिणम्।
आगच्छ भगवन् वायो क्षेत्रेऽस्मिन् सन्निधो भव॥
वायुर्धन्वी मृगारूढो जगत्प्राणञ्चलो युवा।
अंकुशध्वजबिभ्राणः प्रवाहोर्दण्डसंस्थितः ॥[2]

यह वायु सञ्चार विशेष रूप से प्राणियों को देह की धारणात्मिका शक्ति से समस्त शरीर में रक्त सञ्चार तन्त्र को प्राणवायु (ऑक्सीजन) देने वाली प्रकृति की प्रधानता का प्रतीक है। यह वायु धन्वी (धनुषाकार) या धनुर्धारणवत् क्रियामय शरीर वाला, चल प्रकृति, युवा अवस्था, अंकुश (हाथी को नियन्त्रण करने वाला उपकरण विशेष) और धवजा (जीवन प्राण सञ्चारण की पताका) को धारण करने वाले लक्षणों व स्वरूप को प्रकट करने वाले वायुतत्त्व का प्रतीक है।

इसके पश्चात् दशम देवता के रूप में **"पूषन्"** अग्नितत्त्व की शक्ति विशेष विद्युत् का प्रतीक है। यह मण्डल के दक्षिण भाग में वायु के पद से नीचे एकपद में वास्तुपुरुष के मणिबन्ध में स्थित देव है। इसकी प्रकृति, स्वरूप व लक्षणों को व्यक्त करने वाला आवाहन, ध्यान और प्रार्थना परक मन्त्र है –

---

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 53-54
2. तत्रैव

आवाहयामि देवेशं पद्महस्तं वरप्रदम्।
रक्तवस्त्रपरीधानं विद्युदवर्णं महाबलम्।।
आगच्छ भगवन्पूषन् क्षेत्रेऽस्मिन् सन्निधो भव।
महास्वनः शोणवर्णो द्विभुजाब्जकमण्डलुः।।
पूषा गजासनः शुभ्रो मणिबन्धसमाश्रितः।।[1]

रक्त वस्त्र धारण करने वाला यह देवता शोणित व विद्युत् वर्ण, महाबलशाली, महान् शब्द करने वाला, दो भुजा से युक्त शुभ्र वर्ण भी है। इसका गज वाहन है इस प्रकार यह देव घर में विद्युत् आपूर्ति का प्रतीक है तथा महाबलशाली है।

पूषा से अधः स्थानीय दो पद में दक्षिण पार्श्व में **"वितथ"** नामक देवता का आवाहन स्थापन करें। इसके पूजा विधान व आवाहन मन्त्र है–

"आवाहयेत्तं वितथं पुराणं द्यावापृथिव्यन्तरचारिणं च ।
गृहाण पूजां चणकौदनाख्यां बलिं च गृह्णन्भगवन्नमस्ते।।"[2]

इसका स्वरूप है –

कृष्णवर्णस्तु वितथः कलेरप्रतिमासनः।
मद्यमांसालयो रक्तकरश्चालस्यपार्श्वगः।।[3]

कृष्णवर्ण स्वरूप का यह देवता मद्यमांस के आलय में रहने का प्रेमी, रक्तपात की प्रकृति वाला व आलसी स्वभाव वाला है। इसकी गति आकाश और पृथ्वी के अन्तर में भ्रमणशील होना है । यह चना और ओदन की बलि से प्रसन्न होता है। इस देवता के दोष से सन्तान में आलस्य, मद्य–मांस की प्रवृत्ति बनती है तथा पूजन से इन सब प्रकार की प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण होता है।

इसके दक्षिण पार्श्व में अधःस्थ दो पदों में **"गृहक्षत"** नामक देवता का वास है। घर–परिवार में स्वस्ति की भावना से इस देवता का पूजन किया जाता है। इस देवता की प्रकृति क्रूर है तथा आवाहन मन्त्र है –

आवाहयामि त्वां देव गृहक्षत समाख्यक।
पूजां गृहाण देवेश मम स्वस्तिकरो भव।
गृहक्षतः पाटलांगो गदासिवरचर्मभृत्
पंचास्यवाहनः क्रूरो वास्तोर्दक्षकटिस्थितः।।[4]

---

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 54
2. तत्रैव
3. तत्रैव
4. तत्रैव

इसका वर्ण पाटल है। गदा, तलवार तथा श्रेष्ठ चर्म का वस्त्र धारण करता है। इसका वाहन सिंह है। वास्तु की दक्षकटि में यह देवता स्थित है । इससे स्वस्ति (कल्याण) की प्रार्थना गृहसुरक्षा और कल्याण के लिये की जाती है।

इसके पश्चात् वास्तुपुरुष के दक्षिणोरुभाग में दक्षिण दिशा में दो पदों में मृत्यु का देवता **"यम"** स्थित है इसकी विशेष प्रार्थना, आवाहन पूजा इसके वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करती है –

आवाहयामि देवेशं दक्षिणां दिशमाश्रितम्।
महिषे च समारूढम् अञ्जनाद्रिसमप्रभम्।।
चित्रगुप्तसहायकं तम् दण्डमुद्गरधारिणम्।
सप्तर्षिभिः समायुक्तं धर्माधर्मप्रवर्तकम्।
लोकसंयमनार्थाय किंकरैः परिवारितम्।।
आगच्छ भगवन्धर्म क्षेत्रेऽस्मिन्सन्निधो भव।।
रक्ताक्षो महिषारूढो दण्डपाशधरो यमः।
कर्मज्ञोऽञ्जनसंकाशो वास्तोर्दक्षिणसंश्रितः।।[1]

वास्तुमण्डल में दक्षिण दिशा के ठीक मध्य में एकाशीति पद में दो पद में स्थित दण्ड और पाश को धारण करने वाले, महिष पर समारूढ, काले अञ्जन के पहाड़ के समान विशाल आकृति वाले, चित्रगुप्त (पाप पुण्य के हिसाब रखने वाले) सहायक से युक्त कदाचित् दण्ड और मुद्गर धारण करने वाले भी स्वरूप से युक्त है। विशेषता यह है कि यह धर्माधर्मप्रवर्तक देवता सप्तर्षि से संयुक्त हैं।

समस्त लोक का संयमन करने वाले किंकरों से घिरे रहने वाले यह यम देव धर्म नाम से भी विख्यात है। ऐसे देवता को क्षेत्र में सन्निधि की भावना से आवाहन किया जाता है। यह देवता घर में निवास करने वाले प्रत्येक सदस्य के कर्म का ज्ञान रखने वाले तथा रक्ताभ लाल आखों वाले क्रूर प्रकृति से युक्त हैं। दक्षिणमुखी मकानों में तो यह देव द्वार के आस-पास ही ठीक हैं परन्तु इनके पद पर द्वार बनाना घर को मृत्यु का स्थान ही बना देता है, अतः दक्षिण दिशा में द्वार बनाते समय यम के पद पर द्वार स्थापन का निषेध है।

यम से नीचे के दो पदों में वास्तुपुरुष के दक्षिण जानु प्रदेश में **'गन्धर्व'** नामक देवता का स्थान है। घर में गान, वादन, नृत्यसंगीत का यह देवता प्रकृति के मनोरंजनात्मक स्वरूप और लक्षणों का प्रतीक है यथा–

आवाहयामि गन्धर्व षड्विंशरागतत्परम्।
वीणां गृहीत्वा हस्तेन तद्वादनरतं विभुम् ।।

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 54-55

अप्सरोगणसंकीर्ण नानागन्धैश्च चर्चितम्।
गन्धर्व त्वमिहागच्छ पूजये प्रतिगृह्यताम्।।[1]

इस देवता का लक्षण है कि यह देवता वीणा के द्वारा 26 राग बजाने में तत्पर है। अनेक प्रकार के सुगन्धित पदार्थों का सेवन करने से चर्चित रहता है। अनेक अप्सराओं से (सर्वविध स्त्रियों से) घिरा रहने वाला यह देवता गानवादनरत रहता है। इसका स्वरूप है –

सुष्ठुवेषः शिखी गौरो गन्धर्वो ध्यानवच्छुचिः।
वीणाकमण्डलुधरो वास्तोर्दक्षिणजानुगः।।[2]

यह सुन्दर वेष अर्थात् अच्छे वस्त्र धारण करने वाला गौरवर्ण है तथा सिर पर शिखा वाला है। ध्यान मग्न मुद्रा, वीणा कमण्डलु धारण करने वाला यह देवता मानव जीवन में अध्यात्म व संगीत का समन्वय स्थापित करता है।

इसके पश्चात् गन्धर्व से नीचे के दो पदों में वास्तुपुरुष की दक्षिण जंघा में **'भृंगराज'** नामक दो पदों में स्थित देवता का वास है। प्रकृति लक्षण और स्वरूप ज्ञानार्थ भृंगराज का आवाहन व प्रार्थना मन्त्र द्रष्टव्य है –

आवाहयामि तं देवं भृंगराजं महाबलम्।
षट्पदैः सेव्यमानञ्च कुसुमामोदसंयुतम्।।
आगच्छालिकुलं त्वं हि क्षेत्रेऽस्मिन् सन्निधोभव ।
सुनीलांगो महाकायः कुंकुमारुणविग्रहः।
खड्गखेटधरो वास्तोर्दक्षजंघासमाश्रितः।।[3]

षट्पदों (भ्रमरों) से सेव्यमान, सुगन्धित परागयुक्त पुष्पों से संयुत होना लक्षण है। साक्षात् भ्रमरों का समूह इसका लक्षण है। सुन्दर नील वर्ण के अंगों वाला, महान् (विशाल काय) कुंकुम से उपमा देने योग्य अरुण विग्रह (स्वरूप) वाला, खड्ग और खेट धारण करने वाला यह देवता वीरता युद्ध के लक्षण और ग्रहों (खेट) से ओत प्रोत है। वैदिक मन्त्र के आधार पर इस देवता का सम्बन्ध यम, पितर और धर्म से भी है।

इसके पश्चात् वास्तुपद विन्यास का 16 वां देवता एकपदिक **'मृग'** है, जो कि वास्तुपुरुष के दक्षिण स्फिक् में प्रभावशील है। इसका आवाहन मन्त्र है –

मृगमावाहयिष्यामि शशांककृतचिह्नकम्।
कृष्णवर्ण चतुष्पादं श्वेतोदरविषाणकम्।।
आगच्छ भगवन्मेष क्षेत्रेऽस्मिन् सन्निधो भव।।[4]

---

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 55
2. तत्रैव
3. तत्रैव
4. तत्रैव

इनका स्वरुप कृष्णवर्ण चतुष्पाद है। तथा मृग स्वरूप में चन्द्रमा के चिन्ह से चिन्हित श्वेतोदर और विषाण (पुच्छ) से युक्त है। इनका लक्षण और प्रकृति इस प्रकार है –

मृगः कृष्णो भूषितांगो वरदाभयमुद्रिकः।
वरासनश्चारुनेत्रो वास्तो दक्षिणस्फिक्स्थितः।।[1]

मृग की प्रकृति वाला यह देवता अंगों में आभूषण पहिने हुए वरद और अभय मुद्रा युत लक्षण वाला है। श्रेष्ठ आसन पर बैठने वाला सुन्दर नेत्रों से युक्त भी है।

इसके पश्चात् 17 वां देवता **"पितृगण"** हैं। इनके आवाहन से इनका स्वरूप समझा जा सकता है यथा –

पितृनावाहयिष्यामि सोमपादीननुक्रमात्।
पिंगाक्षान्कपिलजटान्हस्ते कुशकमण्डलून्।।
दधानान् सितवस्त्राणि सितयज्ञोपवीतिनः ।
गृहणीयुः कृसरान्नं च पितृन् सम्पूजयाम्यहम्।।[2]

मृग से अधः स्थित पद में नैर्ऋत्य कोण में वास्तु पुरुष के पैरों में पितरों का स्थान है। ये पितृगण सोमपा है। जिनके नेत्र पिंगलवर्ण तथा जटाएं कपिल हैं। **'सोमपा' 'अग्निष्वाता' 'बर्हिषद'** इत्यादि पितृगण अनुक्रम से वास्तुपुरुष के चरणों में वास्तुमण्डल के नैर्ऋत्य कोण में प्रतिष्ठित हैं। इनकी प्रकृति, स्वरूप और लक्षण प्रार्थना के इस मन्त्र से भी स्पष्टतः ज्ञात होती है –

कुशपिण्डधराः स्वस्थाः पितरः श्यामलंगकाः।
महोदराः सोमलोकवासिनो वास्तुपादगाः।।[3]

ये सभी स्वस्थ हैं, श्यामल अंग वाले है, महोदर अर्थात् बड़े पेट वाले हैं। कुश और पिण्डों को धारण करते हैं। श्वेतवस्त्र धारण करते हैं। यज्ञोपवीत भी श्वेत हैं। कृसरान्न को ग्रहण करते हैं। वेद मन्त्र से ज्ञात होता है कि गृह में पवित्रता बनाये रखने से पितर शतायु देते हैं।

मण्डल के पश्चिम भाग में नैर्ऋत्य कोण से उत्तर वास्तुपुरुष के वाम स्फिक् में एकपदीय **'दौवारिक'** नामक देवता का स्थान है। सभी प्रकार की रक्षा करने वाले इस देवता का आवाहन मन्त्र है –

एहयेहि दौवारिक रक्षणाय द्वाराणि सर्वाणि च मन्दिरस्य।
पैष्टम् बलिम् वासितदन्तकाष्ठम् गृहाण पूजां भगवन्नमस्ते।।[4]

---

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 55
2. तत्रैव
3. तत्रैव
4. तत्रैव

घर में सभी द्वारों का प्रतिनिधि भूत यह देवता द्वार रक्षा करने के प्रमुख दायित्व व प्रकृति से युक्त है। पैष्ट बलि व दन्तकाष्ठ से वासित है। इसके स्वरूप के बारे में वर्णन हैं –

दौवारिको वेत्रमुद्राधरो भूतिविभूषितः।
मुक्ताभपादुकारूढो वास्तोर्वामस्फिचि स्थितः।।[1]

वेत्रमुद्रा को धारण किये हुए भूति (ऐश्वर्य) से विभूषित, मुक्ता के समान आभा वाले पादुका पर आरुढ (स्थित) यह देवता समस्त सन्तान की रक्षा में तत्पर रहता है।

इसके पश्चात् इससे उत्तर पदों में द्विपद में (ऊर्ध्व पदों) में स्थित, वास्तुपुरुष की वाम जंघा में **'सुग्रीव'** नामक देवता स्थित है। यह विभिन्न कामनाओं को पूर्ण करने वाला देवता पाषाण और वृक्ष को धारण करने वाले, पद्मासन युक्त, हेमवर्ण और द्विभुजाओं से युक्त स्वरूप वाला है यथा–

आवाहये तं कपिराजमुख्यम्।
सुग्रीवराजं नभमण्डलेऽस्मिन्।।
पाषाणवृक्षौ दधतं कराभ्याम्।
गृहाण पूजां भगवन्नमस्ते।।
पद्मासनो हेमवर्णः सुग्रीवोऽध्वरगात्रभृत्।
द्विभुजः कामदो वास्तोर्वामजंघासमाश्रितः ।।[2]

भगवान् राम के सीता अन्वेषण में मुख्य भूमिका निभाने वाला यह देव मार्ग में भी घर परिवार के सदस्यों की रक्षा कर विभिन्न कामनाओं को प्रदान करने की प्रकृति वाला है तथा यह देवता नभोमण्डल में अपना स्वरूप प्रकट करता है।

इसके बाद सुग्रीव से उत्तर स्थित दो पदों में वास्तुमण्डल के वामजानुप्रदेश में **"पुष्पदन्त"** नामक देव स्थित है। यह देवता गणपति का ही एक रूप है –

आवाहयामि देवेशं पुष्पदन्तं विनायकम्।
लम्बोदरं महाकायं गजवक्त्रं चतुर्भुजम्।
सिद्धिबुद्धिसमायुक्तं सर्वविघ्नविनाशनम्।
पुष्पदन्त समागच्छ पूजेयं प्रतिगृह्यताम्।
पुष्पदन्तोऽभ्रसंकाशः खगपक्षविराजितः।
महाबलो व्यालहस्तो श्रीवास्तोर्वामजानुगः ।।[3]

---

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 56
2. तत्रैव
3. तत्रैव

यह देवता भगवान् गणपति के लम्बोदर, महाकाय गजमुख, चतुर्भुज तथा सिद्धि व बुद्धि समन्वित स्वरूप से युक्त है। सर्वविघ्नविनाश करने की प्रकृति है। अभ्र (आकाश) संकाय, खगपक्षविराजित व्यालहस्त लक्षण है। वैदिक मन्त्र के अनुसार विभिन्न औषधियों द्वारा गृह सदस्यों को बल देने वाला यह देवता पुष्प के दन्त वाला है।

पुष्पदन्त से उत्तर स्थित द्विपदों में वास करने वाला जलनायक **"वरुण"** देवता वास्तुपुरुष के वामोरु अंग स्थानीय है। जल तत्त्व के अधिष्ठाता इस देवता का स्वरूप, प्रकृति व लक्षण इस प्रकार से है –

आवाहयामि देवेशं वरुणं जलनायकम्।
कुंभीरथसमारूढं श्वेताद्रिशिखिरोपमम्।
पाशहस्तं महाबाहुं यादोगणसमन्वितम्।
आगच्छ वरुण त्वं हि क्षेत्रेऽस्मिन् सन्निधो भव॥
वरुणो यादसां नाथो नक्रस्थः पाटलांशुकः।
शंखपाशधरः शुभ्रो वास्तोर्वामोरुसंश्रितः॥[1]

पाटलांशुक कुंभीरथ पर समारूढ श्वेत पर्वत के शिखर हस्त में पाश और शंख धारण करने वाला नक्र (मकर) पर स्थित शुभ्रवर्ण का यह देवता यादों गण (जलजन्तुओं के समूह) से समन्वित है। इसकी प्रकृति जल तत्त्व की आपूर्त्ति के द्वारा गृह सदस्यों को सुख देने वाली है। बड़ी-बड़ी दीर्घ भुजाओं से जलनायकत्व होना इसका लक्षण है।

वास्तुमण्डल में इससे उत्तर द्विपदवासी **"असुर"** देव स्थित है। इसका आवाहन इस प्रकार किया जाता है –

असुर त्वं समागच्छ रक्षोगणसमन्वितः।
शक्तिशूलधरो नित्यं रक्ताक्षश्च महाबलः ॥
हिरण्यपाशभृद् देव पूजां स्वीकुरु मे प्रभो ।
असुरो मेचकाभासः करालास्योंऽगवर्जितः।
सिंहारूढो वारुणाक्षो वास्तोर्वामकटिस्थितः॥[2]

वास्तुपुरुष के वामपार्श्व (वामकटि) में स्थित यह देवता रक्षोगण (राक्षसों के समूह) से समन्वित है। शक्ति और शूल (त्रिशूल) धारण करने वाला, रक्ताक्ष (लाल आखों वाला) स्वर्णमय पाश धारण करने वाला, यह देवता सिंह पर आरूढ स्वरूप वाला है। इसका विशेष लक्षण मेचकाभास (श्यामल वर्ण) करालास्य (भयानक मुख) व अंग वर्जित होना है तथापि महाबली यह देवता स्वर्ण पाश में सभी को बांधने वाला नित्य प्रभावशाली है।

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 56
2. तत्रैव

इससे उत्तर दो पदों में वास्तुमण्डल के वामपार्ज़्व में **'शेष'** नामक देवता का वास है। इनके आवाहन मन्त्र में इस देवता का स्वरूप और प्रकृति तथा लक्षण इस प्रकार है–

आवाहयामि देवेशं पातालतलवासिनम्।
सहस्रशिरसं नागं फणामणिविराजितम् ।।
कर्पूरविशदं देवं नागराजं महाबलम्।
परोपकारनिरतमनन्तं विष्णुवाहनम्।।
आगच्छ नागराज त्वं क्षेत्रेऽस्मिन् सन्निधो भव।
शेषः कृष्णतनुः शूरो वरशूलेषुचापभृत्।
गृध्रपक्षः कृशो दीर्घो वास्तोर्वै वामपार्श्वगः।।[1]

शेषनाग सर्प जाति का देवता है। वास्तुमण्डल का यह **'शेष'** कृष्णतनु होते हुए भी कर्पूर विशद (श्वेताभा वाला है) इसके सहस्र शिर (फण) हैं। नागों का राजा व महाबलशाली होना इसका लक्षण हैं। अनन्त नाम से भी प्रसिद्ध, विष्णु का वाहन (शैया) यह देवता शूरवीर प्रकृति है। इस शेषनाग के गृध्र के समान उड़ने के लिए पक्ष भी है। मध्य से कृश दीर्घ (लम्बी) आकृति वाला यह देवता शूल, बाण, धनुषधारी भी है तथा सबसे विशेष बात है कि यह परोपकार निरत रहने की प्रकृति से युक्त है।

इससे उत्तर उपरि पदों से जघंस्थ एकपद में वास्तुपुरुष के वाम मणिबन्ध में **"पापयक्ष्मा"** नामक देवता स्थित है। पापपुण्य में पाप के अधिष्ठाता इस देवता का स्वरूप इस प्रकार है –

आवाहयामि तं पापं नाम्ना यक्ष्मेति विश्रुतम्।
निर्भयं निर्घृणं चैव शक्तिपाणिं महाबलम्।।
आगच्छ भगवन्पाप पूजा मे प्रतिगृह्यताम् ।
पापयक्ष्मा धूम्रवर्णो गदावरदमुद्रिकः ।
कपोतवाहनो वामे मणिबन्धे समाश्रितः।।[2]

"पाप यक्ष्मा" नामक देवता का वाहन कपोत है। निर्मास निर्घृण होते हुए भी शक्ति–पाणि, धूम्रवर्ण, गदा और वरद मुद्रा धारित इसका विशेष स्वरूप है। मनुष्य के पापों का हिसाब रखना इसकी प्रकृति नामकरण से ही सिद्ध है।

इससे उत्तर वायव्यकोणस्थानीय एकपद में वास्तुपुरुष की वाम प्रबाहू में **'रोग'** नामक देव का वास है। इसका स्वरूप है –

---

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 56
2. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 57

आवाहयामि तं रोगं वातादित्रिगुणात्मकम्।
त्रिपादं त्रिशिरो रक्तनेत्रं भस्मविभूषितम्।।
लोकानां च सुखं देहि बलिभिर्घृतमोदकैः।
पूजां गृहाण भो रोग क्षेत्रेऽस्मिन् सन्निधो भव ।।
रोगः पापधरो रक्तो दुरात्मा व्याधिसंग्रहः।
दुष्कर्ममर्दको वास्तोवामदोर्दण्डसंस्थितः।।[1]

वह रोग नामक देवता वात पित्त कफात्मक तीनों गुणों की प्रकृति से युक्त है। तीन पैर, तीन शिर, रक्तनेत्र और भस्म से विभूषित इसका स्वरूप है। घृत के मोदक की बलि (भोजन) से यह देव सन्तुष्ट होता है। पापों को धारण करना, व्याधियों (रोगों) का संग्रह करना, दुरात्मा होना तथा दुष्कर्मों का मर्दन करना इसका लक्षण है।

इसके पश्चात् वास्तुमण्डल के उत्तर भाग में वायव्य कोण स्थानीय ऊर्ध्वपद में वास्तु पुरुष के वाम बाहू में एकपदिक **'अहि'** नामक देवता का वास है इसका स्वरूप है –

अहिमावाहयिष्यामि त्रैलोक्यान्तरचारिणम्।
शेषवंशे समुद्भूतं चक्षुः-कर्ण-महीश्वरम्।।
आगच्छ त्वं हि नागेन्द्र क्षेत्रेऽस्मिन् सन्निधो भव।
अहिराजोऽब्जवच्छुभ्रः फणामणिविराजितः।
अक्षकुंडधरो वास्तोर्वामबाहौ च संस्थितः।।[2]

श्वेतकमल के समान शुभ्र (स्वच्छ) वर्ण, फणों पर मणि सहित विराजमान, अक्ष कुण्ड को धारण किये हुए स्वरूप वाला यह देवता तीनों लोकों के अर्न्तभाग में सञ्चरणशील प्रकृति से युक्त है। शेषनाग के वंश में उत्पन्न होने वाला यह अहि नामक देव चक्षुः कर्ण और मही के आधिपत्य करने वाले लक्षणों से युक्त है।

इससे ऊर्ध्व स्थित दो पदों में वास्तु पुरुष के वामकूर्पर में विश्वकर्मा का प्रतिनिधि **'मुख्य'** नामक देवता स्थित है। इसके आवाहन व प्रार्थना मन्त्रों द्वारा इसका स्वरूपादि इस प्रकार वर्णित है –

आवाहयामि तं शैवं गणानां मुख्यनायकम्।
जटाजूटधरं सौम्यं शूलपट्टिशधारिणम्।।
नमस्ते मुख्य देवेश क्षेत्रेऽस्मिन् सन्निधो भव।
मुख्योऽसौ विश्वकर्मा तु वास्तुकुंभाक्षसूत्रधृक्।
निपुणस्तु लुलायस्थो वास्तुवामभुजाश्रितः।।[3]

---

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 57
2. तत्रैव
3. तत्रैव

वास्तु की वाम भुजा में निवास करने वाला शिव का पूजक वास्तु कर्म के सभी लक्षणों से युक्त शिव गणों का मुख्य नायक, जटाजूटधारी, शूल पट्टिश धारण करने वाले शिव सदृश स्वरूप वाला है। इसकी प्रकृति सौम्य है। अनेक वास्तु सम्बन्धी कार्यों में निपुणता, वास्तुकुंभ अक्ष और सूत्र को धारण करना इस **'मुख्य'** देवता का लक्षण है।

इस देवता के ऊर्ध्व स्थित दो पदों में वास्तु के वाम बाहू में **'भल्लाट'** नामक देवता है, जो कि भीलवेश धारी शिव का ही स्वरूप है। इनकी प्रकृति और लक्षणादि इस प्रकार है –

आवाहयामि देवेशं भल्लाटं शिवरूपिणम्।
भिल्लवेषधरं कृष्णं धनुर्बाणादिधारिणम् ॥
भिल्लमोहनकर्तारं बर्हिपिच्छैस्त्वलङ्कृतम्।
आगच्छ भगवन्देव क्षेत्रेऽस्मिन् सन्निधो भव ॥
भल्लाटश्चन्द्रसंकाशो वरमुद्रागदाधरः ।
हयपुत्रो वास्तुपुंसो वामदो मूलदेशगः॥[1]

शिव का ही स्वरूप यह देव भील का वेष धारण करने वाला, कृष्णवर्ण, धनुष, बाण और तलवार धारण करने वाला, भीलों को सम्मोहित करने वाला मोर के पंखों से अलंकृत है। चन्द्रमा के समान संकाश इसका लक्षण है। वरद मुद्रा और गदा धारण करना इनका स्वरूप है। इनका विशेष परिचय है कि यह देव हयपुत्र (हयग्रीव का पुत्र) है।

इस भल्लाट के स्थान से ऊर्ध्व स्थानीय पद द्वय में वास्तु पुरुष की वाम प्रबाहू में **'सोम'** नामक देव का आवाहन किया जाता है–

आवाहयामि देवेशं शशांकं रजनीपतिम्।
क्षीरोदधिसमुदभूतं हरमौलिविराजितम्।
सुधाकरं द्विजाधारं त्रैलोक्यप्रीतिकारकम्।
औषधाप्यायनकरं सोमं कन्दर्पवर्धनम्।
आगच्छ भगवन्सोम क्षेत्रेऽस्मिन्सन्निधो भव।
सोमो नरविमानस्थो वरहस्तो गदाधरः।
गौरो महोदयः श्रीमान् वास्तोर्वामांससंस्थितः॥[2]

आकाशस्य चन्द्रमा की शीतलता का प्रतीक सोमदेव रात्रि का स्वामित्व रखने वाला समुद्र से उद्भूत शिव के सिर पर विराजमान होने के लक्षणों वाला है। अमृत (जीवनी शक्ति) व रोग विनाशक औषध की आपूर्ति इसकी प्रकृति है। नरविमानस्थ, वरदमुद्रा, गदा धारण किए हुए, गौरवर्ण, महान् उदर वाला इसका स्वरूप है। द्विजों को सहारा देना तथा

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 57
2. तत्रैव

कन्दर्प की वृद्धि करना इसका लक्षण है।

इससे ऊर्ध्व स्थानीय दो पदों में वास्तु पुरुष के वामांस में **सर्प का** आवाहन किया जाता है –

आवाहयेच्च तं नागं फणसप्तकसंयुतम्।
आगच्छोरगराजंस्त्वं क्षेत्रेऽस्मिन् सन्निधो भव॥
कुम्भमालाधरो द्वाभ्यां चतुर्बाहुफणामणिः।
सर्पो रक्तभ्रमो वास्तोर्वामोरुस्थलमाश्रितः॥[1]

उरगों (पेट से चलने वाले जीवों) का राजा, सात फणों वाला नाग, दो हाथों में कुंभ (जलपूर्ण कलश) और माला धारण किये हुए, फणों पर विराजमान मणि तथा शरीर पर रक्तभ्रमि (चिन्ह) से युक्त स्वरूप है। जलपूर्ण कलश से विषशान्ति तथा माला के जप से अरिष्टनिवारण करने वाली प्रकृति और लक्षणों से युक्त यह देवता है।

इससे ऊपर के दो पदों में वास्तुपुरुष के वाम श्रोत्रांग में देवमाता **'अदिति'** का स्थान है–

आवाहयामि तां देवीमदितिं देवमातरम्।
द्विभुजां पद्महस्तां च सर्वाभरणभूषिताम्॥
कज़्यपस्य प्रियां भार्यां सुरूपां वामलोचनाम्।
समागच्छादिते त्वं हि क्षेत्रेऽस्मिन्सन्निधा भव॥
सूत्रवज्रांकुंशाशीतीर्बिभ्राणाख्यानभूषिता।
अदितिश्चारुगौरांगी वास्तोर्वामश्रुतिस्थिता ॥[2]

देवताओं की माता **'अदिति'** दो भुजा, पऍहस्ता, सभी आचरणों से भूषित सुन्दर स्वरूप वाली है। सूत्र, वज्र, अंकुश आदि को भी धारण करने वाली यह देवी आख्यान भूषिता के विशेष लक्षणों से भी युत है। ऋषि (कश्यप) की प्रिय भार्या होना इसका विशेष लक्षण और प्रकृति है।

इसके ऊपर एकपद में वास्तु के वाम नेत्र में दिति का स्थान है। ये दैत्यमाता शुभ्रांगी द्विभुजधारिणी शूल व पट्टिश धारण किये हुए है। इनका लक्षणादि इस प्रकार है–

दितिमावाहयिष्यामि दैत्यानां चैव मातरम्।
शुभ्रांगीं द्विभुजां चैव शूलपट्टिशधारिणीम्॥
दितिस्तु श्यामला खड्गधारिणी शूल धारिणी।
वृषासना वास्तुपुंसो वामलोचनसंस्थिता॥[3]

---

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 58
2. तत्रैव
3. तत्रैव

सर्वप्रथम देव शिखि से अधः स्थित कोण में एकपदिक **'अप'** देवता का आवाहन किया जाता है –

आप आवाहयिष्यामि सर्वदा वरदाः शिवाः।
आपस्त्वायान्तु सततं पवित्रमंगलावराः।।
समागच्छन्तु आपो वै कुर्वन्त्वस्मिन् हि सन्निधिम्।
आपो नीलाः पीतवस्त्रघनाः पद्मभूषणाः।।
अक्षाब्जपाशपात्राणि बिभ्रत्यो वास्तुवक्त्रगाः।।[1]

'अप' नामक सतत पवित्र मंगलकारी देवता निरन्तर पवित्रता और मंगल करने की प्रकृति से युक्त है। नीलवर्ण, गहरे पीतवस्त्र धारण करना लक्षण है। पद्मभूषण, रुद्राक्ष, कमल, पाश, पात्र धारित इसका स्वरूप है। वास्तुपुरुष के मुख में स्थित यह देव शुद्ध पवित्र पानीय जल की पूर्ति करने वाला विशेष देवता है।

इसके पश्चात् अप से आग्नेय पद के अधः कोण में वास्तु के दक्षिण हस्त में अन्धकार निवारक **'सावित्र'** नामक देव का आवाहन किया जाता है –

हे सावित्र त्वमागच्छ सर्वधवान्तनिवारक।
पूजां गृहाण देवेश मया भक्त्या समर्पिताम्।।
सावित्रो द्विभुजःपद्मगौरः पद्मासनस्थितः।
वेदपाठरतो नित्यं वास्तोर्दक्षकराश्रितः।।[2]

वेदपाठरत रहना और सर्वविधधवान्त (अन्धकार) निवारण करना **'सावित्र'** की प्रकृति है। दो भुजा, पद्म के समान गौर, पद्मासन में संस्थित स्वरूप है। घर परिवार को वैदिक संस्कृति में रत करना इसका लक्षण है।

निर्ऋति कोण में पितृ गण के ऊर्ध्व पद में वास्तुपुरुष के मेढ्र स्थान (गुप्तस्थान) में **'जय'** नामक एकपदिक देवता का आवाहन किया जाता है –

आवाहयामि तं देवं जयं यष्टिविधारकम्।
जय त्वं हि समागच्छ क्षेत्रेऽस्मिन् सन्निधो भव।।
जयो वज्रधरो देवो महोऽग्रोऽतुलविक्रमः।
पीतवर्णो गजारूढो वास्तोर्मेढ्रसमाश्रितः।।[3]

यष्टि विधारक, वज्रधारण करने वाला, पीत वर्ण, गजारूढ इसका स्वरूप है। महान् उग्र इसकी प्रकृति है। अतुल विक्रमशाली होना इसका लक्षण हैं।

---

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 58
2. तत्रैव
3. तत्रैव प्र. 58-59

इसके उपरान्त वास्तुमण्डल के वायव्य कोण में एकपद में वास्तुपुरुष के वाम हस्त में **'रुद्र'** का आवाहन किया जाता है। **'रोदनात् रुद्रः'** परिभाषा के अनुसार यह देवता शिव की उग्र प्रकृति का प्रतीक है तथापि वास्तुमण्डल में यह सौम्य देवता के रूप में स्थित है यथा –

आवाहयामि तं रुद्रं सर्वदा शंकरं विभुम्।"
उमाधिष्ठितवामांगं वरदाभयहस्तकम्।।
जटागंगाधरं सौम्यं कर्पूराद्रिसमप्रभम्।
आगच्छ भगवन् रुद्रक्षेत्रेऽस्मिन् सन्निधो भव।।
रुद्रो गोस्थो जटी त्र्यक्षोऽरुग्वराभयसूत्रधृक्।
शुभ्रः कृत्यम्बरो वास्तोर्वामपाणितलाश्रितः।।[1]

वास्तु पुरुष के वामहस्त के तल में स्थित यह **'रुद्र'** नामक देवता प्रकृति से सौम्य है। कल्याण करने व व्यापकत्व होने की विशेष प्रकृति व इसका लक्षण है। वाम भाग में अधिष्ठित उमा (माता पार्वती) से युक्त, वरद और अभय देने की हस्तमुद्रा, जटाओं में गंगा को धारण करने वाला कर्पूर (श्वेत वर्ण) के पर्वत के समान आभा, गोस्थ (नन्दी पर स्थित), जटा धारी, त्र्यक्षयुक्त (त्रिनेत्र), रोग रहित, सूत्र धारी, शुभवर्ण कृत्यम्बर (बाघाम्बर) धारी होना इनका स्वरूप है।

पुनः वास्तुमण्डल के मध्य में संल्लग्न पूर्व दिशा स्थित पदत्रय में वास्तु पुरुष के दक्षिण स्तन में त्रिपद **'अर्यमा'** का आवाहन इस प्रकार करें –

अर्यमन् कुरु मे भद्र संज्ञया सह सर्वदा।
गृहाणेमां मया दत्तां पूजां देव नमोस्तु ते।।
अर्यमाऽर्जुनवर्णस्तु दीप्तिमान् रथवाहन।
सुपद्ममाली खट्वाङ्गी वास्तोर्दक्षस्तनस्थितः।।[2]

भगवान् सूर्य का स्वरूप विशेष पंच–महाभूतों में तेज तत्त्व का ही वाचक यह अर्यमा देवता 'भद्र' (कल्याण) करने की प्रकृति से युक्त हैं। 'संज्ञा' नामक सूर्यपत्नी के साथ सर्वदा रहता है। यह अर्जुन वर्ण, दीप्तिमान, रथ पर स्थित सुन्दर पद्म (कमल) को धारण किये हुए, खटवाङ्ग से युत स्वरूप वाला है। ये गृह परिवार के सदस्य भद्रपुरुष के रूप में विख्यात तथा दीप्तिमान् (कान्ति युत) रहते हैं।

उससे दक्षिण (आग्नेयकोण) में वास्तुपुरुष के दक्षिण हस्त में एकपदिक **'सविता'** नामक देवता स्थित है। इसका आवाह्न मन्त्र है –

---

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 59
2. तत्रैव

आवाहये सवितृमण्डलमध्यसंस्थाम्।
सप्ताश्ववाहनयुतं धृतपंकजं त्वाम्।।
कर्पूरकुण्डलविधारक देहि सौख्यम्।
गृह्णीष्व मेऽर्चनमिदं भगवन्नमस्ते।।
सविता जनिता विश्वं द्विबाहुररुणच्छवि।
रथगामी पद्मपाणिर्वास्तूदककरांगगः ।।[1]

सुख सौख्य आदि देने की प्रकृति से युक्त यह देवता विश्व में प्रजनन शक्ति का प्रतीक है। घर परिवार में प्रजनन सामर्थ्य का सम्बन्ध इसकी ही तेज शक्ति से है। सवितृ मण्डल (सूर्य मण्डल) के मध्यवर्ती भाग में इसकी विशेष संस्थिति है। सप्ताश्व वाहन पर संस्थित, पंकज धारण किये हुए, कर्पूर कुण्डल (विशेष आभूषणों) को धारण किये हुए, द्विबाहु, अरुण छवि वाला यह देवता रथगामी स्वरूप से युक्त है। सप्तविध किरणों (शक्ति) का प्रसार इसका विशेष लक्षण है।

इसके पश्चात् वास्तुमण्डल के नैर्ऋत्य भाग में मध्य पद से ऊपर के तीन पदो के वास्तुपुरुष के जठर के दक्षिण भाग में केवल दो पदों में तेज तत्त्व का ही प्रतीक **'विवस्वान्'** नामक देवता स्थित है। इसका स्वरूप आदि ज्ञानार्थ ध्यानावाहन मन्त्र इस प्रकार है –

एह्येहि देव त्रिगुणात्मक त्वं हेमं समारुह्य तमो नुदन्वै।।
हस्तद्वये वै धृतचक्रपद्म गृहाण पूजां भगवन्नमस्ते।
विवस्वान् द्विभुजः शोणद्युतिश्चण्डश्च पंकजी।
कर्मसाक्षी रथी वास्तोः क्रोड दक्षिणभागगः।।[2]

वास्तु पुरुष के क्रोड (उदर) के दक्षिण भाग में स्थित यह देवता त्रिगुणात्मक (सत्त्व रज तम) प्रकृति वाला है। हेम (स्वर्णमय) रथ पर आरूढ होकर तम (अन्धकार) का नुदन समापन करने वाले विशेष लक्षण से युक्त हैं। द्विभुज में चक्र और पद्म को धारण किये हुए, शोणद्युति, चण्ड स्वभाव (प्रकृति) वाला यह देवता गृह सदस्यों के कर्म (शुभाशुभ) का साक्षी है।

पुनः वास्तु पुरुष के मेढ्रस्थानीय देवता के रूप में **'विबुधाधिप'** देव स्थित है। यथा –

"एह्येहि वास्तो विबुधाधिपत्वं गजाधिरूढो मम रक्षणाय।।
वरोप्सरोऽभिश्च दिवीज्यमानो गृहाण पूजां भगवन्नमस्ते।।

---

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 59
2. तत्रैव

सहस्राक्षो गजारूढः पीतांगो विबुधाधिपः।
वज्रोत्पलकरः श्रीमान् वास्तोर्दक्षस्तनाश्रितः।।[1]

वास्तु पुरुष के दक्षस्तन व मेढ्र स्थान में रहने वाला यह 'बिबुधाधिप' देव श्रेष्ठ सुन्दर अप्सराओं (स्त्रियों) से विवीज्यमान (पंखा झलना) प्रकृति से युक्त हैं। सभी की रक्षा करना इसका लक्षण है। गजाधिरूढ, वर अप्सराओं से दिवीज्यमान (स्वर्ग में पूजित), सहस्राक्ष, पीतांग, वज्र और उत्पल धारित इस देवता का स्वरूप है।

इस देवता से उत्तर स्थित पदत्रय में वास्तुपुरुष के जठर (उदर) स्थान में त्रिपदिक **'मित्र'** नामक देवता का वास है इसके आवाहन व प्रार्थना के पौराणिक मन्त्र द्वारा इसके स्वरूप प्रकृति और लक्षणों को इस प्रकार जाना जा सकता है। यथा –

मित्र त्वमेह्येहि तमोपशान्त्यै रत्नाब्जवज्रधवजयुक्तहस्त।
श्यामोधर्वभागेऽर्थसितस्वरूपो यथामनःस्थो भगवन् नमस्ते।।
हलाब्जधवजवज्राख्यहस्तो मित्रो हरिस्थितः
ऊर्ध्वाधः श्यामगौरो वा वामपाण्यंगुलिस्थितः।।[2]

"मित्र" सूर्य का ही नाम व स्वरूप विशेष है जिसकी मूलप्रकृति तम (अन्धकार) की उपशान्ति है। यह दिन रात्रि का भी प्रतीक है। अतः आधा शरीर कृष्ण तथा आधा श्वेत है। अंगुलीयक, मणिबन्ध आदि में रत्न धारण करने वाले तथा हाथों में कमल, धवज, वज्र धारण करना इसका स्वरूप हैं। इसके अतिरिक्त कृषि के उपकरण हल को धारण करना भी इसका लक्षण है। सबका मित्र होना भी प्रकृति है। विशेष यह है कि बायें हाथ की अंगुलि में रत्न धारण कर हरि (सिंह) पर स्थित है ।

इससे उत्तर स्थित एक पद में वास्तुपुरुष के वाम हस्त में **'राजयक्ष्मा'** नामक देवता का वास है। अनेक व्याधि और रोगों के प्रतीक इस देवता का स्वरूप इस प्रकार है यथा –

आवाहयामि तं देवं यक्ष्माणं राजसंज्ञकम्।
नानाव्याधिसमाकीर्णं रोगैश्च परिशोभितम्।।
वामेन वरदं चैव दक्षिणेनाभयप्रदम्।
आगच्छ भगवन् यक्ष्मन् पूजेयं प्रतिगृह्यताम्।।
वरशक्तिधरो ब्रह्मचर्यवान्बर्हिवाहनः।
राजयक्ष्मा च नीलांगो वास्तोर्मेढ्रसमाश्रितः।।[3]

---

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 59
2. तत्रैव पृ. 59-60
3. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 60

अनेक प्रकार की व्याधि (शारीरिक रोगों) से समाकीर्ण, रोगों से ही परिशोभित वाम हस्त से वरद मुद्रा तथा दक्षिण हस्त से अभय प्रद, बर्हि (मयूर) वाहन, नीले अंग वाला, वर शक्ति को धारण किये हुए इस देवता का स्वरूप है। वास्तु पुरुष के मेढ्र स्थान में स्थित यह देवता यक्ष्मा राजयक्ष्मा आदि अनेक नामों से विख्यात है। ब्रह्मचर्य का पालन इसकी प्रकृति है। रोगनाश हेतु ब्रह्मचर्य पालन लक्षण है।

राजयक्ष्मा से प्राक् पद त्रय में वास्तुपुरुष के वाम हस्ततल तथा दक्षहस्तांगुलि में त्रिपदिक **'पृथ्वीधर'** नामक देवता का वास है। इसका स्वरूप है –

पृथ्वीधर त्वं मम मण्डलेऽस्मिन् आधारभूतो जगतीतलस्थः॥
गृहे सुखं देहि सुखप्रद त्वं गृहाण पूजां भगवन्नमस्ते॥
सहस्रवदनः श्रीमान् शंखचक्राक्षकुम्भभृत्।
नीलः पृथ्वीधरो वास्तोर्दक्षहस्तांगुलिस्थितः॥[1]

जैसा कि पृथ्वीधर नाम से ही प्रतीत होता कि यह देवता पृथ्वी की आधार भूत प्रकृति से युक्त सुख देने के सभी लक्षणों से युक्त है। इसका स्वरूप सहस्रवदन, श्री (लक्ष्मी) से युक्त, शंख, चक्र, अक्षमाला व कुंभ (जलपूर्ण कलश) धारण किये हुए नील वर्ण वाला है।

इसके ऊपर स्थित एकपद में वास्तु पुरुष के वक्षस्थल में **'आपवत्स'** नामक देवता का वास है। पृथ्वीधर पृथ्वीतत्त्व का प्रतिनिधि है तो यह आपवत्स पृथ्वी में अन्तः स्थित 'जल' तत्त्व का प्रतीक है। इसका स्वरूप पुराणाचार्यों ने इस प्रकार कहा है –

आपवत्स त्वमेह्येहि कूर्मस्कन्धवरप्रद
पूजां गृहाण देवेश कुम्भहस्त नमोस्तु ते ॥
आपवत्सो महातेजो द्विभुजः सिंहवाहनः।
वरपाशधरो गौरो वास्तोर्वक्षसि संस्थितः ॥[2]

वास्तु पुरुष के वक्षस्थल का यह देवता वर प्रदान करने की प्रकृति और महातेजस्वी लक्षणों वाला है। इसका स्वरूप कुंभहस्त, कूर्म (कच्छप) स्कन्ध पर स्थित, सिंहवाहन, द्विभुज, वर (श्रेष्ठ) पाश को धारण किये हुए गौर वर्ण शरीर वाला है।

इसके पश्चात् वास्तुमण्डल (81 पद) के मध्यवर्ती नव पदों में वास्तुपुरुष के हृदय में सभी देवताओं के केन्द्रभूत **'ब्रह्म'** का वास है। जिनका स्वरूप है –

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 60
2. तत्रैव

आवाहयामि देवेशमूर्ध्वभागे व्यवस्थितम्।
हंसयानसमारूढं सूर्यकोटिसमप्रभम्॥
चतुर्मुखं चतुर्बाहुं चतुर्वेदसमन्वितम्।
पुस्तकं चाक्षसूत्रादिदधानं च कमण्डुलम्।
विश्वकर्माख्यनामानं देवतागणपूजितम्॥
आगच्छ भगवन्ब्रह्मन् क्षेत्रेऽस्मिन् सन्निधो भव।
चतुर्मुखोऽरुणो ब्रह्माऽक्षमालास्रुवतोयभृत्।
लम्बोदरो हंसरथः श्मश्रुलो वास्तुहृत्स्थितः॥[1]

वास्तुपुरुष के हृदय में विराजमान **'ब्रह्मा'**, जिसका विशेष नाम वास्तुमण्डल में **विश्वकर्मा** भी है, यह घर परिवार में पुस्तक (सरस्वती) व वेद ज्ञान का प्रतीक है। ब्रह्मा की प्रकृति समस्त जगत् को वेद निहित ज्ञान से तेजस्वी बनाना है। करोड़ो सूर्यो के प्रकाश से युक्त होना इनका विशेष लक्षण है। घर में सबसे ज्येष्ठ (पितामह आदि) का प्रतीक यह देवता श्मश्रुल (बड़ी दाढ़ी वाले) देवतागणों से पूजित (समर्चित) हंस (नीरक्षीरविवेकी) यान पर समारूढ, चतुर्मुख, चतुर्बाहु में चतुर्वेद समन्वित पुस्तक, अक्षमाला तथा कमण्डलु धारण किये हुए, अरुण शरीर, लम्बोदर व स्रुव (यज्ञकर्म का वह पात्र जिससे आहुति प्रदान की जाती है) तथा तोय (यज्ञीय जल) को धारण किये हुए देवता का स्वरूप है। सर्वाधिक पदों में स्थित यह देव ब्रह्मज्ञान से परम शान्ति के सभी लक्षणों से युक्त है।

इस प्रकार ब्रह्मादि पञ्चचत्वारिंशत् देवों में प्रत्येक का पृथक्-पृथक् अथवा एक साथ (एकतन्त्र) काण्डानुसमयाधारित वा पदार्थानुसमय के अनुसार षोड़शोपचार वा पञ्चोपचार से प्रणवादिनाम से अथवा स्वस्व नाम मन्त्रों से पूजन करने से गृही सपरिवार सुरक्षित होने की प्रार्थना करता है। यही भारतीय वास्तुशास्त्र का **'आधिदैविक विज्ञान'** है। यद्यपि यह विषय इससे भी अधिक विस्तृत मीमांसा की अपेक्षा रखता है। तथापि लेख विस्तृति भय से संक्षेप में इन देवताओं की प्रकृति स्वरूप और लक्षण की मीमांसा प्रस्तुत की गयी है। यह पौराणिक वर्णन पर आधारित है। भविष्य में इससे भी अधिक आध्यात्मिक स्वरूप की मीमांसा वैदिक ज्ञान के आधार पर की जा सकेगी।

1. वास्तुप्रतिष्ठा संग्रह पृ. 60

द्वार, गवाक्ष, वरामदा एवं आँगन का विचार

(भारतीय वास्तुशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में)

प्रो. हंसधर झा

'वस् वासे' नामक धातु से वास्तु शब्द की निष्पत्ति होती है। वैदिक वाङ्मय में वास्तु शब्द 'गृह निर्माण करने योग्य भूमि' के अर्थ में प्रयुक्त है। 'वसन्त्यस्मिन्निति वास्तु' अर्थात् जिसमें मनुष्य रहते हैं उसे वास्तु कहते हैं। यानी मनुष्य के द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले मकान, भवन, महल, नगर, मन्दिर, मण्डप आदि सभी वास्तु कहलाते हैं। और उसी वास्तु से सम्बन्धित शास्त्र को वास्तुशास्त्र कहते हैं।

वास्तुशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में बृहत्संहिता, विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र, समरांगणसूत्रधार, अपराजितपृच्छा, प्रमाणमंजरी, मयमतम्, मानसागर आदि ग्रन्थ तो उल्लेखनीय हैं ही, वास्तुराजवल्लभ, प्रासादमण्डन, वास्तुमण्डन, मुहूर्त्तचिन्तामणि इत्यादि अनेकों परवर्ती ग्रन्थ भी स्मरणीय हैं।

इस तरह इन प्राचीन एवं परवर्ती पर्याप्त ग्रन्थों में वास्तुशास्त्रीय विषयों का तो विशेष रूप से वर्णन है ही, इसके अतिरिक्त वेदों और पुराणों में भी वास्तुशास्त्रीय विषयों का पर्याप्त मात्रा में उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट है कि वास्तुशास्त्र वैदिक काल से ही अपने अस्तित्व में था न कि इसे मानव के द्वारा स्थापित किया गया। यथा ऋक्संहिता में वास्तोष्पति प्रार्थना के रूप में ये मन्त्र देखे जा सकते हैं–

ॐ वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्त्स्वावेशोऽअनमीवो भवानः।
यत्वे महे प्रति तन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।।[1]
ॐ वास्तोष्पते प्रतरणो नऽएधिगयस्फानो गोभिरश्वेमिरिन्दो।।[2] इत्यादि।

मत्स्यपुराण में वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक 18 आचार्यों का उल्लेख मिलता है। यथा–

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षपुरन्दरः।।

---

1. ऋग्वेद 7/54/1
2. ऋग्वेद 7/54/2

ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती॥
अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः।
संक्षेपेणोपदिष्टं यन्मनवे मत्स्यरूपिणा॥[1]

इस तरह इसमें सन्देह नहीं कि यह वास्तुशास्त्र वैदिककाल एवं प्राग् वैदिककाल से ही भारतीय जनता के बीच अपने अस्तित्व में थी। जिसे भारतीय मनीषियों ने अपनी आवश्यकता के अनुसार क्रमशः विस्तार किया है।

उसी विस्तार के क्रम में हमारे भारतीय मनीषियों ने वास्तुशास्त्र के विविध पहलुओं पर गम्भीरता से विचार किया है। जैसे भूमि की आकृति, राशि, काकिणी आदि के द्वारा ग्राम, नगर, देश आदि का चयन, वर्ण, गन्ध, स्वाद, खात आदि के द्वारा भूमिपरीक्षण, शुभाशुभ शकुन, वृक्ष, लता, वल्ली के द्वारा तथा प्रश्नकालिक शुभाशुभलक्षणों के द्वारा भूमि का चयन, दिक्साधन से गृहदिशा का निर्धारण, क्षेत्रफल, पिण्ड, आय आदि साधन के द्वारा भूमि का परीक्षण, वास्तुकर्म में मुहूर्तविषयक विचार, भूमिशयन विचार, वत्सचक्र आदि का विचार, गृहारम्भकालिक ग्रहस्थिति के आधार पर शुभाशुभफल का विचार, शिलान्यास.विचार, शङ्कुस्थापन विचार, द्वारविधान, द्वारदोषविवेचन, द्वारभङ्गग्रहदोषविचार, वास्तुकर्म में शुभाशुभ वृक्ष या काष्ठ का विचार, वास्तुपददेवता का विचार, एकशालगृह, द्विशालगृह, त्रिशाल आदि गृह का विचार, नृप, सचिव, दैवज्ञ, पुरोहित, ब्राह्मणादिवर्ण हेतु गृहविचार, गृहप्रवेशादि विचार आदि अशेष पहलुओं पर हमारे भारतीय मनीषियों ने मानव कल्याण की भावना से विचार किया है जो समस्त संसार के लिए अमूल्य उपहार के रूप में समादृत था और अभी भी समादृत है।

इस तरह इस समुद्र रूपी वास्तुशास्त्र से आपके समक्ष केवल द्वार, गवाक्ष, बरामदा एवं आँगन जैसे चन्द विषयों को ही लेकर मैंने अपने आप में 'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' की तरह सन्तुष्ट होने का प्रयास किया है।

(क) भवन का मुख्य द्वारविचार -

वास्तुशास्त्र में भूमिचयन या वास्तु का पिण्डादि विचार तो महत्त्व रखता ही है इसके साथ द्वार विचार का भी कम महत्त्व नहीं है। द्वार भवन का द्वार ही नहीं बल्कि उस भवन में रहने वाले लोगों की सफलता या असफलता का भी द्वार है। भवन बेशक वास्तुशास्त्र के अनुसार क्यों न बना हो, यदि द्वार शास्त्र विरुद्ध हो तो उसमें रहने वाले लोगों को अनेक संकटों का सामना करना पड़ सकता है। अतः भवन के निर्माण के साथ-साथ उसके द्वार भी शास्त्र सम्मत होने चाहिए।

---

1. मत्स्यपुराण अ. 251, उद्धृत वास्तुसारसंग्रह 28/123-124

वास्तुशास्त्र में द्वार का निर्णय अनेक विधियों से बतलाया गया है, जिसमें यथासम्भव अधिक से अधिक विधियों का अनुपालन करने का प्रयास करना चाहिए। पूर्णतः शास्त्र विरुद्ध द्वार निश्चय ही अहितकारक होता है।

इस द्वार विचार के क्रम में मुख्यतः तीन बिन्दु विचारणीय होते हैं। द्वार किस दिशा में बनाया जाय, उस दिशा में भी द्वार का स्थान कहाँ हो तथा द्वार का स्वरूप कैसा हो? इस क्रम में द्वार की दिशा का निर्धारण मुख्य रूप से चार प्रकार से बतलाया गया है- गृहपति की राशि के अनुसार, वर्ण के अनुसार, आय के आधार पर तथा वास्तुचक्र के अनुसार।

1. द्वार की दिशा का निर्धारण-

गृहस्वामी की राशि के अनुसार द्वार की दिशा का निर्धारण कई प्रकार से बतलाये गये हैं-

(क) ज्योतिर्निबन्ध में राशि के अनुसार द्वारनिर्णय लिखते हैं। यथा-

कुलीरालिझषाणां च पूर्वद्वारं शुभावहम्।
कन्यामकरयुग्मानां दक्षिणद्वारमिष्टदम्।।
तुलाकुम्भवृषाणां च पश्चिमाभिमुखं स्मृतम्।
सौम्यद्वारं शुभाय स्यान्मेषसिंहधनुर्भृताम्।।[1]

अर्थात् कर्क, वृश्चिक और मीन राशि वालों के लिए पूर्वदिशा में, कन्या, मकर और मिथुन राशि वालों के लिए दक्षिण दिशा में, तुला, कुम्भ और वृष राशिवालों के लिए पश्चिम दिशा में तथा मेष, सिंह और धनु राशि वालों के लिये उत्तर दिशा में मकान का मुख्य द्वार (सदर दरवाजा) बनाना उत्तम होता है।

यहाँ पर मतान्तर भी प्राप्त होता है। यथा वास्तुराजवल्लभ में लिखते हैं-

राशीनामलिमीनसिंहभवनं पूर्वानतं शोभनं
कन्याकर्कटनक्रराशिगृहिणां याम्यायनं मन्दिरम्।
राशेर्धन्वितुलायुगस्य सदनं शस्तं प्रतीचीमुखं
पुंसां कुम्भवृषाजराशिजनुषां सौम्यायनं स्याद् गृहम्।।[2]

अर्थात् वृश्चिक, मीन और सिंह राशि वालों के लिये पूर्वदिशा में, कन्या, कर्क और मकर राशि वालों के लिये दक्षिण दिशा में, धनु, तुला और मिथुन राशि वालों के लिये पश्चिम दिशा में और कुम्भ, वृष तथा मेष राशि वालों के लिए उत्तर दिशा में भवन का मुख्य द्वार बनाना उत्तम होता है।

बृहद्दैवज्ञरञ्जन में राशियों के ब्राह्मणादि वर्णों के अनुसार द्वार दिशा-निर्धारण करने का निर्देश इस प्रकार है। यथा-

---

1. वास्तुरत्नाकर 8/1-2
2. वास्तुराजवल्लभ 1/12, वास्तुरत्नाकर 8/3

पूर्वे ब्राह्मणराशीनां वैश्यानां दक्षिणे शुभम्।
शूद्राणां पश्चिमे द्वारं नृपाणामुत्तरे स्मृतम्।।[1]

अर्थात् ब्राह्मण राशि (कर्क, वृश्चिक, मीन) वालों के लिए पूर्वदिशा में, वैश्यराशि (वृष, कन्या, मकर) वालों के लिये दक्षिण दिशा में, शूद्रराशि (मिथुन, तुला, कुम्भ) वालों के लिये पश्चिम दिशा में तथा क्षत्रिय राशि (मेष, सिंह, धनु) के लिये उत्तर दिशा में भवन/घर का मुख्य द्वारा बनाना उत्तम होता है।

वास्तुप्रदीप में भी उपर्युक्त बृहद्दैवज्ञरञ्जन की तरह ही ब्राह्मणादि वर्णकराशि के आधार पर द्वार की दिशा को कहा गया है। यथा–

स्यात्प्राङ्मुखं ब्राह्मणराशि सद्म वोदङ्मुखं क्षत्रियराशिकानाम्।
वैश्यस्य ज्ञेयं यमदिङ्मुखं हि शूद्राभिधानामथ पश्चिमास्यम्।।[2]

इस तरह ऊपर कहे गये द्वारदिशा निर्णय विषयक तीनों मतों को तुलना की दृष्टि से सारणी के रूप में इस प्रकार देखा जा सकता है। यथा–

दिशा	**पूर्व**	**दक्षिण**	**पश्चिम**	**उत्तर**
ज्योतिर्निबन्धोक्त	कर्क वृश्चिक मीन	कन्या मकर मिथुन	तुला कुम्भ वृष	मेष सिंह धनु
वास्तुराजवल्लभोक्त	वृश्चिक मीन सिंह	कन्या कर्क मकर	धनु तुला मिथुन	मेष वृष कुम्भ
बृहद्दैवज्ञरञ्जनोक्त तथा वास्तुप्रदीपोक्त	**ब्राह्मण राशि**	**वैश्य राशि**	**शुद्र राशि**	**क्षत्रिय राशि**
	कर्क वृश्चिक मीन	वृष कन्या मकर	मिथुन तुला कुम्भ	मेष सिंह धनु

(ख) आय के अनुसार द्वार की दिशा का निर्धारण–

वास्तुशास्त्र में राशि के अनुसार तो द्वार की दिशा का निर्धारण कहा ही गया है, इसके अतिरिक्त ध्वजादि आय के आधार पर भी द्वार दिशा का निर्धारण भी प्राप्त होता है। इस विधि से द्वार दिशा ज्ञान हेतु पहले आय का ज्ञान अपेक्षित होता है। आय आठ होते हैं, ध्वज, धूम, सिंह, श्वान, गौ, खर, गज एवं काक। बृहद्वास्तुमाला में आचार्य टोंडरानन्द के मत से आय साधन विधि लिखते हैं–

1. बृहद्वास्तुमाला मिश्रप्रकरण/149, बृहद्दैवज्ञरञ्जन 86/354, वास्तुरत्नाकर 8/4
2. वास्तुप्रदीप श्लो. 45

विस्तारेण हतं दैर्घ्यं विभजेदष्टभिस्ततः।
यच्छेषं स भवेदायो ध्वजाद्यास्ते स्युरष्टधा॥
ध्वजो धूम्रो हरिश्श्वागौः खरेभौ वायसोऽष्टमः।[1]

मुहूर्त्तचिन्तामणि में भी लिखते हैं–

आया ध्वजो धूमहरिश्वगोखरेभध्वाक्काः पिण्ड इहाष्टशेषिते।[2]

अर्थात् भूखण्ड की लम्बाई को चौड़ाई से गुणा करने पर जो हो उसमें 8 का भाग देने पर एकादि शेष होने पर क्रम से ध्वजादि आठ आय होते हैं। यथा–1 शेष में ध्वज, 2 शेष में धूम्र, 3 शेष सिंह, 4 शेष मेंश्वान, 5 शेष में गौ, 6 शेष में खर (गधा), 7 शेष गज तथा 8 शेष (शून्य शेष) में काक आय होता है। इनमें चूँकि प्रथम, तृतीय, पञ्चम तथा सप्तम आय अर्थात् ध्वज, सिंह, गौ, गज आय शुभ होते हैं। अतः इन चारों तरह के भूमिखण्डों पर भवन बनाने के क्रम में मुख्य द्वार का भी विचार करना स्वाभाविक है।

आयों के शुभाशुभत्व कहते हुए बृहद्वास्तुमाला में लिखते हैं–

कीर्तिः शोको जयो वैरं धनं निर्धनता सुखम्।
रोगश्चेति गृहारम्भे ध्वजादीनां फलं क्रमात्॥[3]

इस तरह उपर्युक्त ध्वज, सिंह, गौ एवं गज इन चारों शुभ आय वाले भूखण्ड पर मुख्य द्वार की दिशा क्या होनी चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए रामाचार्य लिखते हैं–

ध्वजादिकाः सर्वदिशि ध्वजे मुखं कार्यं हरौ पूर्वयमोत्तरे तथा।
प्राच्यं वृषे प्राग्यमयोर्गजेऽथवा पश्चादुदक्पूर्वयमे द्विजादितः॥[4]

अर्थात् ध्वज संज्ञक आय वाले गृहपिण्ड में भवन का मुख्य द्वार चारों दिशाओं में प्रशस्त होते हैं। सिंह आय में पूर्व, दक्षिण तथा उत्तर दिशा में, वृष आय में केवल पूर्व दिशा में तथा गज आय में पूर्व एवं दक्षिण दिशा में भवन का मुख्य द्वार प्रशस्त होता है।

इसी तरह बृहद्वास्तुमाला में महेश्वर का वचन देखा जा सकता है–

सर्वद्वार इहध्वजो वरुणदिग्द्वारं च हित्वा हरिः।
प्राग्द्वारो वृषभो गजो यमसुरेशाशामुखः स्याच्छुभः॥[5]

इसी तरह वास्तुरत्नाकर में ज्योतिर्निबन्धगत गर्ग का वचन द्रष्टव्य है–

सर्वद्वारे ध्वजो देयः पश्चिमास्यं विना हरिः।
प्राङ्मुखे दक्षिणे चैव गजः पूर्वमुखे वृषः॥[6]

---

1. बृहद्वास्तुमाला पृ. 51, आयानयनप्रकार श्लोक 3–4
2. मुहूर्त्तचिन्तामणि 12/4
3. बृहदास्तुमाला पृ.. 51, आयानयनप्रकार श्लो. 5
4. मुहूर्त्तचिन्तामणिः 12/5
5. बृहद्वास्तुमाला पृ. 92, श्लोक 150
6. वास्तुरत्नाकर, द्वारप्रकरण श्लो. 6

यहां मतान्तर से आय और वर्ण की दृष्टि से द्वार का विचार इस प्रकार मिलता है–

ध्वजे प्रतीच्यां मुखमग्रजानामुदङ्मुखं भूमिभृतां च सिंहे।
विशो वृषे प्राग्वदनं गजे तु शूद्रस्य याम्यां हि समामनन्ति॥[1]

अर्थात् ध्वज आय और ब्राह्मण वर्ण का पश्चिम मुख द्वार, सिंह आय और क्षत्रिय वर्ण का उत्तर द्वार, वृष आय और वैश्य वर्ण का पूर्व द्वार तथा गज आय और शूद्र वर्ण का दक्षिण मुख द्वार शुभ होता है।

इसी तरह वास्तुरत्नाकर का वचन देखा जा सकता है–

ध्वजे परास्यं विप्राणां राज्ञां सिंहेऽप्युदङ्मुखम्।
गजे शूद्रस्य याम्यास्यं विशः पूर्वमुखं वृषे॥[2]

इसमें ब्राह्मादि वर्णो के लिए क्रमशः पश्चिम, उत्तर, पूर्व और दक्षिण दिशा में मुख्य द्वार का निर्देश है, जिसे रामचार्य ने भी अपने मुहूर्तचिन्तामणि में **'पश्चादुदक्पूर्वयमे द्विजादितः'** इस श्लोकांश से समर्थन किया है।

उपर्युक्त मतों को सारणी के रूप में इस प्रकार देखा जा सकता है–

द्वारदिशा	**पूर्व**	**दक्षिण**	**पश्चिम**	**उत्तर**	
रामाचार्य का मत, बृहद्वास्तुमाला में माहेश्वर का मत, ज्योतिर्निबन्ध में गर्ग का मत	ध्वज सिंह गज गौ	ध्वज सिंह गज	ध्वज	ध्वज	प्रशस्त आय
बृहद्वास्तुमाला में	वृष	गज	ध्वज	सिंह	
	वैश्यवर्ण	शूद्रवर्ण	ब्राह्मणवर्ण	क्षत्रियवर्ण	प्रशस्त वर्ण

(ग) द्वारपाल के अनुसार द्वारदिशा का निर्णय –

राशि के अनुसार, राशिवर्ण के अनुसार तथा आय के अनुसार द्वारदिशा का विचार तो बतलाया गया है ही कुछ आचार्यों ने द्वारपाल के अनुसार भी द्वारदिशा का निर्णय बतलाया है। यथा– वास्तुरत्नाकर में देखा जा सकता है–

1. बृहद्वास्तुमाला पृ. 92, श्लो. 151
2. वास्तुरत्नाकर 8/7

दिशश्च खरमादाय ग्रामनामेति गण्यते।
अष्टभिस्तु हरेद्वक्त्रं शेष च द्वारपालकाः॥
रविश्चन्द्रः कुजः सौम्यः शनिर्जीवस्तमो भृगुः।
शुभग्रहे शुभं नित्यं पापे दुःखं प्रजायते॥[1]

अर्थात् दिशा, ग्राम तथा भवन का स्वामी इन तीनों के स्वराङ्कों (स्वराङ्क ज्ञान आगे हैं) का योग करके 8 से भाग देने पर शेष के अनुसार द्वारपाल ग्रह होता है। यथा– 1 शेष हो तो सूर्य, 2 शेष हो तो चन्द्रमा, 3 शेष हो तो मंगल, 4 शेष हो तो बुध, 5 शेष हो तो शनि, 6 शेष हो तो गुरु, 7 शेष हो तो राहु, 8 शेष यानि 0 शेष हो तो शुक्र उस भवन का द्वारपाल होता है। यहाँ द्वारपाल शुभग्रह होने से शुभ तथा पापग्रह के होने से अशुभ होता है। अर्थात् शुभग्रह (2 चन्द्र, 4 बुध, 6 बृहस्पति और 8 शुक्र) द्वारपाल हों तो सर्वदा सुख तथा पापग्रह (1 सूर्य, 3 मंगल, 5 शनि और 7 राहु) द्वारपाल हों तो निरन्तर दुःख होता है।

अतः इस मत के अनुसार अपने नाम से जिस गाँव तथा जिस दिशा का उपर्युक्त विधि से तालमेल बैठ रहा हो, उस दिशा में भवन का मुख्य द्वार (सदर दरबाजा) सुनिश्चित करना चाहिए।

यहाँ प्रसङ्गवश स्वराङ्क विचार द्रष्टव्य है। यथा–

अथाष्टवर्गाः क्रमतोऽष्टबाणतर्काब्धिसप्तेन्दुगुणाश्विनश्च॥[2]

अर्थात् अ, क, च, ट, त, प, य, श इन आठ वर्णों के क्रमशः अष्ट=8, वाण = 5, तर्क = 6, अब्धि = 4, सप्त =7, इन्दु =1, गुण =3, अश्वि = 2 ये आठ स्वराङ्क होते हैं।

पुनः दिशाओं का स्वराङ्क इस प्रकार कहते हैं–

गजशरर्तुयुगाश्वि महीगुणा द्विसहिता मघवादिदिशि क्रमात्॥[3]

अर्थात् 8/5/6/4/7/1/3/2 ये ही उपर्युक्त अंक पूर्व, आग्नेय आदि आठों दिशाओं के स्वराङ्क हैं।

दिशा	पूर्व	आग्नेय	दक्षिण	नैर्ऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान
वर्ग	अवर्ग	कवर्ग	चवर्ग	टवर्ग	तवर्ग	पवर्ग	यवर्ग	शवर्ग
स्वराङ्क	8	5	6	4	7	1	3	2

उदाहरण–

यहाँ हंसधर को भोपाल–बागमुगालिया में पश्चिम दिशा का घर बनाना शुभ है या

1. वास्तुरत्नाकर 8/7
2. वास्तुरत्नाकर 1/37, वास्तुप्रदीप 36/40
3. वास्तुरत्नाकर पृ. 8, श्लो. 41

नहीं? यह विचारना है। हंसधर में ह शवर्ग है जिसका स्वराङ्क 2 है, बागमुगालिया में ब पवर्ग है जिसका स्वराङ्क 1 है, तथा पश्चिम दिशा का स्वराङ्क 7 है। तीनों का योग 2+1+7 = 10 हुआ। इसमें आठ का भाग दिया, शेष 02 बचा।

अतः द्वारपाल चन्द्र हुआ। जो शुभसूचक है। अतः हंसधर को भोपाल में या बागमुगालिया में पश्चिम द्वार का घर (भवन) बनाना सुखदायक होगा।

2. पूर्व आदि दिशाओं में द्वार का स्थान निर्धारण –

राशि, आय, वर्ण आदि के आधार पर द्वार की दिशा निश्चय करने के पश्चात् उस दिशा में भी द्वार का उपयुक्त स्थान क्या होना चाहिए, यह ज्ञान अपेक्षित होता है। इस क्रम में मुख्य रूप से दो विधियां बताई गई हैं, जिसमें एक विधि है वास्तुपिण्ड के दैर्घ्य या विस्तार को 9 भाग में बांटकर तथा दूसरी विधि है इक्यासी या चौंसठ आदि वास्तुचक्र में किए गए पदविभाग के अनुसार, जिसका दिग्दर्शन यहाँ किया जा सकता है।

(क) लंबाई या चौड़ाई को 9 भाग करके द्वारस्थान का निर्धारण बतलाते हुए वास्तुसौख्य में लिखते हैं –

नव भागं गृहं कृत्वा पञ्च भागं तु दक्षिणे।
त्रिभागं वामतः कृत्वा शेषे द्वारं प्रकल्पयेत्।।[1]

अर्थात् पूर्वोक्त विधि से जिस दिशा या भाग में द्वार बनाना हो उस दिशा की लम्बाई व चौड़ाई को बराबर बराबर 9 भाग में बाँट कर दाएँ से 5 भाग को छोड़कर तथा बाएँ से तीन भाग को छोड़कर शेष भाग में द्वार बनाना चाहिए । यहाँ वाम एवं दक्षिण भाग का निर्णय कैसे करें इसको राजमार्तण्ड में स्पष्ट करते हैं –

दक्षिणाङ्गः स वै प्रोक्तः मन्दिरान्निःसृते सति।
यो भूयाद्दक्षिणे भागे वामे भूयात्स वामकः।।[2]

अर्थात् जिस दिशा में मुख्य द्वार बनाना हो उसी दिशाभिमुख स्थित पुरुष का बायाँ हाथ जिधर हो वह वाम भाग होता है तथा दायाँ हाथ जिधर हो वह दक्षिण भाग होता है।

जैसे – पूर्व दिशा में द्वार बनाने की स्थिति में उत्तर दिशा वाम भाग है तथा दक्षिण दिशा दायाँ भाग है। दक्षिण दिशा में द्वार बनाना हो तो पूर्व दिशा वाम भाग तथा पश्चिम में दायाँ भाग जानना चाहिए। इसी तरह पश्चिम द्वार में दक्षिण की ओर बायाँ तथा उत्तर की ओर दायाँ भाग होगा। तथा उत्तर द्वार की स्थिति में पश्चिम में वाम भाग तथा पूर्व मे दायाँ भाग होगा। इसे चित्र के माध्यम से इस प्रकार जाना जा सकता है–

---

1. वास्तुसौख्यम् 9/323
2. उद्धृत वास्तुसौख्यम् 9/323 हिन्दी व्याख्या

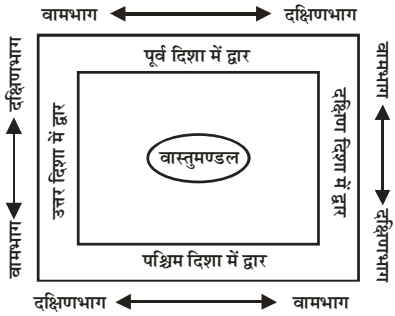

(ख)वास्तु मण्डल के अनुसार द्वार का स्थान ज्ञान -

एकाशीतिपद या चतुष्षष्टिपद वास्तुमण्डल में देवताओं के अनुसार द्वारस्थान का निर्णय बतलाया गया है। पद की संख्या 81 या 64 जो भी हो, देवता वही होते हैं। 81 पद में चारों दिशाओं में स्वतंत्र 32 पद होते हैं किंतु 64 पद में चारों कोणों में चारों पदों को दो दो भागों में विभक्त करने पर चारों दिशाओं में 32 पद हो जाते हैं जो आगे चक्र देखने से स्पष्ट हो जाएगा।

एकाशीति-पद-वास्तुचक्रम्

पूर्व

	शिखी	पर्यजन्यः	जयन्तः	इन्द्रः	सूर्यः	सत्यः	भृशः	अन्तरिक्षः	अनिलः	
	दितिः	आपः	जयन्तः	इन्द्रः	सूर्यः	सत्यः	भृशः	सावित्रः	पूषा	
	अदितिः	अदितिः	आपवत्सः	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	सविता	वितथः	वितथः	
	भुजगः	भुजगः	पृथ्वीधरः	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	बृहत्क्षतः	बृहत्क्षतः	
उत्तर	सोमः	सोमः	पृथ्वीधरः	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	यमः	यमः	दक्षिण
	भल्लाटः	भल्लाटः	पृथ्वीधरः	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	गन्धर्वः	गन्धर्वः	
	मुख्यः	मुख्यः	राजयक्ष्मा	मित्र	मित्र	मित्र	इन्द्रः	भृंगराजः	भृंगराजः	
	नागः	रुद्रः	शोषः	असुरः	वरुणः	कुसुमदन्तः	सुग्रीवः	जयः	मृगः	
	रोगः	पापयक्ष्मा	शोषः	असुरः	वरुणः	कुसुमदन्तः	सुग्रीवः	दौवारिकः	पितरः	

पश्चिम

चतुःषष्टि-पद-वास्तुचक्रम्

पूर्व

शिखी / दितिः	पर्यजन्यः	जयन्तः	इन्द्रः	सूर्यः	सत्यः	भृशः	अन्तरिक्षः / अनिलः
अदितिः	पर्यजन्यः / अदितिः	जयन्तः	इन्द्रः	सूर्यः	सत्यः	भृशः / पूषा	पूषा
भुजगः	भुजगः	आपवत्सः / आपः	अर्यमा	अर्यमा	सविता / सावित्रः	वितथः	वितथः
सोमः	सोमः	पृथ्वीधरः	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	बृहत्क्षतः	बृहत्क्षतः
भल्लाटः	भल्लाटः	पृथ्वीधरः	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	यमः	यमः
मुज्यः	मुज्यः	रुद्रः / राजयक्ष्मा	मित्र	मित्र	इन्द्रः / जयन्तः	गन्धर्वः	गन्धर्वः
नागः	नागः / शोषः	असुरः	वरुणः	कुसुमदन्तः	सुग्रीवः	भृंगराजः / दौवारिकः	भृंगराजः
रोगः / पापयक्ष्मा	शोषः	असुरः	वरुणः	कुसुमदन्तः	सुग्रीवः	दौवारिकः	मृगः / पितरः

उत्तर दक्षिण

पश्चिम

यहां दोनों चक्रों में चारों दिशाओं में कुल 32 पद हैं, जिनके देवता समान ही हैं। इन 32 पदों में कहाँ कहाँ द्वार बनाए जा सकते हैं इसके संबंध में मुख्य रूप से 2 तरह के मत मिलते हैं, जो निम्नलिखित हैं।

वराह संहिता के अनुसार द्वारस्थान निर्णय -

वराह संहिता में 81 पदवास्तु के माध्यम से द्वारविचार के क्रम में लिखते हैं-

एकाशीतिविभागे दश दश पूर्वोत्तरायाताः रेखाः।
अन्तस्त्रयोदश सुरा द्वात्रिंशद्बाह्यकोष्ठस्थाः॥[1]

अर्थात् 81 पदवास्तु विभाग में 10 रेखा पूर्वापर तथा 10 रेखा याम्योत्तर करने से 81 पद कोष्ठ का वास्तुपद हो जाता है। इस क्षेत्र के अंदरवाले पदों में 13 देवताओं का तथा बाहर के 32 कोष्ठों में 32 देवताओं का स्थान होता है। इन्हीं बाहरवाले 32 कोष्ठों में स्थित देवताओं के आधार पर द्वार का स्थानफल कहे गए हैं। अर्थात् शुभफलसूचक कोष्ठकों में मुख्य द्वार का स्थान सुनिश्चित करना चाहिए । यहां बाह्य के 32 कोष्ठकों के देवता इस प्रकार कहे गए हैं-[2]

1. उद्धृत वास्तुसौख्यम्, अष्टम/287
2. तत्रैव 288-289

शिखिपर्जन्यजयेन्द्रसूर्यसत्या भृशोऽन्तरिक्षश्च।
ऐशान्यादिक्रमशो दक्षिणपूर्वेऽनिल कोणे॥
पूषावितथबृहत्क्षतयमगन्धर्वाख्यभृङ्गराजमृगाः।
पितृदौवारिकसुग्रीवकुसुमदन्ताम्बुपत्यसुराः॥
शेषोऽथ पापयक्ष्मा रोगः कोणे ततोऽहिमुख्यौ च।
भल्लाटसोमभुजगास्ततोऽदितिर्दितिरिति क्रमशः॥[1]

अर्थात् ईशान कोण से प्रारंभ कर प्रदक्षिणा क्रम से पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर दिशाओं में 32 कोष्ठकों (पदों) के शिखी, पर्जन्य, जय, इंद्र आदि 32 देवता होते हैं ।

इसके बाद द्वारनिर्णय की दृष्टि से चारों दिशाओं में स्थित 32 कोष्ठकों के द्वारफल कहते हैं। यथा पूर्व दिशा में ईशान कोण से आठ (कोष्ठकों) देवस्थानों के द्वार फल–

अनलभयं स्त्रीजननं प्रभूतधनता नरेन्द्रवाल्लभ्यम्।
क्रोधपरताऽनृतत्वं क्रौर्यं चौर्यं च पूर्वेण॥[2]

अर्थात् ईशान कोणगतप्रथम कोष्ठ (शिखी देवस्थान) में द्वार बनाने से अग्नि भय, द्वितीय कोष्ठ (पर्जन्य भाग) में स्त्रीजन्म, तृतीय कोष्ठ (जयन्त भाग) में प्रभूत धन, चतुर्थ कोष्ठ (इन्द्र भाग) में राजा की प्रियपात्रता, पंचम कोष्ठ (सूर्य भाग) में क्रोध वृद्धि, षष्ठ कोष्ठ (सत्य भाग) में असत्यता/झूठा व्यवहार, सप्तम कोष्ठक (भृश भाग) में क्रूरता तथा अष्टम कोष्ठक जिसका स्वामी अंतरिक्ष कहा गया है उस भाग में द्वार बनाने से घर में चोरी का भय बना रहता है ।

इसी तरह दक्षिण दिशा में अग्नि कोण से प्रारंभ कर क्रमशः 8 पदों में द्वार का निर्माणफल इस प्रकार कहा है–

अल्पसुतत्वं प्रैष्यं नीचत्वं भक्ष्यपानसुतवृद्धिः।
रौद्रं कृतघ्नमधनं सुतवीर्यघ्नं च याम्येन॥[3]

पश्चिम दिशा में नैर्ऋत्य कोण से प्रारंभ कर क्रमशः आठ पदों में द्वार का निर्माणफल–

सुतपीडा रिपुवृद्धिः सुतधनप्राप्तिः सुतार्थफलसम्पत्।
धनसम्पन्नृपतिभयं धनक्षयो रोग इत्यपरे॥[4]

उत्तर दिशा में वायव्य कोण से प्रारंभ कर क्रमशः 8 पदों में द्वार का निर्माणफल–

वधबन्धो रिपुवृद्धिः सुतधनलाभः समस्तगुणसम्पत्।
पुत्रधनाप्तिर्वैरं सुतेन दोषाः स्त्रिया नैस्व्यम्॥[5]

---

1. उद्धृत वास्तुसौख्यम् 8/288–289
2. तत्रैव 9/332
3. तत्रैव श्लो. 333
4. तत्रैव श्लो. 334
5. तत्रैव श्लो. 335

वसिष्ठ संहिता के अनुसार द्वारा स्थान निर्णय-

वसिष्ठ संहिता में चतुष्षष्ठिपद वास्तु (64 पद) के अनुसार भी चारों दिशाओं में द्वारा स्थान का फल चार श्लोकों के माध्यम से बतलाया है ।

यथा पूर्व दिशा में ईशान कोण से 8 कोष्ठकों (देवस्थानों) के द्वारफल-

दुःखं शोको धनप्राप्तिर्नृपपूजा महद्धनम्।
स्त्रीजन्मापुत्रता हानिः प्राच्यां द्वारफलान्यतः।।[1]

अर्थात् ईशान कोण से अग्नि कोण की तरफ जाते हुए क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि आठ कोष्ठको में मुख्य द्वार बनाने से क्रमशः दुःख, शोक, धनागम, राजसम्मान, प्रचुरधन, स्त्रीसंतति, मित्रता एवं हानि होती है। अतः इस श्लोक के अनुसार जिस कोष्ठक का शुभ फल संकेतिक है उस जगह पर मुख्य द्वार बनाना श्रेयस्कर होता है।

पुनः दक्षिण दिशा में अग्नि कोण से प्रारंभ कर 8 कोष्ठकों में द्वार निर्माणफल-

निधनं बन्धनं भीतिः पुत्राप्तिश्च धनागमः।
यशो लाभश्चोरभयं व्याधिभीतिश्च दक्षिणे।।[2]

पश्चिम दिशा में नैर्ऋत्य कोण से प्रारंभ कर आठ कोष्ठकों में द्वार निर्माण का फल-

शत्रुवृद्धिः पुत्रप्राप्तिर्लक्ष्मीप्राप्तिर्धनागमः।
सौभाग्यं धनलाभश्च दुःखं शोकं च पश्चिमे।।[3]

इसी तरह उत्तर दिशा में वायव्य कोण से प्रारंभ कर 8 कोष्ठकों में द्वार निर्माण का फल-

नैस्व्यं स्त्रीदूषणं हानिः सम्पत्प्रीतिः सुखागमः।
शत्रुबाधा तथा दुःखं चोत्तरस्यां दिशि क्रमात्।।[4]

उपर्युक्त दोनों मतों को सारणी के रूप में इस प्रकार देखा जा सकता है-

पूर्व दिशा में द्वारस्थान निर्णय चक्र

द्वारदिशा	**1**	**2**	**3**	**4**	**5**	**6**	**7**	**8**	**कोष्ठ संख्या**
वराहसंहिता के अनुसार	शिखि	पर्जन्य	जयन्त	इन्द्र	सूर्य	सत्य	भृश	आकाश	देवता
	अग्निभय	कन्यावृद्धि	बहुधन	राजप्रिय	क्रोध	असत्यता	क्रूरता	चोरी	फल
वसिष्ठसंहिता के अनुसार	दुःख	शोक	धनागम	नृपपूजा	प्रचुर-धन	कन्या जन्म	अपुत्रता	हानि	

1. उद्धृत वास्तुसौख्यम् 9/326
2. तत्रैव 327
3. तत्रैव 328
4. तत्रैव 329

दक्षिण दिशा में द्वारस्थान निर्णय चक्र

	9	10	11	12	13	14	15	16	कोष्ठ संख्या
वराहसंहिता के अनुसार	वायु	पूषा	वितथ	बृहत्क्षत	यम	गन्धर्व	भृंगराज	मृग	देवता
	अल्प संतान	सेवकत्व	नीच संग	खान-पान सन्तान वृद्धि	क्षुद्र कर्म	कृतघ्नता	निर्धनता	पुत्रबल -हानि	फल
वसिष्ठसंहिता के अनुसार	मृत्यु	बन्धन	भय	पुत्रप्राप्ति	धनागम	यशोलाभ	चोरभय	रोगभय	

पश्चिम दिशा में द्वारस्थान निर्णय चक्र

	17	18	19	20	21	22	23	24	कोष्ठ संख्या
वराहसंहिता के अनुसार	पितृ	दौवारिक	सुग्रीव	पुष्पदन्त	वरुण	असुर	शोष	पाप	देवता
	पुत्रकष्ट	शत्रुवृद्धि	पुत्र, धन प्राप्ति	पुत्र, धन फल-सम्पत्ति	धन सम्पत्ति	राजभय	धनभय	रोग	फल
वसिष्ठसंहिता के अनुसार	शत्रु वृद्धि	पुत्र लाभ	लक्ष्मी प्राप्ति	धनागम	सौभाग्य वृद्धि	धनलाभ	दु:ख	रोगभय	

उत्तर दिशा में द्वारस्थान निर्णय चक्र

	25	26	27	28	29	30	31	32	कोष्ठ संख्या
वराहसंहिता के अनुसार	रोग	अहि	मुख्य	भल्लाट	सोम	सर्प	अदिति	दिति	देवता
	वधबन्ध	शत्रुभय	धन पुत्र लाभ	विपुल लक्ष्मी	धर्मशील	बहुवैर	स्त्रीदोष	धननाश	फल
वसिष्ठसंहिता के अनुसार	निर्धनता	स्त्री दोष	हानि	सम्पत्ति	प्रीति	सुखागम	शत्रुबाधा	दु:ख	

(ग) मध्यभाग में द्वार का निषेध-

उपर्युक्त दोनों मतों में यत्र कुत्र मध्य भाग में भी शुभसूचक कोष्ठक देखे जा सकते हैं। किंतु सामान्यतया मंदिर, मंडप आदि कुछ अपवादों को छोड़कर अन्यत्र मध्य भाग में द्वार बनाना श्रेयस्कर नहीं माना गया है। यथा विश्वकर्मा का यह वचन द्रष्टव्य है-

गृहमध्ये कृतं द्वारं द्रव्यधान्यविनाशनम्।[1]

किंतु अपवाद के रूप में लिखते हैं–

देवागारे विहारे च पूजायां मण्डपेषु च।
प्रतोल्यायां मखे चैव मध्ये द्वारं निवेशयते।।[2]

अर्थात् देवगृह, विहारगृह (विहार शब्द से आश्रम, मठ आदि अभिप्रेत है), पूजनगृह, मंडप, प्रतोली (गली) यज्ञभवन का द्वार मध्य भाग में होना चाहिए।

(घ) द्वारसंख्या विचार–

वास्तुराजवल्लभ में द्वारसंख्या के विषय में लिखते हैं–

एकं द्वारं प्राङ्मुखं शोभनं स्याच्चातुर्वक्त्रं धातृभूतेशजैने।
युग्मं प्राच्यां पश्चिमेऽथ त्रिकेषु मूलद्वारं दक्षिणे वर्जनीयम्।।[3]

अर्थात् यदि भवन में एक ही दरवाजा बनाना हो तो पूर्व दिशा में बनाना अच्छा होता है। ब्रह्मा, महादेव और जैन मंदिरों में चारों ओर द्वार बनाना श्रेष्ठ होता है। यदि मकान में दो दिशाओं में दरवाजा बनाना हो तो पूर्व और पश्चिम दिशाओं में नहीं बनाना चाहिए।

इस क्रम में विशेष वचन यह भी है–

बहुद्वारेष्वलिन्देषु न द्वारनियमः स्मृतः।
तथोपसदने जीर्णे द्वारे सन्धारणेऽपि च।।[1]

अर्थात् जिस भवन में अनेक द्वार एवं अलिंद की योजना हो उसमें द्वार का कोई नियम नहीं है। साथ ही मुख्य गृह के अतिरिक्त अन्य गृहों में भी द्वार का कोई नियम नहीं है।

(ख) झरोखा या बरामदा का विचार–

झरोखा यानी खिड़की को संस्कृत में गवाक्ष एवं वातायन भी कहते हैं। तथा मकान के आगे या कुछ बाहर निकले हुए छायादार छज्जा को बरामदा कहते हैं। घर में सही मात्रा में शुद्ध वायु एवं प्रकाश के लिए खिड़कियों एवं बरामदा की आवश्यकता होती है।

मुख्य द्वार को छोड़कर अन्य सभी द्वारों एवं खिड़कियों के ऊपर का किनारा एक सीध में होता है। इसके महत्त्व को देखते हुए ही वास्तुराजबल्लभ में गवाक्षों के अनेक भेद बतलाए गए हैं। यथा–

वातायनं लुम्बिकया विहीनं बुधैरुदीर्णस्त्रिपताक एव।
द्विलुम्बिकश्चोभयसंज्ञकश्च यः स्वस्तिकोऽसौ युगलुम्बियुक्तः।।

---

1. वास्तुसारसंग्रह 16/68
2. वास्तुसौख्यम् 9/324
3. वास्तुरत्नाकर 8/49, वास्तुराजवल्लभ 8/31

स्याद् बाणैः प्रियवक्त्र एव सुमुखः षड्भिर्युतश्चेति च।
छाद्यैकेन युतः सुवक्त्र उदितो द्वाभ्यां प्रियङ्गो भवेत्॥
एकेनोपरिपद्मनाभ उदितस्तद्दीपचित्रो युगै-
र्वैचित्र्यं शरपङ्क्तिभिस्तु विविधाकारैर्युतः पञ्च च।
सिंहो दैर्घ्यविवृद्धितो हि पृथुले हंसो गवाक्षो भवे-
त्तुल्योऽसौ मतिदोऽपि भद्रसहितो ज्ञेयस्तु बुद्ध्यर्णवः।
द्वारेणैव युगास्त्रकेण गरुडः पक्षद्वये जालकं
प्रोक्ताः पञ्चदशैव रूपमटलावेद्यादिकक्षासनैः॥[1]

अर्थात् जिस खिड़की में लुम्बिका अर्थात् बाहर का मेहराव न हो उसको त्रिपताक कहते हैं, जिसमें 2 लुम्बिकायें हो उसको उभय संज्ञा है, जिसमें 4 लुम्बिकायें हो उसको स्वस्तिक, जिसमें 5 लुम्बिकायें हो उसको प्रियवक्त्र और जिसमें 6 लुम्बिकायें हो उसको सुमुख कहते हैं।

जिसमें एक छाजन हो उसको सुवक्त्र कहते हैं, जिसमें दो छाजन हो उसको प्रियङ्ग, जिसमें तीन छाजन हो उसे पद्मनाभ, जिसमें चार छाजन हो उसको दीपचित्र और जिसमें पाँच छाजन हो उसे वैचित्र्य कहते हैं।

जिसमें लंबाई अधिक हो उसको सिंह, जिसमें चौड़ाई अधिक हो उसको हंस, और जिसमें लंबाई चौड़ाई दोनों बराबर हो उसे मतिद नाम का गवाक्ष कहते हैं।

जो गवाक्ष भद्रयुक्त हो उसको शुद्ध्यर्णव, जिसके चारों तरफ द्वार हों उसको गरुड़ और जिस गवाक्ष के दो तरफ द्वार हों उसको जालक कहते हैं। इस प्रकार रूप मटला वेदी और कक्षासन इनके संबंध से 15 प्रकार के गवाक्ष यानी झरोखे होते हैं।

इस तरह भवन में गवाक्षों का तो समावेश करना ही चाहिए, आवश्यकता के अनुसार बरामदा का भी समावेश करना चाहिए। बरामदा पूर्व एवं उत्तर दिशा में बनाना श्रेयस्कर होता है।

(ग) आंगन का विचार -

भारतीय वास्तुशास्त्र में ब्रह्मस्थान का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। ब्रह्मस्थान की रक्षा के लिए ही भारत में आँगन या चौक बनाने की परंपरा रही है। वास्तुशास्त्र के अनुसार भवन का मध्य भाग खुला रखना चाहिए, क्योंकि भवन का मध्यभाग ही वास्तु में ब्रह्मस्थान होता है। ब्रह्मस्थान में दीवार खंभा, बीम, छत या अन्य निर्माण नहीं करना चाहिए।

यथा वराहमिहिर कहते हैं-

---

1. वास्तुरत्नाकर 8/46-48, पृ. सं. 90

सुखमिच्छन् ब्रह्माणं यत्नाद्रक्षेद् गृही गृहान्तःस्थम्।
उच्छिष्टाद्युपघाताद् गृहपतिरुपतप्यते तस्मिन्।।[1]

अर्थात् गृहसुख की इच्छा रखने वाले, वास्तु के मध्य में, जो ब्रह्मा का स्थान है, उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करे। ब्रह्मस्थान में उच्छिष्ट आदि अमेध्य वस्तु का संचयन करने से या किसी प्रकार का दीवार खंभा आदि के उपघात से गृहपति संतप्त होता है।

किंतु आज ब्रह्मस्थान की रक्षा के लिए आँगन या चौक बनाने की परिपाटी धीरे-धीरे लुप्त हो रही है। जिसके परिणामस्वरूप परिवार में अशांति तनाव एवं क्लेश उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। आज के समय में छोटे छोटे भूखंडों पर या बहुमंजिला फ्लैटों में अधिक से अधिक जगह का उपयोग करना, तथाकथित आज के वास्तुशास्त्रियों का, चाहे ज्ञान के अभाव में या चाहे देखा-देखी फैशन बन गया है। जिसका परिणाम आज प्रायः व्यक्ति को भुगतना पड़ रहा है, इसमें संदेह नहीं। अतः आज इस विषय में हमें चिंतन करने की आवश्यकता है कि भारतीय मनीषियों के द्वारा मानव कल्याण की दृष्टि से सुविचारित वास्तुशास्त्र का हम पालन कैसे करें? इसी कारण से अत्यंत उपादेय आँगन विचार को भी मैंने यहाँ एक बिंदु के रूप में उपस्थापित करने का प्रयास किया है।

(घ) वास्तु निर्माण में घर की लंबाई चौड़ाई निर्धारण के क्रम में आँगन की भी लंबाई चौड़ाई को ध्यान में रखना चाहिए। भारतीय मनीषियों ने आंगन की लंबाई चौड़ाई पर भी कई तरह से विचार किए हैं। यथा बृहद्वास्तुमाला में लिखते हैं -

दीर्घविस्तारसंख्यैक्ये चन्द्रैश्च गुणिते तथा।
नवभिस्तु हरेद्भागं शेषमजिरमुच्यते।।
दाता विचक्षणो भीरुः कलहो नृपदानवौ।
क्लीवश्चौरो धनी चेति नामतुल्यं फलं स्मृतम्।।[2]

अर्थात् आँगन की लंबाई चौड़ाई के हाथों को जोड़कर एक से गुणाकर 9 का का भाग देने पर एक आदि शेष के अनुसार आंगन के नाम होते हैं। 1 शेष में दाता, 2 शेषमें विचक्षण, 3 शेष में भीरु, 4 शेष में कलह, 5 शेष में नृप, 6 शेषमें दानव, 7 शेष में नपुंसक 8 शेष में चोर, और 9 शेष में धनी, ये 9 आंगन के नाम होते हैं। इनका फल नाम के समान ही होता है। अतः नाम को ध्यान में रखकर आंगन की लंबाई एवं चौड़ाई सुनिश्चित करनी चाहिए ।

शास्त्र में प्रकारांतर से भी आंगन का विचार कहा गया है। यथा-

---

1. वास्तुसौख्यम् 8/318
2. बृहद्वास्तुमाला द्वारनिर्णय श्लो. 145-146, पृ. सं. 91

दीर्घविस्तारहस्तैक्यं वसुभिर्गुणितं तथा।
नवभिर्भाजिते शेषं वदेद् गेहाङ्गणं सुधीः॥
तस्करभोगिविचक्षणदाता नृपतिर्नपुंसको धनदः।
दारिद्रो भयदाता नामसमानाः फलप्रदास्ते॥[1]

अर्थात् आँगन की लंबाई चौड़ाई के योग को 8 से गुणा कर 9 से भाग देने पर क्रमशः 1. शेष में तस्कर, 2. शेष में भोगी, 3. शेष में विचक्षण (पंडित), 4. शेष में दाता, 5. शेष में नृपति, 6. शेष में नपुंसक, 7. शेष में धनद 8. शेष में दरिद्र, तथा 9. शेष रहने पर भय दाता, ये नौ प्रकार के आंगन होते हैं। इनका फल भी नाम के समान ही होता है। उपर्युक्त दोनों मतों को सारणी के रूप में इस प्रकार देखा जा सकता है–

शेषाङ्क	१	२	३	४	५	६	७	८	९	
बृहद्वास्तु माला के अनुसार	दाता	विचक्षण	भीरु	कलह	नृप	दानव	क्लीव	चोर	धनी	आँगन का नाम
	शुभ	शुभ	अशुभ	अशुभ	धर्मशील	अशुभ	अशुभ	अशुभ	शुभ	फल
अन्य मत से	तस्कर	भोगी	विचक्षण	दाता	नृपति	नपुंसक	धनद	दरिद्र	भयदाता	आँगन का नाम
	अशुभ	शुभ	शुभ	शुभ	शुभ	अशुभ	शुभ	अशुभ	अशुभ	फल

(ङ)ऊँचाई नीचाई की दृष्टि से आँगन का विचार–

आँगन में लंबाई चौड़ाई का तो ध्यान रखना ही चाहिए, ऊँचाई का भी आंगन में बड़ा प्रभाव पड़ता है। वास्तुराजबल्लभ में लिखते हैं–

मध्ये निम्नं त्वङ्गणाग्रं तथोच्चैः। शश्वच्चैवं पुत्रनाशाय गेहम्॥[2]

अर्थात् आँगन के बीच में नीचा और चारों ओर ऊँचा होना, पुत्र नाशकारक होता है। इसके विपरीत अर्थात् बीच में ऊँचा तथा चारों ओर नीचा आँगन शुभ कारक होता है।

इस प्रकार जीवन में सुख शांति एवं समृद्धि चाहने वालों को करुणामय भारतीय मनीषियों के द्वारा प्रदत्त इस वास्तुविद्यारूप दैवीविद्या का अनुपालन करने का भरसक प्रयास अवश्य करना चाहिए।

---

1. वास्तुरत्नाकर, पिण्डाधानयन 5/90–91
2. वास्तुरत्नाकर, पिण्डाद्यानयन प्रकरण 5/92 (वास्तुराजवल्लभ 9/4)

श्रौतवेदी के निर्माण में वास्तुसिद्धान्त

विद्यावाचस्पति डॉ. सुन्दरनारायण झा

हम सब जानते हैं कि श्रुति, वेद एवं आम्नाय इत्यादि शब्द परस्पर पर्याय हैं। ब्रह्म के निःश्वास में अन्तर्भूत शब्दराशियों को महातपा ऋषियों ने विश्वकल्याण की भावना से समस्त अङ्गों के साथ अपने दृढ़ विश्वास एवं अतिकृच्छ्र तपस्या द्वारा प्राप्त किया। इस विषय में आचार्य सायण ने अपने ऐतरेयब्राह्मण के भाष्य में अधोलिखित स्मार्तवचन का उल्लेख करते हुए कहा है–

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान् सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा।।[1]

इतिहासादिकों के साथ ज्ञान के मूलस्रोत शब्दराशि वेद, युग की समाप्ति होने पर परमात्मा में अन्तर्हित हो जाया करते हैं। कालानुसार परमात्मा द्वारा पुनः सृष्टि की जाती है। इस प्रकार सृष्टि का प्रलय परमात्मा का संकोच एवं सृष्टि का प्रारम्भ परमात्मा का विकास कहलाता है। संकोच एवं विकास ही इस संसार का मौलिक धर्म है।

हम यह भी जानते हैं कि किसी भी तत्त्व के दो रूप होते हैं, आन्तरिक एवं वाह्य। तदनुसार वह परमात्मा जिसका स्वरूप अनाद्यन्त है, उसके दो रूपों का ज्ञान हमें ऋषियों ने कराया है। यथा–

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति।।[2]

वेद उनके बाह्य स्वरूप हैं, जो परमात्मा के मौलिक स्वरूप का वर्णन करते हैं। इसीलिए वेद को भी ब्रह्म ही कहा गया है। सृष्टि के आदि में परमात्मा में से सर्वप्रथम वेदों का ही प्रादुर्भाव होता है, और वेदों से समस्त जागतिक प्रपञ्च का विकास सम्भव हो पाता है। इस तथ्य का निरूपण महाभारत के निम्न वचन में स्पष्ट रूप से किया गया है। यथा–

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।[3]

---

1. स्मार्तवचन, उल्लेख– ऐतरेयब्राह्मण सायणभाष्य, उपोद्घात।
2. अमृतबिन्दूपनिषद्– 17
3. महाभारत, शान्तिपर्व–244/55

जिस प्रकार परमात्मा को अनाद्यन्त कहा गया है उसी प्रकार वेदों को भी अनाद्यन्त कहा गया है। चूँकि परमात्मा के बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों ही रूप अनाद्यन्त हैं। वह शब्दराश्यात्मक वेद परमात्मा के अन्दर से जब बाहर प्रकट हुआ तब उसे महातपा ऋषियों ने अपने कानों से सुना, सुनकर मन्त्रों में प्रतिपादित तात्त्विक स्वरूपों का अवगाहन किया तथा वैज्ञानिक दृष्टि से तत्तत् रहस्यों का साक्षात्कार किया। इसीलिए ऋषियों को मन्त्रश्रोता नहीं कहकर मन्त्रद्रष्टा कहा गया है। वे महर्षि जिन्होंने परमात्मा के शब्दब्रह्मात्मक एवं परब्रह्मात्मक इन दोनों रूपों का साक्षात्कार किया, वे इस शब्दब्रह्मात्मक दैवकाव्य को प्राप्त कर विप्र (ब्राह्मण) कहलाये। जैसा कि श्रुति कहती है– **ऋषिर्विप्रः काव्येन**[1] अर्थात् दैवकाव्यरूप वेदों को प्राप्त कर ऋषि विप्र कहलाये। विप्र ब्राह्मण आदि शब्द परस्पर पर्याय हैं। तदनुसार **ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः** इस प्रकार ब्रह्म के दोनों स्वरूपों को जाननेवाले ब्राह्मण कहलाते हैं, ऐसा ब्राह्मण शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है। उन विप्र ऋषियों ने यज्ञानुष्ठान विधि द्वारा अपने शिष्यों को उस तत्त्व का उपदेश किया। इस प्रकार गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण परम्परा से प्राप्त वेद का शब्दराश्यात्मक ज्ञान श्रुति शब्द द्वारा प्रसिद्ध हुआ। उस परम्परा के अनुसार श्रुति का अध्ययनादि करने वाले लोग श्रोत्रिय कहलाते हैं। ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाले ऋषियों से उपदेश द्वारा वेद के तात्त्विक स्वरूप को जाननेवाले भी ऋषि ही कहलाते हैं। इस प्रकार ऋषियों की दो कोटि प्रचलित हुई पुराने ऋषि एवं नये ऋषि। इस विषय में ऋग्वेद में कहा गया है– **अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति।।**[2] अर्थात् अग्नि पुराने एवं नये ऋषियों से स्तुत्य है।

श्रुति में जिन तत्त्वों का वर्णन है उनमें यज्ञ ही प्रमुख है। वस्तुतः परमात्मा (प्रजापति) का स्वरूप यज्ञात्मक ही है। अत एव वेदों में यज्ञविधियों के वर्णन ब्याज से उस परमात्मा का ही वर्णन किया गया है। श्रुतियों में जिन यज्ञों का उल्लेख मिलता है वे श्रौतयज्ञ कहलाते हैं। यज्ञ के रहस्यों को जाननेवाला ही वैज्ञानिक है, क्योंकि **यज्ञं विज्ञानं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च**[3] इस श्रौतवाक्य द्वारा यज्ञ को वैज्ञानिक कर्म का विस्तार कहा गया है। यह वैज्ञानिक कर्म यज्ञ में विविध रूप से सम्पादित होता है। यज्ञवेदियों के निर्माण तथा यज्ञपात्रों के निर्माण आदि कार्य वैज्ञानिक कार्य के अन्तर्गत आते हैं। इसी हेतु से अमरकोषकार ने **विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः**[4] ऐसा कहकर शिल्प एवं शास्त्र में विज्ञान को स्वीकार किया है।

---

1. ऋग्वेद– 8/79/1
2. ऋग्वेद– 1/1/3
3. तैत्तिरीयोपनिषद्– 2/5/1
4. अमरकोष– धीवर्ग–

श्रौतशास्त्र वास्तुशास्त्र का मुख्यावलम्बन

वेदों में प्रतिपादित यह शास्त्रविधि एवं शिल्पविधि ही वास्तुशास्त्र का मुख्य अवलम्बन है। उक्त विवेचन के आधार पर श्रौतवेदी निर्माण में वास्तुसिद्धान्तों का सूत्रपात किया गया है यह कथन कथमपि अतिशयोक्ति नहीं है। वैदिककर्म (श्रौतयज्ञों) में जिन वास्तुसिद्धान्तों के प्रयोग किये जाते हैं, उन्हें वैदिकवास्तु तथा लोक में प्रयुक्त होनेवाले वास्तुसिद्धान्तों को लौकिकवास्तु कहने से वास्तु के भी दो रूप हो जाते हैं। वेदों के बारे में कहा गया है कि– **यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।**[1] अर्थात् जो यहाँ (इस लोक में) है वही वहाँ (परलोक में) भी है। तात्पर्य पूर्णतः स्पष्ट है कि यह समस्त भूतभौतिक प्रपञ्च उस वेदरूप ब्रह्म का ही विवर्त है। वेद में जो कुछ प्रतिपादित है वही विश्वमण्डल में सर्वत्र प्रसृत है। इस प्रकार यह तो स्पष्ट हो गया कि लौकिकवास्तु वैदिकवास्तु पर आधारित है।

लोक में हम देखते हैं कि प्रत्येक प्राणी सुख पाने की कामना करता है। सुख प्राप्ति का एकमात्र उपाय है मजबूत आधार का होना। जो जिस समाज में रहता वह वहाँ प्रतिष्ठित हो। वेद में **गृहा वै प्रतिष्ठा**[2] कहकर घर को प्रतिष्ठा कहा गया है। अर्थात् गृहस्थ के पास गृह का होना उसके मान–सम्मान का प्रतीक होता है। जिसके पास अपना घर नहीं वह समाज में प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। इसीलिए प्रत्येक प्राणी अपना–अपना उचित निवासस्थान की व्यवस्था अवश्य करता है। इस संसार में जीवों की 84 लाख योनियाँ कही गई हैं। यथा–

जलजा नवलक्षाश्च दशलक्षाश्च पक्षिणः।
कृमयो रुद्रलक्षाश्च विंशल्लक्षा गवादयः॥
स्थावरास्त्रिंशतं लक्षाश्चतुर्लक्षाश्च मानवाः।
पापपुण्यं समं कृत्वा नरयोनिषु जायते॥[3]

उन समस्त योनियों में सबसे श्रेष्ठ मानव को कहा गया है। जन्म–जन्मान्तरों के पुण्य सञ्चित होने पर मनुष्य शरीर प्राप्त होता है। पुराणों में कहा भी गया है–

अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात्॥[4]
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।
नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।[5]

1. कठोपनिषद्– 2/4/10
2. शतपथब्राह्मण– 1/1/1/19
3. शिवाजीमहाराज के गुरु समर्थस्वामिरामदास विरचित दासबोध, विंशतिदशक, षष्ठसमास, आत्मगुणनिरूपण 3 श्लोक ।
4. विष्णुपुराण– 2/3/23
5. अग्निपुराण– 337/4

मानवदेह देवताओं के लिए भी दुर्लभ कहा गया है। गोस्वामीजी ने भी लिखा है–

बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सद् ग्रन्थन्हि गावा।।[1]

अर्थात् मनुष्य सभी प्राणियों में श्रेष्ठ है। मनुष्यों के समस्त कर्म शास्त्रों में वर्णित हैं। शास्त्रों की मर्यादा के अनुसार जो मनुष्य अपना जीवन-यापन करता है वही समाज में प्रतिष्ठित होता है। शास्त्रों में घर को प्रतिष्ठा कहा गया। अतः मनुष्य गृहनिर्माण करता है। गृहनिर्माण हेतु उसे वास्तुशास्त्र के ज्ञान की अपेक्षा होती है, जो वेदोक्त श्रौतविधि के अन्तर्गत वर्णित है।

श्रौतयज्ञों में अनेक प्रकार के वास्तुसिद्धान्तों का प्रारूप प्राप्त होता है। वहाँ यज्ञविहार, अग्निस्थान, शाला एवं मण्डप आदि विविध वास्तुस्थानों के प्रयोग देखे जाते हैं। समस्त सोमयागों की प्रकृति अग्निष्टोम यज्ञ में सदोमण्डप एवं हविर्द्धानमण्डप ये दो मण्डप होते हैं। आग्नीध्रीयाशाला, मार्जालीयाशाला, शामित्रशाला, पत्नीशाला तथा दीक्षाशाला पाँच शालाएँ होती हैं। इसके अतिरिक्त गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य, आवसथ्य, प्रवृञ्जनीय, उच्छिष्ट एवं उद्वासनीय कुल आठ खर होते हैं। उत्कर, चात्वाल एवं उत्तरवेदी सहित यूपस्थान आदि अनेक वास्तुस्थानों का प्रयोजनानुसार विधान किया गया है। इन समस्त वास्तुस्थानों की लम्बाई-चौड़ाई एवं ऊँचाई श्रौतग्रन्थों में सुनिश्चित हैं। उपर्युक्त शाला एवं मण्डपों में मुख्यतः दो प्रकार बताये गये हैं प्राग्वंश एवं उदग्वंश। इस प्रकार लोक में भी यही विधि अपनाई जाती है। यद्यपि चारों ओर द्वार का विधान किया गया है तथापि उत्तर का द्वार बन्द रखने का विधान है। यथा- **प्रतिदिग्द्वारम्। उदग्वर्जं वा।**[2] इसके अतिरिक्त प्रसङ्गानुकूल द्वारों को बन्द करने एवं खोले रखने का विधान शास्त्रों में पद्धतिकारों द्वारा स्पष्ट किया गया है।

सोमयाग के अन्तर्गत ही चयनयाग का विधान है, जिसमें उत्तरवेदी पर ईंटों की चिनाई करके अनेक कामनाओं को पूर्ण करने वाली विविध प्रकार की चितियाँ बनाई जाती हैं। वे चितियाँ **सुपर्णचिति, श्येनचिति, अलजचिति, कङ्कचिति, कूर्मचिति, रथचक्रचिति, द्रोणचिति, प्रउगचिति, उभयतःप्रउगचिति, समूह्यपुरीषचिति** इत्यादि नामों से व्यवहृत हैं। इन चितियों के पाँच प्रस्तार कहे गये हैं, जिसका क्षेत्रफल साढ़ेसात पुरुष कहा गया है। प्रत्येक प्रस्तार में 11170 ईंटों की चिनाई की जाती है। ईंटों के भी विविध प्रकार उनके माप के हिसाब से कहे गये हैं। यथा-

	इष्टका नाम	मान अंगुल में	यजुष्मती	लोकम्पृणा	गार्हपत्येष्टका	धिष्ण्येष्टका	संख्या
1	अध्यर्धा	18X12 X6	17	94			111
2	अर्धपद्या	12 X6 X6	71	99	2	8	180

1. श्रीरामचरितमानस- उत्तरकाण्ड-42
2. कात्यायन श्रौतसूत्र- 7/1/17-18

3	अर्धपादभागा	6 X3 X6		668		10	678
4	अर्धबृहती	24 X12 X6			4		4
5	अधोत्सेधा अर्धपद्या	12 X6 X3	16				16
6	अधोत्सेधापद्या	12 X12 X3	14				14
7	चतुर्भागा	3 X3 X6				12	12
8	जङ्घामात्री	18 X18 X6	6	44			50
9	त्रिग्राहिणी	24 X18 X6		70			70
10	पद्या	12 X12 X6	244	502	7		753
11	पादभागा	6 X6 X6		9218		48	9266
12	पादोनपद्या	12 X12 X6 में 1/4 कम	2				2
13	बृहती	24 X24 X6		6			6
	वक्रेष्टका	निर्माणविधि के अनुसार माप			8		8
		कुल इष्टकाएँ	370	10701	21	78	11170
	सिकता, पुष्करपर्ण,स्वयमातृण्णा प्रभृति 10 अग्निपक्व एवं 18 अनग्निपक्व मिलाकर कुल इष्टकाएँ						28
	कुल इष्टकाएँ						11198

इसके अतिरिक्त 10 इष्टकाएँ और हैं जो अग्नि में पकाई जाती हैं। यथा- स्वयमातृण्णा-3, निर्ऋति-3, लोकेष्टका-4 तथा 18 अनग्निपक्व होते हैं यथा- सिकता, पुष्करपर्ण, रुक्म, सुवर्णपुरुष, श्रीपर्णीस्रुची, औदुम्बरीस्रुची, दूर्वा, कूर्म, उलूखल, मुसल, पशुशिर, विकर्णी, पृश्न्यश्मा एवं उखा नाम की इष्टकाएँ भी होती हैं। सभी इष्टकाएँ तीन चिह्नों से युक्त होती हैं। वे चिह्न भी तीन प्रकार के कहे गये हैं। ऋज्वालिखिता- (।।।) , तिरश्चालिखिता- (---) एवं वक्रालिखिता- (UUU) सभी ईटें उपर्युक्त तीनों प्रकार के चिह्नों में से किसी एक प्रकार के तीन चिह्न से युक्त होते हैं। आज भी तीन चिह्नों की परम्परा वैदिक मार्ग के अनुसार ही हैं। भारत, महान्, नायक आदि शब्द ईंटों पर उल्लिखित मिलते हैं। यदि किसी ईंट में ये शब्द नहीं होते तो कम से कम तीन छिद्र किये हुए मिल जाते हैं।

वक्रेष्टका निर्माणविधि-

चितियों के लिए अपेक्षित इष्टकाओं के माप तथा नाम ऊपर कोष्ठक में दिये गये हैं। गार्हपत्य चयन के निमित्त 8 वक्रेष्टकाएँ अपेक्षित होती हैं, जो उन इष्टकाओं से भिन्न विधि से तैयार की जाती हैं। उनके निर्माण की विधि इस प्रकार है-

पहले 24 अंगुल का एक चतुरस्र बना लें, चतुरस्र को मध्य में करके उसके चारों ओर 48 अंगुल का एक वृत्त बनाएँ। चतुरस्र के बाहर चारों दिशाओं एवं कोण दिशाओं में वृत्त की परिधि तक रेखा खींचें। इस प्रकार 8 वक्रेष्टका का स्वरूप प्राप्त हो जाएगा। देखें-

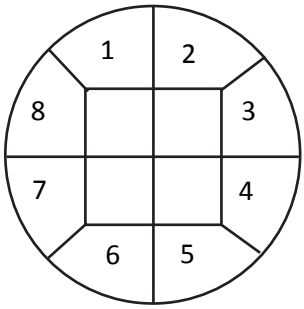

चयनयाग में प्रयुक्त होनेवाली ईंटों के यजुष्मती एवं लोकम्पृणा दो भेद कहे गये हैं। जिन ईंटों का समन्त्रक उपधान होता है वे यजुष्मती तथा जिनका केवल स्थापन (सादन) एवं स्थिरीकरण (सूददोहसाधिवदन) किया जाता है वे लोकम्पृणा कहलाती हैं। उसमें भी ऊँचाई की दृष्टि से पूर्णोत्सेधा-अर्धोत्सेधा दो प्रकार की ईंटें होती हैं। पूर्णोत्सेधा 6 अंगुल ऊँची तथा अर्धोत्सेधा 3 अंगुल ऊँची होती हैं। इन अनेक प्रकार की इष्टकाओं को बनाने की शिल्पशास्त्रीय विधि [माप के अनुसार इष्टकाकरणयन्त्र (फर्मा) आदि विधान] के साथ वेदियों पर यथास्थान उन इष्टकाओं के स्थापन (चयन) की विधि भी बताई गई है। इष्टकाओं के निर्माण में यह ध्यान विशेष रूप से दिया गया है कि इष्टकाकरणयन्त्र (फर्मा) का निर्माण पहले किया जाना चाहिये। फर्मा बनाने हेतु कहा गया है कि-

ह्रसते पाकशोषाभ्यां द्वात्रिंशद्भागमिष्टका।
तस्मादार्द्रप्रमाणं तु कार्यं मानाधिकं बुधैः॥[1]

अर्थात् सूखने एवं पकने के बाद फर्मा से बनी ईंटों का बत्तीसवाँ भाग कम हो जाता है। इसलिए जितने परिमाण की ईंटें अपेक्षित हों उससे बत्तीस भाग अधिक मान की फर्मा (इष्टकाकरणयन्त्र) बनानी चाहिए।

जिस स्थान पर यज्ञवेदी बनाना हो वह स्थान दृढ़ हो, चिकना हो तथा समतल

1. कात्यायन शुल्बसूत्र- 7/30

हो यह सब पहले सुनिश्चित कर लेना चाहिए। कात्यायन शुल्बसूत्र के अनुसार–

समे शङ्कुं निधाय, शङ्कुसम्मितया रज्ज्वा मण्डलं परिलिख्य यत्र लेखयोः शङ्क्वग्रच्छाया निपतति तत्र शङ्कू निहन्ति सा प्राची॥२॥

तदनन्तरं रज्ज्वाभ्यस्य, पाशौ कृत्वा, शङ्क्वोः पाशौ प्रतिमुच्य, दक्षिणायम्य, मध्ये शङ्कुं निहन्त्येवतुत्तरतः सोदीची॥३॥

अर्थात् जहाँ यज्ञवेदी का निर्माण करना हो उस प्रदेश को समतल बनाकर, समतल भूमि में एक शङ्कु स्थापित करें। शङ्कु के बराबर की रस्सी उसमें बाँधकर चारों ओर एक वृत्त बनायें। वृत्त की परिधि पर शङ्कु के अग्रभाग की छाया प्रातःकाल पश्चिम में जहाँ रेखा को काटती हो वहाँ एक शङ्कु गाड़ें। सायं काल पुनः पूर्व में जहाँ परिधि पर शङ्कु की अग्रच्छाया पड़े वहाँ एक शङ्कु गाड़ें। इस प्रकार पूर्व एवं पश्चिम दिशा का साधन हो जायेगा।

शङ्कु में बँधी रस्सी को द्विगुणित कर पूर्व–पश्चिम के शङ्कु में उस रस्सी के दोनों छोड़ को बाँधकर, रस्सी के मध्यभाग को पकड़कर दक्षिण की ओर खींचें। वहाँ सीध में एक शङ्कु गाड़ें, वह दक्षिण होगा तथा इस क्रिया को उलटाकर करने पर उत्तर दिशा का साधन हो जायेगा। आज भी वास्तुशास्त्रियों के द्वारा इन्हीं नियमों का परिपालन किया जाता है। सर्वप्रथम भू–परीक्षण एवं दिक्साधन आदि किया जाता है तत्पश्चात् गृहारम्भ हेतु उचित मुहूर्त्त देखकर शिलान्यासादि कार्य किये जाते हैं। अतः यह स्पष्ट हुआ कि श्रौतवेदी के निर्माण विषयक समस्त तथ्य वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों के जनक हैं।

वास्तुशास्त्र में भूपरिग्रह विचार

डॉ. रश्मि चतुर्वेदी

दिक् सम्मत भवन की स्थिति और विन्यास का उसमें निवास करने वालों के जीवन पर सीधा और स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। आदि काल से हमारे ऋषि मुनियों ने इन प्रभावों का अध्ययन किया है और संचित अनुभवों को वेद-पुराण आदि शास्त्रों में वर्णित किया है। इस ज्ञान को 'वास्तुशास्त्र' कहा गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि वास्तु के नियमानुसार बने भवन मे निवास करने से स्वास्थ्य व सम्पदा की वृद्धि, ज्ञान की प्राप्ति, सन्तान सुख की प्राप्ति होती है, जीवन सुखी एवं शान्तिमय बनता है तथा व्यक्ति समस्त ऋणों से मुक्त रहता है। शास्त्रों की सम्मति की उपेक्षा करने से अनावश्यक यात्राओं, अपयश, अनेक दुखों व निराशाओ का सामना करना पड़ता है। **"सर्वे भवन्तु सुखिनः"** वैदिक उद्घोष का पालन करते हुए समस्त लोक के कल्याण एवं सुख समृद्धि की कामना के साथ सभी ग्राम, नगर एवं भवन वास्तुशास्त्र के नियमानुसार बनाने की परिकल्पना इस शास्त्र का प्रमुख उद्देश्य है। यथा–

सुखं धनानि ऋद्धिश्च सन्ततिः सर्वदा नृणाम्।
प्रियाण्येषां च संसिद्ध्यै सर्वं स्याच्छुभलक्षणम्॥
या च निन्दितलक्ष्मा च तदेतेषां विघातकृत्।
अतः सर्वमुपादेयं यद्भवेत् शुभलक्षणम्॥
देशः पुरनिवासश्च सभा वेश्मासनानि च।
यद्यदीदृशमन्यच्च तत्तच्छ्रेयस्करं मतम्॥
वास्तुशास्त्रादृते तस्य न स्याल्लक्षणनिश्चयः।
तस्माल्लोकस्य कृपया शास्त्रमेतदुदीर्यते॥1

भू परिग्रह से तात्पर्य है **"भूमि का परिग्रहण अर्थात् उचित भूमि का चयन करना।"** किसी भी नगर, ग्राम अथवा भवन के लिए सर्वप्रथम भूमि का चयन किया जाता है। भूमि की उपयुक्तता के लिए सर्वप्रथम भूमि का परीक्षण किया जाता है, इस परीक्षण में इसके कुछ दोष दृष्टिगोचर हो तो इन दोषों को दूर करने के लिए वास्तुशास्त्रोक्त विधि

---

1. स. सूत्रधार प्र. अ. श्लोक - 2-5

से भूमि का शोधन किया जाता है भूमि के आकार, वर्ण एवं शब्दादि के आधार पर उत्तम प्रकार से विद्वान स्थपति से परीक्षण करवा कर भूमि परिग्रहण का निर्देश वास्तुशास्त्र में दिया गया है। यथा–

आकारवर्णशब्दादिगुणोपेतं भुवः स्थलम्।
संगृह्य स्थपतिः प्राज्ञो दत्त्वा देवबलिं पुनः।।[1]

भूमि परीक्षा–

भवन प्रसादादि के निर्माण के लिए भूमि की परीक्षा वर्ण, गन्ध, रस, आकृति, दिशा, शब्द, एवं स्पर्श के द्वारा करनी चाहिए। परीक्षा के पश्चात् ही निर्माण कार्य की आवश्यकता के अनुसार भूमि–ग्रहण करना चाहिए। यथा–

वर्णगन्धरसाकारादिक्शब्दस्पर्शनैरपि।
परीक्ष्यैव यथायोग्यं गृहीतावधिनिश्चिता।।[2]

श्वेत, लाल, पीली और काली–रंगो के अनुसार भूमि ये चार प्रकार की भूमि क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों के लिए प्रशस्त मानी गई है। यथा–

सिता, रक्ता च पीता च कृष्णा चैव क्रमान्मही।
विप्रादीनां हि वर्णानां सर्वेषामथवा हिता।।[3]

स्वादानुसार भूमि के 4 प्रकार बतलाए गए है– मधुर, कषाय, तीखी एवं कटु। जो कि क्रमशः विप्रादि चारों वर्णों के लिए प्रशस्त कही गई है। इनमें मधुर स्वाद वाली भूमि सभी वर्णों के लिए श्रेष्ठ होती है। यथा–

स्वादुः कषाया तिक्ता च कटुका चेत्यनुक्रमात्।
वर्णानां स्वादतः शस्ता सर्वेषां मधुराथवा।।[4]

भूमि की परीक्षा उसके विभिन्न ऋतुओं में अनुकूल स्पर्शानुसार भी बतलाई गई है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी भूमि जो ग्रीष्म ऋतु में स्पर्श करने पर शीतलता प्रदान करें और शीत ऋतु में उष्णता प्रदान करें। तथा वर्षा ऋतु में शीतल एवं उष्ण दोनों ही प्रकार की अनुभूमि दें। ऐसी भूमि बसने के लिए प्रशस्त बतलाई गई है। यथा–

---

1. मयमतम्, चतुर्थ अध्याय, श्लोक– 1
2. तत्रैव द्वि.अ. श्लो (4)
3. स.सूत्रधार, अ.– 8, श्लोक– 48
4. तत्रैव 49 श्लो.

घर्मागमे हिमस्पर्शा या स्यादुष्णा हिमागमे।
प्रावृष्युष्णाहिमस्पर्शा सा प्रशस्ता वसुन्धरा।।[1]

भूमि से उत्पन्न विभिन्न ध्वनियों से भी भूमि की प्रशस्ता का परीक्षण किया जाता है। प्रहार करने पर जिस भूमि से मृदंग, वल्लकी, वेणु और नगाड़े जैसी ध्वनि निष्पन्न होती हो अथवा जो हाथी की तरह गर्जन वाली, अश्व के समान हिनहिनाती और सागर की तरह गर्जन की भाँति ध्वनि देती हो वे भूमियाँ प्रशस्त बतलाई गई है। यथा–

मृदंगवल्लकीवेणुदुन्दुभीनां समा ध्वनौ।
द्विपाश्वाब्धिसमस्वाना चेति स्युर्भूमयः शुभाः।।[2]

पुन्नाग, चमेली, कमल एवं गुलाब के पुष्प के समान गन्ध वाली और पशु गन्ध से युक्त अर्थात् जिस भूमि पर पशुओं का निवास रहा हो ऐसी भूमि उपजाऊ हाने से सर्वोत्तम बतलाई गई है। भूमि का वर्ण गहरा भूरा होना चाहिए। चिकनी और स्पर्श करने पर मधुर ऐसी सुख एवं आनन्द देने वाली भूमि निवास के लिए श्रेष्ठ बतलाई गई है। यथा–

पुन्नागजाति पुष्पाब्जधान्यपाटलगन्धकैः।।
पशुगन्धसमा श्रेष्ठा सर्वबीजप्ररोहिणी।
एक वर्णा घना स्निग्धा सुखसंस्पर्शनान्विता।।[3]

प्रशस्त भूमि लक्षण–

आचार्य वराहमिहिर के अनुसार जिस भूमि में उत्तम प्रकार तथा जिसका तल की औषधियाँ, वृक्ष एवं लता पाई जाती है, जिसका स्पर्श मधुर हो, चिकना हो, गन्ध सुगन्धित हो तथा समतल हो जिस भूमि पर परिश्रम उपरान्त बैठने पर शारीरिक एवं मानसिक रूप से शान्ति की अनुभूति हो ऐसी भूमि प्रशस्ता बतलाई गई है। ऐसी भूमि में भवन बनाकर निवास करन से भूस्वामी को धन सुख एवं शान्ति प्राप्त होती है। यथा–

शस्तौषधिद्रुमलता मधुरा सुगन्धा,
स्निग्धा समानसुखदा च मही नराणाम्।
अप्यध्वनि श्रमविनोदमुपागतानां,
धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेणु।।[4]

उर्वरा शक्ति से युक्त भूमि अर्थात् उपजाऊ, चिकनी मिट्टी वाली, जिस भूमि में

1. तत्रैव श्लोक- 50
2. स. सू. 8/51
3. मयमतम्, तृ.अ., 2-3
4. बृहद् वा.मा. 1/78

पर्याप्त मात्रा में जल पाया जाता है तथा तृण एवं वनस्पति से युक्त भूमि को वास्तुशास्त्र के सभी आचार्यों द्वारा निवास के लिए प्रशस्त बतलाई गई है। यथा–

अनूषरा स्निग्धवती प्रशस्ता च बहूदका।
तृणोपलान्विता या सा मान्या वास्तुविधौ घरा।।[1]

वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों शब्द-स्पर्श-रूप-रस एवं गंध के आधार पर विशेष फलों की चर्चा इस प्रकार की गयी है।

उत्तम भूमि में वास्तु का फल–

जो भूमि देखने में मनोरम हो, वह सुतप्रदा बतलाई गई है। जो भूमि दृढ़ होती है वह धनप्रदा कही गई है। यथा–**मनोरमा सुतप्रदा दृढ़ा धनप्रदा मता।।**[2] गम्भीर शब्दवाली भूमि (जिसे ठोकने पर गम्भीर शब्द उत्पन्न होता हो) ऐसी भूमि बुलन्द आवाज वाले पुत्रों को प्रदान करने में सक्षम हाती है। यथा–**गम्भीर शब्दा जनयेत्पुत्रान् गम्भीर निःस्वनान्।**[3] देखने में विकट अर्थात् उबड़-खाबड भूमि शूद्र जाति के निवासार्थ शुभफलदायिनी होती है। तथा ऐसी भूमि पर दुर्ग निर्माण भी शुभ होता है। यथोक्तम्–**विकटाशूद्रजातीनां तथा दुर्गनिवासिनां शुभदा।।**[4]

ब्राह्मणादि वर्णों के लिए क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत एवं कृष्ण वर्ण की भूमि शभफलप्रदा बतलाई गई है। किन्तु श्वेत वर्ण की भूमि सभी वर्णों के लिए पुत्र-पौत्रवर्धक होती है। यथोक्तम्–

स्ववर्णवर्णा स्वान् वर्णान् वर्णानामधिपत्यदा।
शुक्लवर्णा च सर्वेषां पुत्रपौत्रविवर्धनी।।[5]

कुश एवं काश से युक्त में भूमि में वास करने पर ब्रह्मतेज से युक्त पुत्र उत्पन्न होते है अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष सन्ततिप्रदा होती है। जिस भूमि में दूर्वा की अधिकता हो उसमें वीरसन्तति उत्पन्न होती है। फलों से सम्पन्न भूमि में गृह निर्माण करने से धन एवं पुत्रों की प्राप्ति होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस भूमि में जैसी वनस्पति उगती है उसके गुण वहाँ के निवासियों में स्वतः ही प्रवेश कर जाते है।

प्लव परीक्षा–प्लव शब्द का अर्थ है ढलान। भूमि की विभिन्न दिशाओं एवं

1. बृ. वा. मा. 1/77
2. वि. क. प्र. 1/50
3. तत्रैव 51
4. तत्रैव 52
5. तत्रैव 53

विदिशाओं में ऊँचाई एवं नीचाई के अनुसार उसके शुभाशुभत्व का विचार किया जाता है। ईशान, पूर्व एवं उत्तर दिशा में प्लव शुभ माना गया है। इन दिशाओं में सकारात्मक ऊर्जा का प्रवाह सर्वाधिक होता है। यदि यहाँ प्लव मिलता है तो ऐसी भूमि में भवन निर्माण करने से अनेक प्रकार के शुभ फलों की प्राप्ति होती है। यथा–**सुतार्थदा तथाप्युदक् सुरेशदिक् प्लवा मही।**[1] जिस भूमि का ढलान, उत्तर-पूर्व या ईशान की ओर हो वह भूमि पुत्रप्रद एव धनप्रद होती है।

श्रियं दाहं तथा मृत्युं धनहानिं सुतक्षयम्।
प्रवासं धनलाभं च विद्यालाभं क्रमेण च।।
विदध्यादचिरेणैव पूर्वादिप्लवतो मही।
मध्यप्लवा मही नेष्टा न शुभा प्लवतत्परा।।[2]

भूमि का विभिन्न दिशाओं नीचाई और ऊँचाई का फल–

1. ईशान कोण (उत्तर पूर्व) की दिशा में प्लव हर प्रकार की उन्नति और उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करता है। यदि यह स्थान ऊँचा हो तो धनहानि, व्याधि एवं दुखों को देने वाला होगा।
2. पूर्व दिशा की ओर ढलान स्वास्थ्य, धन, यश और हर प्रकार की सफलता प्रदान करती है। पूर्व दिशा में ऊँची भूमि अपयश, असफलताएँ एवं संतान को निराशा देने वाली होती है।
3. आग्नेय कोण में नीची भूमि में चोरी अग्निभय और लड़ाई-झगड़े की आशंका रहती है। आग्नेय कोण यदि सबसे निम्न हो तो अशुभ प्रभावों में वृद्धि हो सकती है। लेकिन अगर आग्नेय काण वायव्य एवं ईशान से ऊँचा और नैर्ऋत्य से नीचा हो तो ऐसी भूमि धन, सुख और ऐश्वर्यप्रद हाती है।
4. दक्षिण दिशा में ढलान वाली भूमि अशुभ होती है। यह रोग, धनहानि और मानसिक परेशानियों का कारण है। यदि दक्षिण दिशा में भूमि ऊँची हो तो सफलता, धनवृद्धि, सुख शान्ति एवं यश प्रदान करती है।
5. नैर्ऋत्य कोण (दक्षिण पश्चिम) की दिशा में भूमि का ढलान पारिवारिक कष्ट, संतति कष्ट प्रदान करती है। इस दिशा में ऊँची भूमि हर प्रकार के सख एवं समृद्धि को प्रदान करती है।
6. पश्चिम दिशा में ढलान वाली भूमि धन हानि तथा रोगप्रद होती है। परन्तु इस दिशा में ऊँचाई सफलता, यश और समृद्धि का सूचक है।
7. वायव्य कोण में ढलान होने पर अस्थिरता का प्रभाव रहता है। प्रवास, धनहानि एवं

1. वि.प्र. 1/50
2. बृहद् वस्तुमाला-1/35, 39

शत्रुता की वृद्धि होती है। अगर वायव्य ईशान से निम्न हो तो रोगकारक और ईशान से ऊँचा हो तो शुभ होता है।

8. उत्तर दिशा में ढलान वाली भूमि धन, उन्नति एवं सफलता को देने वाली होती है। उत्तर की ओर ऊँचाई धनहानि, मानसिक तनाव और आर्थिक परेशानियों का कारण बन सकता है। यथा–

शम्भुकोणे प्लवा भूमिः कर्त्तुः सुखदायिनी।
पूर्वप्लवा वृद्धिकरी धनदा तूत्तरप्लवा।।
मृत्यशोकप्रदा नित्यमाग्नेयी दक्षिणप्लवा।
गृहक्षयकरी सा च भूमिर्या निर्ऋतिप्लवा।।
धनहानिकरी चैव कीर्तिदा वरुणप्लवा।
वायुप्लवा तथा भूमिर्नित्यमुद्वेगकारिणि।।[1]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि भूमि का ढलान ईशान कोण, पूर्व एवं उत्तर की ओर शुभफलप्रद है। बीच में ढलान वाली भूमि सभी प्रकार के निर्माण के लिए अशुभप्रद है। भूमि की चारों दिशाओं एवं विदिशाओं (कोणों) में ऊँचाई नीचाँई के अनुसार आठ वीथियों का वर्णन भी वास्तुशास्त्र में किया गया है–

वारुणोच्चसमायुक्ता नीच माहेन्द्रसंयुता।
सा गोवीथीति विज्ञेया ऐन्द्रोच्चा नीचवरुणा।।
जलवीथिरिति प्रोक्ता वास्तुज्ञानविशारदैः।
सोमोच्चयमनीचा च यमवीथि कथ्यते।
यमोच्चसोमनीचा च गजवीथिति कथ्यते।।
ईशानोच्चं निर्ऋतौ नीचं भूतलं भूतवीथिकम्।
आग्नेयोच्चं वायुनीचं नागवीथी प्रशस्यते।।
वायूच्चमग्निनीचं यद् वीथिं वैश्वानरीं विदुः।
निर्ऋत्युच्चमीशनीचं धनवीथीत्युदाहृता।।[2]

प्रकृति प्रदत्त सकारात्मक ऊर्जा क गुणों से युक्त भूमि का चयन करना हो तो वीथी का विचार करना चाहिए।

१. गोवीथि– पश्चिम भाग में ऊँची तथा पूवभाग में नीची भूमि शुभफलप्रद हाती है।

२. जलवीथि– पूर्व में ऊँची तथा पश्चिम में नीची भमि अशुभफलप्रद होती है।

---

1. बृ.वा.मा. 1/37–39
2. बृ.वा.मा. मिश्रप्रकरण 42–46

३. यमवीथि– उत्तर में ऊँची तथा दक्षिण में नीची अशुभफलप्रद होती है।
४. गजवीथि– दक्षिण में ऊँची तथा उत्तर में नीची शुभफलप्रद होती है।
५. भूतवीथि– ईशान में ऊँची तथा नैऋत्य में नीची अशुभफलप्रद होती है।
६. नागवीथि– आग्नेय में ऊँची तथा वायव्य में नीची शुभ होती है।
७. वैश्वानरवीथि– वायव्यकोण में ऊँची तथा आग्नेय कोण में नीची अशुभफलप्रद होती है।
८. घनवीथि– नैर्ऋत्य में ऊँचीं तथा ईशान में नीची उत्तमफलप्रद होती है।

तात्पर्य यह है कि जिस भूमि पर निमार्ण करना हो उसमें नैर्ऋत्य कोण सबसे ऊँचा, ईशानकोण सबसे नीचा होना चाहिए। वायव्य कोण ईशान कोण से ऊँचा तथा आग्नेय कोण वायव्य से ऊँचा होना चाहिए।

भूमि के आकार–

वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में भूमि के आकार पर पर्याप्त विचार किया गया है। क्योंकि विभिन्न आकार की भूमि के शुभाशुभफल वास्तुशास्त्र में बतलाए गए हैं।

आयताकार भूमि (जिस भूमि के आमने-सामने की दोनों भुजाएँ समान और कोण सम कोण हों) सर्वसिद्धिदायक होती है। चतुरस्र (जिसकी लम्बाई चौड़ाई समान हो) भूमि धनप्रद होती है। वृत्ताकार भूमि बुद्धि की वृद्धि करने वाली होती है। भद्रासनाकार भूमि सब प्रकार का कल्याण करने वाली होती है। चक्राकार दरिद्रता, विषमाकार (ऊँची नीची) भूमि शोकप्रद, त्रिकोणाकार भूमि राजभयप्रद, शकटाकार भूमि अर्थनाशप्रद, दण्डाकार पशुनाशक, सूपाकार भूमि गायों का नाश करने वाली, व्यजनाकार अर्थक्षयकारक और धनुषाकार भूमि पर निवास करने पर से महान भय उत्पन्न होता है। कुम्भकार भूमि कुष्ठरोगप्रद होती है इसमें संशय नही। पवनाकार भूमि नेत्रज्योति एवं धन को नष्ट करने वाली होती है जबकि मुरजाकार भूमि बन्धु-बान्धवों को क्षयकारी होती है। इस प्रकार भूमि के आकार का विशेष रूप से विचार करना चाहिए। यथा–

आयते सिद्ध्यस्सर्वाचश्तुरस्रे धनागमः।
वृत्ते तु बुद्धिवृद्धिः स्याद्भद्रं भद्रासनं भवेत्॥
चक्रे दारिद्र्यमित्याहुर्विषमे शोकलक्षणम्।
राजभीतिस्त्रिकोणे स्याच्छकटे तु धनक्षयः॥
दण्डे पशुक्षयं प्राहुः शूर्पे वासे गवां क्षयः।
कूर्म्मे तु बन्धनं पीडाः धनुः क्षेत्रे भयं महत्॥
कुम्भाकारे कुष्ठरोगा भवत्येव न संशयः।
पवने नश्यति नेत्रं धनञ्च बन्धुक्षयो मुरजे॥[1]

1. वास्तुरत्नावली 1/49-52

भूमि के आकार का सम्यक् परीक्षण अवश्य करना चाहिए चतुरस्र (चौकोर) आकार भवन निर्माण के लिए सर्वश्रेष्ठ कहा गया है इसका कारण दिक्सम्मत व्यवस्था एवं विन्यास के शुभ फलों के प्रदान करने में यह आकार सर्वाधिक सक्षम है। विषम आकारों में शोधन कर चौकार आकार निकालकर उनका उपयोग किया जा सकता है।

भूमि दोष–

भूमि में वर्णादि के आधार पर अनेक दोष वास्तु शास्त्र के ग्रन्थों में बतलाएँ गए है। किसी भी प्रकार के दोष से युक्त भूमि पर निवास नहीं करना चाहिये। दोष युक्त भूमि पर निवास करने से मानव को नकारात्मक फलों की प्राप्ति होती है।

वास्तुग्रन्थों में कटी-फटी, शल्य (हड्डी) वल्मीक (दीमक) से युक्त, असमान भूमि में निवास करने वालों के धन एवं आयु का ह्रास करने वाली होती है। फटी भूमि मृत्युप्रद, ऊसर भूमि धन नाशिका, शल्ययुक्त भूमि क्लेशदायिनी एवं मरणप्रद, असमान भूमि शत्रुवृद्धिकारिणी, श्मशान जैसी भूमि दीमकयुक्त भूमि विपत्तिदायिनी, गर्त्तयुक्त भूमि विनाशिनी, तथा कूर्माकारभूमि धननाशिनी होती है। ये भूमि के प्रमुख दोष हैं। यथा–

स्फुटिता च सशल्या च वल्मीकाऽऽरोहिणी तथा।
दूरतः परिहर्तव्या कर्त्तुरायुर्धनापहा।।
स्फुटिता मरणं कुर्यादूषरा धननाशिनी।
सशल्या क्लेशदा नित्यं विषमा शत्रुवर्धिनी।।
चैत्ये भयं गृहकृतो वल्मीके स्वकुले विपत्।
गर्तायां तु विनाशः स्यात्कूर्माकारे धनक्षयः।।[1]

जिस भूमि में खोदने पर राख-कोयला, अस्थि, कपाल, भूसा, केश, विष और पत्थर निकलते हो, जो चूहों द्वारा कूरेदी गई हो, जो दीमक एवं बालू वाली हो, भूमि में कूड़ा ज्यादा हो, जो रुक्ष या उपज में उदासीन हो, निम्नतला, छिद्रयुक्त, ऊसर, वामावर्त जलवाहिनी और ऊँची नीची हो ऐसी दोष युक्त भूमि भवन निर्माण में त्याज्य है। भूमि में शल्य की उपस्थिति भूमि को पोला करती है ऐसी पोली भूमि में स्थायित्व का अभाव होता है इस कारण भूमि चयन के समय इन दोषों पर विचार सम्यक् रूप से करना चाहिए। यथा–

भस्माङ्गारकपालास्थितुषकेशविषाश्मभिः।
मूषकोत्करवल्मीकशर्कराभिश्च निर्भरा।।
रूक्षा प्रहोहिणी निम्ना भङ्गुरा सुषिरोषरा।
वामावर्तजलस्राविण्यसारा विषमोन्नता।।[2]

1. बृ.वा.मा.- मिश्रप्रकरण 79-81
2. स.सू. 8/53-54

गन्धादि लक्षणों के आधार पर भूमि की अशुभता के सम्बन्ध में वर्णन इस प्रकार मिलता है– जिस भूमि से पक्षियों की वसा, रक्त, मज्जा, बीट–पुरीष, मूत्र, मल आदि की दुर्गन्ध आती हो अथवा तेल या मुर्दे की गन्ध आती हो ऐसी भूमि भवन निर्माण में त्याज्य है। यथा–

वसासृङ्मज्जविण्मूत्रमलकोशपतत्रिणाम्।
समगन्धां त्यजेदुर्वीं तैलस्य च शवस्य च।।[1]

धुएँ जैसे वर्णवाली अथवा मिश्रित वर्ण वाली, विवर्णा या रुक्ष वर्णा भूमि भी भवन निर्माण में त्याज्य है। वह कभी भी अभीष्ट को पूरा नही करती है। वर्णानुसार भूरा तथा श्वेत वर्ण शास्त्रानुसार सभी वर्णों के लिए प्रशस्त माना गया है। यथा–

सदैव धूम्रवर्णा या मिश्रवर्णाथवा मही।
विवर्णा वा भवेद्भूमिः सा न स्यादिष्टदायिनी।।[2]

तिक्त, अम्लीय एवं लवणीय स्वाद से युक्त भूमि विद्वेषकारिणी होने के कारण निवास योग्य नही है। यथा–

तिक्ताम्ललवणा चापि भूमिर्या स्वादतो भवेत्।
तां लोकविद्वेषकरीं त्यजेत् पुरनिवेशेन।।[3]
या रूक्षखरसंस्पर्शा सदैवोष्णा हिताथवा।
अनिष्टसुखसंस्पर्शा या स्यात् तामपि सन्त्यजेत्।।[4]

स्पर्श करने पर जो भूमि रूखी–सूखी प्रतीत हो अथवा सदैव उष्ण या शीतल रहने वाली हो, जिसका स्पर्श अप्रिय हो, वह भी निर्माण में त्याज्य है। यथा–

क्रोष्टूष्ट्राश्वरवस्वना या च निर्झरनिस्वना।
भिन्नमण्डलसमक्रूरध्वनितापि च नेष्यते।।[5]

भूमि के चयन में शब्द (ध्वनि) का सम्यक् विचार करना चाहिए। किसी भी प्रकार की कर्कश ध्वनि से युक्त भूमि त्याज्य है। तात्पर्य यह है कि जिस भूमि पर शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध से सम्बन्धित दोषों से युक्त हो उस भूमि का परिग्रहण नही करना चाहिए।

---

1. स.सू. 8–58
2. तत्रैव– 59
3. तत्रैव– 60
4. तत्रैव– 61
5. 62 तत्रैव

विश्वकर्मा ने अपने ग्रन्थ विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में भूकम्प से प्रभावित एवं अग्नि से दग्ध भूमि का परित्याग विशेष रूप से उल्लेखनीय है–

कम्पेन मेदिता भूमिरग्निदग्धा च सर्वतः।।[1]

भूमिघनत्वपरीक्षण–

वास्तुशास्त्रानसार जिस भूमि की मिट्टी में घनत्व अधिक हो उस पर किया गया निर्माण अधिक स्थायी और शुभ परिणाम देने में सक्षम होता है। आधुनिक भवन निर्माण शैली भी मिट्टी के घनत्व पर अधिक महत्व देती है इसलिए निर्माण कार्य से पहले मिट्टी के घनत्व की जाँच की जाती है। मिट्टी के घनत्व का परीक्षण इसलिए भी आवश्यक है कि क्या यह भूमि भवन के भार को वहन कर पायेगी या नही और प्राकृतिक आपदायें जैसे भूकम्प और बवंडर आदि झेलने की क्षमता उसमें है या नही? इसमें कोई सन्देह नही कि हमारे आचार्यों ने भूमि के घनत्व ही नही अपितु उन ब्रह्माण्डीय ऊर्जाओं की सूक्ष्म जानकारी रखते थे जो कि मानव शरीर और उसके आसपास के वातावरण में सम्मिश्रित है।

आधुनिक भवन निर्माण पद्धति में मिट्टी के घनत्व का परीक्षण परीक्षणशाला में जाँचा जाता है। हमारे प्राचीन वास्तुग्रन्थों में भी मिट्टी के घनत्व के परीक्षण की विभिन्न विधियाँ बतलाई गई है–

भूखण्ड के मध्य में भूस्वामी के हाथ के माप के बराबर एक हाथ लम्बा, एक हाथ चौड़ा तथा एक हाथ गहरा गढ्ढा खोदना चाहिए फिर उसी की जो मिट्टी निकली हो उसी से उस गढ्ढे को भर दें। यदि गढ्ढा भरने पर मिट्टी बच जाए तो भूमि उत्तम प्रकार की हाती है। यदि गढ्ढा पूरा भर जाए मिट्टी न बचे तो भूमि मध्यम प्रकार की होती है और यदि गढ्ढा भरने पर और मिट्टी की आवश्यकता पड़े तो भूमि अधम पकार की होती है।

उक्त प्रकार से खोदे गए गड्ढे में जल भर दें। जल भरने के पश्चात सौ कदम दूर जाकर वापिस लौट कर परीक्षण करें। यदि गढ्ढा जल से भरा हो तो भूमि उत्तम, चौथाई या आधे से अधिक जल बचे तो भूमि मध्यम और इससे कम बचे तो भूमि अधम प्रकार की होती है। यथा–

निखनेद् हस्तमात्रेण पुनस्तेनैव पूरयेत्।
पांसुनाऽधिकमध्योना श्रेष्ठा मध्याधमा क्रमात्।।[2]

---

1. वि. क. वा. 5-27
2 बृ. वा. मा., भूमिशोधन - 1/107

तत्कृत्वा जलपूर्णमाशत पदं गत्वा परीक्ष्यं पुनः।
पादोनेऽर्धं विहिन केऽनिभृते मध्याधमेष्टाम्बुभिः॥[1]

आचार्य नारायणभट्ट न वास्तुरत्नावली में भूमि परीक्षण की विधि इस प्रकार बतलायी है– जिस भूखण्ड का चयन करना हो उसके बीच में एक हाथ लम्बा, एक हाथ चौड़ा और एक हाथ गहरा गड्ढा सांयकाल खोदकर उसमें पानी भर देना चाहिए। फिर प्रातः काल के समय यदि उस गड्ढे में कुछ पानी बचे, तो वह भूमि वास करने के लिए श्रेष्ठ होती है। यदि गड्ढे में गीली–गीली मिट्टी हो तो भूमि मध्यम होती है। और यदि गड्ढे में पानी ना बचे अपितु वहाँ दरारें हों तो ऐसी भूमि का ग्रहण नही करना चाहिए।

बृहद् वास्तुमाला में बतलाया गया है कि भूमि परीक्षण के लिए कुछ गहराई तक उसकी खुदाई करनी चाहिए। यदि खुदाई में चींटी एवं दीमक के बिल, अजगर, साँप, भूसा, हड्डी, कपड़े, कौड़ी, रुई, जली लकड़ी, खोपड़ी, खप्पर या लोहा निकले तो ऐसी भूमि में निवास नही करना चाहिए।

महर्षि गर्गानुसार जिस भूमि पर खड़े होते ही मन और आँखो को तृप्ति एवं संतोष मिलता हा वहाँ निवास करना चाहिए। इस प्रकार पूर्वोक्त चार विधियों से मिट्टी के घनत्व की परीक्षा और पॉचवी विधि से भूखण्ड के वातावरण की परीक्षा की जा सकती है। वस्तुतः भवन का आधार भूमि है। वह जितनी ठोस होगी उस पर बना भवन उतना ही स्थायी होगा। अतः भूमि चयन करने से पूर्व या वर्तमान में महानगरीय परीस्थितियों में मकान बनान से पहले भूमि की परीक्षा अवश्य कर लेनी चाहिए।

यदि भूमि का परीक्षण करते समय उसका घनत्व सही न हो, भूमि रेतीली या उसमें चीटी–दीमक की बाँबी हो, पोली हो या भूसा राख, हड्डी अथवा रूई आदि हो उस भूमि पर भवन नही बनाना चाहिए। अथवा उसकी पर्याप्त खुदाई कर उसमं से अनपेक्षित चीजों को निकालकर पत्थर के टुकड़ों और चिकनी मिट्टी से भर कर फिर भवन बनाना चाहिए। यथा–

श्वभ्रं हस्तमितं खनेदिह जलं पूर्णं निशास्यं न्यसेत्।
प्रातर्दृष्टजलं स्थलं सदजलं मध्यं त्वस्फाटितम्॥
पिपिलिकाषोडशपक्षनिद्रा भवन्ति चेत्तन्न निवसेन्न कर्ता।
तुषास्थिचीराणि तथैव भस्मान्यण्डानि सर्पा मरणाप्रदाः स्युः॥
वराटिका दुःख कलिप्रदात्री कापास एवाति ददाति दःखम्।
काष्ठं प्रदग्धं त्वनिरोगभीतिर्भवेत्कलिः खर्परदर्शनेन॥

---

1 बृ. वा. मा., भूमिशोधन – 1/106

लौहेन कर्त्तुमरणं निगद्यं विचार्य वास्तुं प्रदिशन्ति धीराः।[1]
मनसश्चक्षुषोर्यत्र सन्तोषो जायते भुवि॥
तस्यां कार्यं गृहं सर्वैरिति गर्गादिसम्मतम्।[2]
जलान्त प्रस्तरान्तं वा पुरुषान्तमथापि वा॥[3]

वर्तमान में विशेष विचार–

भूखण्ड के आस-पास का क्षेत्र – वर्तमान सन्दर्भ में जिस भूखण्ड पर निर्माण करना हो उसके आस-पास के क्षेत्र में स्थित अन्य भवन, पेड़, नदी जलाशय, सड़क, पहाड़ एवं टीले आदि का विचार कर लेना चाहिए। क्योकि इनका वातावरण पर और उसके माध्यम से वहाँ रहने वालों के जीवन पर प्रभाव पड़ता है। इस विषय में त्रिस्कन्ध मर्मज्ञ प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी के ग्रन्थ **'भारतीय वास्तुशास्त्र'** में भूमि चयन में शुभाशुभत्व के निर्णायक सूत्र इस प्रकार बतलाए गए हैं –

1. भूखण्ड के पर्व एवं उत्तर में स्थित अन्य भूखण्ड या सड़क का तल दक्षिण एवं पश्चिम से नीचा होना शुभ होता है।
2. भूखण्ड के दक्षिण या पश्चिम में ऊँचे भवन, पहाडियाँ टीले या पेड़ आदि हो तो शुभ माने जाते है। जबकि उत्तर या पूर्व की ओर इनका होना अशुभ होता है।
3. भूखण्ड से पूर्व या उत्तर की ओर कोई नदी, नहर या नाला हो जिसका प्रवाह दक्षिण से उत्तर या पश्चिम से पूर्व हो तो शुभ होता है।
4. प्लाट से दक्षिण या पश्चिम में नदी, नहर, नाला, तालाब या पोखर आदि जलाशय का हाना अशुभ होता है।
5. भूखण्ड के उत्तर, पूर्व या ईशानकोण में भूमिगत जलस्रोत- कुआं तालाब एवं बावड़ी आदि होना शुभ होता है।
6. जबकि भूखण्ड के दक्षिण, आग्नेय, नैर्ऋत्य एवं वायव्य में कुआँ आदि का होना अशुभ होता है।
7. भूखण्ड के आसपास श्मशान, कब्रिस्तान, मकबरा या समाधि होना अशुभ होता है।
8. भूखण्ड के आसपास सरकारी कार्यालय, विद्यालय, धर्मशाला, सिनेमा हाल एवं बड़ा मन्दिर जो भूखण्ड पर धूप एवं हवा के आवागमन में अवरोधक हो अशुभ होता है। किन्त व्यापारिक भवन के लिए अच्छा होता है।
9. जिस भूखण्ड पर आस-पास वाले घरों का विसर्जित पानी या वर्षा का जल आता है वहाँ मकान नही बनाना चाहिए।

---

1. बृ. वा. मा. 1/114-115
2. तत्रैव- 93
3. तत्रैव- 103

10. भूखण्ड में बाँवी, बिल, मधुमक्खी का छत्ता, कौआ या उल्लू के घौंसले आदि हों, तो उन्हें हटाकर ही मकान बनाना चाहिए
11. भूखण्ड के आसपास बरगद, पीपल, गूलर आदि के ऐसे पेड़ जिनकी जड़े अपने भूखण्ड तक फैली हो अशुभ होते हैं।
12. यदि भूखण्ड दो बड़े भूखण्डों क बीच में हो या आसपास में झुग्गी-झोपडी या झोपड पट्टी हो तो शुभ नही होता।
13. विधर्मियों के पूजा स्थल, अस्पताल, पलिस थाना, कचहरी, नदी, घाट, रेलवे क्रासिंग, बार या मदिरालय के पास वाले भूखण्ड पर मकान नही बनाना चाहिए।
14. जिस भूखण्ड के आसपास भीड़-भाड या कोलाहल हो वह शुभ नही होता।
15. जिस भूखण्ड के आस-पास वातावरण देखने में अच्छा लगे और जिससे मन में सन्तुष्टि हो वह शुभ होता है।

वर्तमान समय में भूखण्ड चयन से पूर्व उक्त 15 सूत्रों के माध्यम से भूखण्ड का परीक्षण अवश्य करना चाहिए। इन सूत्रों का अनुपालन करके वास्तुसम्मत भूखण्ड का चयन किया जा सकता है। तथा उस पर भवन निर्माण कर शास्त्र की, सपरिवार सानन्द निवास किया जा सकता है। तथा सुखपूर्वक निवास की परिकल्पना को सार्थक किया जा सकता है।

कहने तात्पर्य यह है सभी आचार्यों द्वारा प्रदत्त भूमि के गुण-दोषों का सम्यक् रूप से पालन करना चाहिए। जिस भूमि में गुण अधिक हो तथा दोष कम हो ऐसी भूमि का चयन करना चाहिए। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि श्वेत, रक्त, पीत एवं कृष्ण वर्ण वाली, अश्व एवं गज के निनाद से युक्त, मधुर आदि छः स्वादों वाली, एक वर्ण की, गो, धान्य एवं कमल की गन्ध से युक्त, पत्थर एवं भूसे से रहित, दक्षिण एवं पश्चिम में ऊँची, पूर्व एवं उत्तर में ढलान वाली, श्रेष्ठ सुरभि के सदृश्य शूल एवं अस्थि से रहित, धूल, बालू से रहित भूमि सभी के लिए अनुकूल होती है। अतः श्रेष्ठ बुद्धिमान को चाहिए कि वह शिल्पशास्त्रों के परीक्षको द्वारा नाना प्रकार के उपायों से परीक्षित उत्तम-मध्यम भूमि को गृह वास्तु, व्यावसायिक वास्तु एवं धार्मिक वास्तु सम्मत निर्माण के लिए ग्रहण करना चाहिए।

परीक्षकैश्शास्त्रविद्भिर्नानोपायैः परीक्षिताम्।
उत्तमां मध्यमां वापि भूमिं प्राप्य बुधोत्तमैः॥

शिल्पशास्त्र में रसानुप्रयोग

डॉ. मोहिनी अरोरा

भारतीय संस्कृति की विशेषता है सृजनात्मकता और इसके देवता विश्वकर्मा शिल्पशास्त्र के आचार्य एवं आविष्कारक माने जाते हैं-

''विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसंभवः।''[1]

इन्हें वास्तुशास्त्र और तकनीकी ज्ञान का जनक माना जाता है। विष्णु पुराण में उल्लेख है कि भगवान विष्णु ने उन्हें शिल्पावतार के रूप में सभाजित किया था। यह सम्मान उत्कल प्रान्त के जगन्नाथ मंदिर की शिल्परचना से प्रसन्न होकर भगवान विष्णु ने विश्वकर्मा को दिया था। विश्वकर्मा ने ही हस्तिनापुर, लंका एवं भगवान कृष्ण की द्वारिका नगरी का निर्माण भी किया था। भारतीय कला के इतिहास में वैदिक युग से लेकर आधुनिक काल तक जो भी निर्माण कार्य सम्पन्न हुए, उनमें लौकिक तथा धार्मिक दोनों प्रकार की वास्तु संरचनाएं हैं। देवालयों, स्तूपों, चैत्यों आदि के साथ साथ प्रासाद, दुर्ग, नगर आदि की व्यवस्था में जिस निर्माण तत्त्व के महत्त्व को स्वीकार कर इनका विकास हुआ वह विश्वकर्मा देवता का शिल्पी तत्त्व है।[2]

शिल्प क्या है? इसके विषय में शुक्रनीति में बहुत सुन्दर परिभाषा प्राप्त होती है -

प्रासाद-प्रतिमाराम-गृह-वाप्यादिसत्कृतिः।
कथिता यत्र तच्छिल्पशास्त्रमुक्तं महर्षिभिः॥[3]

मुख्य रूप से शिल्प को दो भागों में विभक्त किया गया है- अपूर्व और प्रतिरूप। भगवान द्वारा निर्मित वस्तुओं से भिन्न एकदम नया निर्माण अपूर्व है। यथा - पुस्तक, मकान, रेल इत्यादि। परमेश्वर रचित पदार्थों की नकल कर निर्मित पदार्थ का नाम प्रतिरूप है। जैसे - हाथी, घोडा, मानव आदि प्रतिमानिर्माण। इन दोनों शिल्पों में से प्रतिरूप को ही मुख्य रूप से शिल्प माना गया है। अतः कहा गया है - **यद् वै**

---

1. महाभारत शान्तिपर्व ४७/८५
2. भारतीय साहित्य तथा शिल्प में विश्वकर्मा, पृष्ठ 151, प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 2002
3. शुक्रनीति, श्रीवेंकटेश्वर प्रेस संवत् 1952, पृ. 134, अध्याय 4 श्लोक 299

प्रतिरूपं तच्छिल्पम्।[1]

शिल्प का उल्लेख स्तम्भ, यूप, वेदी आदि के संदर्भ में प्राचीन काल से ही होता रहा है। इस अध्ययन को भारतीय संस्कृति के मूल ग्रन्थ ऋग्वेद से ही आरम्भ किया जा सकता है। उस काल में विभिन्न प्रकार के शिल्पी प्रकाश में आ चुके थे। इस समय शिल्प धर्म के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ था। उस समय शिल्पनिर्माण का कार्य मूलतः एक धार्मिक कार्य था।[2] शिल्प शब्द का प्रयोग ब्राह्मणग्रन्थों में भी मिलता है। कौषितकी-ब्राह्मण में त्रिविध शिल्प का वर्णन है जिसमें नृत्य, गीत और वादित्र (वाद्य) को शिल्प का भेद कहा गया है।[3] इस प्रकार नृत्यादि शिल्प में परिगणित हुए परन्तु परवर्ती काल में ललितकलाओं में नृत्यादि को रखा जाने लगा। रामायण में शिल्प व कला अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं।[4] रामायणकाल में यज्ञवेदी निर्माण[5] एवं सुन्दर मार्ग निर्माण[6] में शिल्पियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। पुराणों में चित्रकला को शिल्प का ही अंग माना गया है। इस प्रकार सामान्यतः शिल्प में अनेक विषय आ जाते हैं यथा - चित्रकला, तक्षणकला, वास्तुकला, स्थापत्य, संगीत और नाट्य परन्तु मुख्यरूप से शिल्प में केवल तीन ही कलाएं मानी जाती हैं [7]-

1. स्थापत्य एवं वास्तु- स्थापत्य भवन निर्माण कला है उसी का शास्त्रीय विवेचन वास्तु विद्या है।

2. मूर्ति और प्रतिमा- धातु और काष्ठ, मिट्टी अथवा पाषाण में पशु पक्षी और मनुष्यों की अनुकृति ही मूर्ति है। इसी को जब हम देवताओं के सन्दर्भ में विशिष्ट आभूषण, आयुध, अंग-प्रत्यंग और मुद्राओं सहित मान-प्रमाण पूर्वक बनाते हैं तो उसे प्रतिमा कहते हैं।

3.चित्र एवं आलेख्य - चित्र का वास्तविक अर्थ कलाकृति है। मूर्ति भी चित्र हो सकती है, यह चित्र का शास्त्रीय अर्थ है। वास्तव में हम दीवार, कपड़े या कागज का लंबाई चौड़ाई (Two dimensions) में विविध रंगों से सजाकर जो कलाकृति बनाते हैं वह आलेख्य है, किंतु प्रचलित अर्थों में अब इसे ही चित्रकला कहते हैं।

सामान्यतः शिल्प शब्द का प्रयोग कला (Art) और हस्तशिल्प (Craft) दोनों के ही अर्थों में किया गया है अर्थात् सुरुचिपूर्ण ढंग से नित्यप्रति के व्यवहार की वस्तुओं

---

1 शतपथब्राह्मण तृतीय काण्ड / प्रथम खण्ड, सम्पादक-पं. मोतीलाल शास्त्री, राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, पृ. 176

2 ऋग्वेद 10.26.6

3 कौषितकी ब्राह्मण 29.05

4 वाल्मीकिरामायण 1.301.5

5 वाल्मीकिरामायण 1.14.25

6 वाल्मीकिरामायण 1.79.13

7 चित्र, अर्धचित्र एवं चित्राभास, शास्त्रीय व्याख्या Indologica - Jaipurensia, 1(जयपुर,1987) पृष्ठ 157

के निर्माण को शिल्प की संज्ञा दी गई है। शिल्प शब्द का मूल सम्बन्ध शिला अर्थात् पाषाण और उससे संबंधित कलाओं से माना जाता है। प्राचीन काल से ही शिल्पीजन अपने विचार और तत्कालीन समाजों को एक नए स्वरूप में दिखाने हेतु विशिष्ट शिल्प का सृजन करते रहे हैं। शिल्प कलाकार के रचनात्मक कौशल की भावनात्मक अभिव्यक्ति है, जिसे अभिव्यक्त करने हेतु वह पत्थर, मिट्टी, टेराकोटा, आग में पकी मिट्टी (मृण्मय), गेरु, कालिख, खड़िया, धातु आदि अनेक माध्यमों का प्रयोग करता आया है। जब मनुष्य वाचिक ज्ञान से अपने भावों की अभिव्यक्ति करना भी नहीं जानता था, तब से वह औजारों के माध्यम से धातु आदि पर अपने कलात्मक कौशल को प्रकट करता आया है।

भारतीय कला एवं संस्कृति अन्य संस्कृतियों एवं कलाओं से अनूठी है। इसीलिए रेडफील्ड ने कहा है कि संस्कृति कला एवं वास्तु में स्पष्ट होने वाले परंपरागत ज्ञान का वह संगठित रूप है जो परम्परा द्वारा संरक्षित होकर मानव समूह की विशेषता बन जाती है।[1] भारतीय टेराकोटा (मूर्ति शिल्पकला) अपनी विशेषताओं और सौन्दर्य के कारण विश्व के आकर्षण का केन्द्र रहा है। पिरामिड लाइफस्केप, ग्रामदेवता आदि में कलाकार आकर्षक कृतियों का सृजन कर जगत् को मोहित कर लेता है एवं मूर्तियों के माध्यम से अपने मनोगत भावों को संसार को सम्प्रेषित करता है। कलाकार के हृदय में जो भाव उपस्थित होते हैं एवं मस्तिष्क में जो कल्पना विद्यमान होती है उनका प्रतीकात्मक रूपान्तर वह अपने शिल्प में प्रस्तुत करता है। जो आकृति वह पाषाण, लकड़ी या किसी अन्य धातु अथवा मिट्टी पर उकेरता है उसको प्रथमतः वह अपने कल्पनालोक में विचार शक्ति से देख चुका होता है । पुनः कल्पना जगत् में देखी हुई आकृति को ही वह गेरु, खड़िया, कालिख, मिट्टी या कांसा आदि धातुओं को इसमें साधन रूप में प्रयोग कर अपने कल्पना जगत् एवं मनःस्थित भावों का सम्मिश्रण एक कृति के रूप में प्रस्तुत कर देता है, तब कलाकार की हृदयस्थ आकृति प्रत्यक्ष रूप ले लेती है और कलाकार उसे सामने देख कर अत्यन्त हर्षित एवं अभिभूत होता है –

एतन्मया कथमहो कृतमित्यकस्मात्।
कर्तापि यस्य खलु विस्मयमाप शिल्पी।।[2]

अपने कृतिकौशल से मनोभिलषित मनोरम रचना करके जितना आनन्द कलाकार स्वयं पाता है, उतना ही वह अपने शिल्पकौशल से अपनी कृति में सौन्दर्य के आधान से लोक को आनन्दित करता है। कोई भी शिल्प अपने शिल्पी की अन्तर्दृष्टि का मूर्त रूप होता है। यह उसके निर्माणकौशल पर निर्भर करता है कि वह कितनी दक्षता से अपनी कल्पना शक्ति से उद्भूत चित्र को साकार रूप देते समय उसमें प्राणों से अनुप्राणित अत्यन्त

1 भारतीय कला एवं संस्कृति विशेषांक, प्रतियोगिता दर्पण, सीरीज 5, पृष्ठ क्रमांक 9, वर्ष 2013

2 भारतीय साहित्य तथा शिल्प में विश्वकर्मा, आमुख 7, प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली

रूपवान् सजीव सी कृति की सर्जना करता है। वह कृति अपने कर्ता के मनोगत भावों एवं कल्पनाशीलता से जगत को परिचित कराती है। वह कृति न केवल अपने निर्माता को अपितु प्रत्येक सहृदय को अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति कराती है। वही विलक्षण अनुभूति शिल्प रस कहलाती है। कलाकार का मानसिक एवं काल्पनिक सौन्दर्यबोध ही रचनात्मक रूप लेकर समस्त संसार के लिए आनन्दप्रदायक हो जाता है। किसी शिल्प को अवलोकन कर सहृदय के हृदय में स्थाई रूप से रहने वाले भाव कलाकृति से तादात्म्य स्थापित करते हुए रसरूपता को प्राप्त होते हैं। शिल्प कला से उद्भावित होने वाला आनन्द ही शिल्प रस कहलाता है। वस्तुतः सफल शिल्पी वही होता है जिसमें अपनी कलाकृति को जीवन्तता प्रदान करने का कौशल होता है एवं जिसकी रचना सजीवता सा आभास देती है। शिल्पकला शिल्पकार के मौलिक चिन्तन को अभिव्यक्त करती है, साथ ही जो दर्शक के लिए आनन्दात्मिका होती है, वही अनुभूति रस कहलाती है।

शिल्पाचार्यों ने शिल्पशास्त्र में शिल्प की आत्मा चमत्कार को स्वीकार किया है और रस चमत्कार का ही पर्याय है। अतः चमत्कार ही रस है –

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।[1]

अग्नि पुराण के अनुसार–

परब्रह्मणः सहजाभिव्यक्तिरेव चैतन्यचमत्काररसाह्व्यं भजते।[2]

शिल्पशास्त्र में भी चैतन्यरूप चमत्कार को ही शिल्प की आत्मा स्वीकृत किया गया है। रस रूप में जो अलौकिक चमत्कार है, वह ही निर्वृत्ति, आनन्द आदि पर्यायों से अभिहित होता हुआ सर्वत्र सारभूत रसास्वादन आदि से विलक्षण व्यपदिष्ट होता है। वह काव्य में अखण्ड स्वयं प्रकाशित ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है–

सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।।[3]

अभिनवगुप्त के अनुसार सकलविघ्नों से विनिर्मुक्त संवित्ति ही चमत्कार है और वह चमत्कार रसास्वादन, चमत्करण, भोग समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दों से जाना जाता है–

अलौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादो विलक्षणः।[4]

रस वस्तुतः अनुभूति है। चमत्कार जिसका प्राण है, ऐसी आत्मानन्द रूप अखण्ड रसानुभूति ही आस्वादन है। आस्वादन ही चमत्कार है, चमत्कार ही रस है, चमत्कार ही शिल्प की आत्मा है, वही शिल्प रस है।

1 साहित्यदर्पण, पृष्ठ 87, सम्पादक– आचार्य शेषराज शर्मा रेग्मी, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, वर्ष 2016

2 अग्निपुराणोक्तकाव्यालंकारशास्त्रम् 4/1–2

3 साहित्यदर्पण 3/2

4 अभिनवभारती ,षष्ठ अध्याय, रससूत्रव्याख्या

शिल्प रस का आश्रय दर्शक होता है। मूर्ति या चित्र आलम्बन होता है। काव्यगत अनुभाव तो शिल्प में नहीं होते फिर भी शिल्पकार का कृतिकौशल ही अनुभावों को भी अभिव्यक्त सा कर देता है। एतदर्थ शिल्प अनुभूति में सौन्दर्य बोध का अत्यन्त महत्व है। कृति बोलती हुई या स्वयं की सजीवता व्यक्त करती हुई होनी चाहिए। वह कलाकार की अन्तर्दृष्टि या अभिव्यक्ति के आन्तरिकार्थ को प्रकट करने वाली होनी चाहिए। आन्तरिकार्थ (ध्वन्यार्थ) कलाकार की कल्पना में पूर्व में ही निहित रहता है, इसीलिए उसे निहितार्थ भी कहते हैं। उसी निहित या गूढ अर्थ की अनुभूति ही रस है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में मूर्तिकला एवं चित्रकला को द्व्यर्थक प्रतिपादित किया गया है। वह दो अर्थ हैं दृष्ट और अदृष्ट। उसमें रेखा, आयतन, स्थान, रंग आदि बाह्य अर्थ दृष्ट या स्पष्ट कहा गया है तथा दृष्ट द्वारा जनित अर्थ आन्तरिक या अदृष्ट कहा गया है। वही आन्तरिक अर्थ ध्वनि कहलाता है। वही सौन्दर्य बोध है। वही रस है। आस्वादमात्र स्वरूप वाला वह रस सामने परिस्फुरित होता हुआ सा, सभी अंगों को स्पर्श करता हुआ सा, अन्य सबको तिरोभूत करता हुआ सा, अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न करने वाला रस कहा जाता है।[1] रस मूल रूप से मानसी स्थिति है। वह विषययगत नहीं बल्कि विषयिगत होती है क्योंकि उसकी अनुभूति सहृदय के हृदय में होती है। सहृदयी के द्वारा रस का आस्वादन किया जाता है। इस प्रकार अनुभूति आस्वाद रूप होती है। कुछ लोग रस को विषयगत मानते हैं। उनके मत में रस अनुभूति का विषय होता है। आस्वाद्यरूप होता है। जैसा कि भरतमुनि ने कहा है – **रस इति कः पदार्थः ? उच्यते आस्वाद्यत्वात्।**[2] किन्तु यह मत लुप्तप्राय है। वस्तुतः तो आस्वाद ही रस है, न कि आस्वाद का विषय आस्वाद्यरूप रस है। आस्वाद्य तो विभावादि विषय होते हैं। आस्वादरूप तो विषयगत ना हो कर विषयिगत होता है। सहृदयों के द्वारा अलौकिक विभाव आदिरूप विषय का आस्वादन रस है।[3]

रसों से परिपूर्ण चित्रकला का महत्व विष्णुधर्मोत्तर पुराण के चित्रसूत्र नामक अध्याय में इस प्रकार बतलाया गया है–

कलानां प्रवरं चित्रं धर्मार्थकाममोक्षदम्।
माङ्गल्यं प्रथमं ह्येतद् गृहे यत्र प्रतिष्ठितम् ।।[4]

अर्थात् कलाओं में चित्रकला सबसे ऊँची है। जिसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः जिस घर में चित्रों की प्रतिष्ठा अधिक रहती है वहां सदा मंगल की उपस्थिति मानी गई है। वस्तुतः चित्त ही मानस पर प्रतिभा का अंकन करता है इसीलिए वह चित्रकर्मा है। मूर्तिकार या चित्रकार के चित्त पर जो मानसिक अवधारणा

1 डॉ.पारसनाथ द्विवेदी–कृत काव्यप्रकाश की टीका पृष्ठ 143

2 अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय ,रससूत्र व्याख्या

3 अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय, रससूत्र व्याख्या

4 उद्धृत चित्रसूत्र ऑफ द विष्णुधर्मोत्तर, सी.शिवमूर्ति पृष्ठ 166

उद्भूत होती है वही चित्र में साकार होती है।[1]

चित्रशिल्प यहां चित्त का चिन्तन है (चित्रं चित्तेनेव चिन्तति)। संस्कृत में चित्रकला एवं मूर्तिकला को चित्र पद से अभिहित किया जाता है। चित्त में जो चिन्तित होता है, वही शिल्पकार द्वारा चित्रमूर्ति के रूप में प्रत्यक्ष किया जाता है। समराङ्गणसूत्रधार में एकादश चित्ररस बतलाए गये हैं- **एकादशेत्युक्ता रसाश्चित्रविशारदैः।**[2] विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार शिल्प शास्त्र में नवरस प्रतिपादित किए गए हैं-

शृङ्गार-हास्य-करुण-वीर-रौद्र-भयानकाः।
वीभत्साद्भुत-शान्ताश्च नव चित्ररसाः स्मृताः।।[3]

शिल्प शास्त्र में ये नौ रस दो प्रकार से विभक्त किए गए हैं - सुखात्मक एवं दुःखात्मक। इष्ट विभावादि से उपचित आत्मा के शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत एवं शांत ये पांच सुखात्मक रस हैं। शेष चार करुण, रौद्र ,वीभत्स और भयानक ये दुःखात्मक रस हैं तथा अनिष्ट विभावादि से उपचितात्मा हैं। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र भी काव्य में इन्हीं सुखात्मक एवं दुःखात्मक रसभेद को मानते हैं।[4] विविध कार्यात्मक उद्देश्यों से एक शिल्पी अपने कौशल एवं तकनीकी से औजारों और सामग्रियों का सही उपयोग करके उपर्युक्त नौ रसों का सौंदर्य बोध कराने वाली मूर्त वस्तुओं का निर्माण करता है। शिल्प शिल्पकार के मन का उत्पाद होता है, जो सहृदयों के चित्त में रसोन्मेष कर उन्हें अपनी ओर बरबस आकर्षित कर ही लेता है।

अन्ततः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि शिल्प की आत्मा रस ही है। सब ओर रसध्वनि का ही आत्मभाव है। कलाकार वस्तु एवं अलङ्कार द्वारा निर्मित स्थिति से दर्शकों के चित्त की अन्तर्निहित अनुभूति को जगाता है। वह जागृत अनुभूति ही रस है। वही सौन्दर्य आनन्द है। उसी सौन्दर्य के आनन्द की अनुभूति का आस्वाद रस है। वही चमत्कार है और चमत्कार ही शिल्प रस है, जिसका आस्वादन प्रतिमादर्शन के समय दर्शक के द्वारा किया जाता है।

---

1 भारतीय साहित्य तथा शिल्प में विश्वकर्मा, पृष्ठ 180 प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली वर्ष 2002

2 समराङ्गण सूत्रधार 82/2-3

3 विष्णुधर्मोत्तर पुराण 43/1

4 नाट्यदर्पण पृ. 159

लक्ष्मीनारायण मन्दिर दिल्ली का वास्तुशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन

डॉ. देशबन्धु
प्रिया कौशिक

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वा प्रवृतयः॥[1]

विश्व की आदितम ज्ञानराशि वेद हैं। वेद से ही विविध प्रकार के ज्ञान तथा विज्ञान की धाराएँ प्रस्फुटित हुई हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद संज्ञक चार वेद और आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद तथा स्थापत्यवेद संज्ञक क्रमशः चार उपवेद हैं। अथर्ववेद के उपवेद के रूप में प्रसिद्ध स्थापत्य वेद ही वास्तुविद्या का मूल माना जाता है। यद्यपि ऋग्वेद में वास्तुविषयक वर्णन अनेकों ऋचाओं में प्राप्त होता है[2] तथापि वास्तुविद्या का मूल उद्‌गम अथर्ववेद में ही दिखाई देता है। ऋग्वेद में दुर्ग, प्रासाद और भवनों के उल्लेख से तत्कालीन वास्तुकला का ज्ञान प्राप्त होता है। वैदिककालीन दुर्गो, प्रासादों और विशाल भवनों में पाषाणखंडों तथा काष्ठ का प्रयोग अधिक मात्रा में होता था। ऋग्वेद में वर्णन प्राप्त होता है कि मित्र तथा वरुण[3] के पास एक ऐसा प्रासाद था जिसमें एक सहस्र स्तंभ थे।[4] इन सभी भवनों के मूल में वही वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्त थे, जो सिद्धान्त यज्ञवेदी के निर्माण में प्रयुक्त होते थे। आज भी विविध मन्दिरों के निर्माण में इन्हीं वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों का अनुपालन किया जाता है क्योंकि मन्दिरों के निर्माण में वही भावना होती है, जो मूल भावना यज्ञवेदी के निर्माण में थी।

भारत के विविध भू-भागों पर अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ, जिनमें से भारत की राजधानी दिल्ली में विश्व प्रसिद्ध श्रीलक्ष्मीनारायण मंदिर भी है। यह मंदिर प्राचीन भारतीय शिल्प-शास्त्र के विविध सिद्धान्तों के आधार पर उत्तर भारत की वास्तुशैली अर्थात्

---

1. महाभारतम्-शान्तिपर्व-244/55
2. ऋग्वेद १/५४/६
3. ऋग्वेद ७/५/३
4. ऋग्वेद २/४१/५

'नागरशैली' में निर्मित है। इस मन्दिर का निर्माण श्री बलदेव दास बिरला तथा उनके पुत्र जुगल किशोर बिरला ने करवाया। इस मन्दिर में लक्ष्मी, नारायण, गणपति, वानरेश्वर हनुमान, भगवती दुर्गा, शिव-परिवार, राम-दरबार तथा राधा-कृष्ण के विग्रहों की प्रतिष्ठा की गई है। प्रस्तुत शोधपत्र में श्रीलक्ष्मीनारायण मन्दिर का सर्वेक्षण कर वास्तुशास्त्रीय विश्लेषण किया गया है।

मंदिर में प्रवेश करने से पूर्व दर्शनार्थियों को अपने कैमरे, मोबाइल एवं जूते इत्यादि वस्तुओं को मंदिर के बाहर ही सुरक्षा कारणों से जमा करवाने की आवश्यकता होती है, जिसके पश्चात मंदिर के प्रवेश से पूर्व मेटल डिटेक्टर में सुरक्षा जांच हेतु गुजरना होता है। मंदिर का मुख्य द्वार अत्यंत बृहद् है, जिसमें ऊपरी ओर स्वास्तिक एवं ओ३म् की आकृति अंकित है। मंदिर का मुख्य द्वार पूर्व दिशा में है, जिसे वास्तुशास्त्रीय ग्रंथों में उत्तम बताया गया है।

अनेक कलाकृतियों से परिपूर्ण बिरला मंदिर अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ है। ७५ एकड़ में फैले इस मन्दिर में फव्वारा युक्त उद्यान है, जिसमें इस भव्य मंदिर के निर्माता श्री जुगलकिशोर बिरला की प्रतिमा स्थापित है। मंदिर का बाहरी हिस्सा सफेद संगमरमर और लाल बलुआ पत्थर से निर्मित है। मंदिर परिसर में तीन ओर दो मंजिला बरामदे हैं और पिछले भाग में बगीचे और फव्वारे हैं।

मंदिर निर्माण में श्वेत एवं रक्त वर्ण के पत्थरों का प्रयोग किया गया है। सोपान (सीढ़ियों) के निर्माण में श्वेत संगमरमर का प्रयोग किया गया है। इस परिसर के निर्माण हेतु कोटा, आगरा, जैसलमेर, कोटा के पत्थर का प्रयोग किया गया है। सोपान के माध्यम से विशाल बरामदे में पहुंचते हैं, जहां से सर्वप्रथम श्रीलक्ष्मीनारायण की प्रतिमा के भव्य दर्शन होते हैं। मन्दिर के विविध अंगों में सर्वप्रथम जगती का सर्वेक्षण और वास्तुशास्त्रीय विश्लेषण इस प्रकार है-

जगती -

जगती का अभिप्राय मन्दिर की पीठिका से है। पीठ अर्थात् आधार के बिना भवन की स्थापना नहीं हो सकती है। जिस प्रकार पुरुषाङ्गों में प्रथम चरण अथवा पाद है, उसी भांति प्रासाद-पुरुष भी जगत्याश्रित है। प्रासादमण्डन के अनुसार प्रासाद की मर्यादित भूमि को **जगती** कहते हैं। जिस प्रकार राजा का सिंहासन रखने के लिए एक स्थान मर्यादित रखा जाता है, उसी प्रकार प्रासाद बनाने के लिए एक भूमि मर्यादित रखी जाती है।[1] अपराजितपृच्छा के अनुसार प्रासाद शिवलिङ्ग का स्वरुप है। जैसे शिवलिङ्ग के

1. प्रासादानामधिष्ठानं जगती सा निगद्यते।
तथा सिंहासनं राज्ञः प्रासादस्य तथैव सा।। - प्रा.म., अ. २, प. १, पृ. २५

चारों तरफ पीठिका है, वैसे ही प्रासाद की जगती रुप पीठिका है।[1] समचोरस, लम्बचोरस, अष्टकोणात्मक, गोल और लम्बगोल भेद से जगती के पांच प्रकार है। इसलिए प्रासाद का जैसा आकार हो, वैसी ही जगती बनानी चाहिए।[2]

जगती के मध्य में मन्दिर का निर्माण किया जाता है। यह कई फुट ऊंची व अनेक मन्दिरों में यह बृहदाकार होती है। इसकी दीवार सीधी सपाट ना होकर नीचे कुछ आगे निकली हुई होती है। इसके नीचे से ऊपर तक चारों तरफ उभरी अलंकरण की पट्टियां होती हैं। इन पट्टियों को थर कहते हैं। थरों की संख्या जगती की ऊंचाई पर निर्भर होती है। इन थरों पर पशुओं, तथा मनुष्यों आदि के अलंकरण होते हैं।

बिरला मंदिर भी जगती पर आश्रित है। यह लम्बचौरस आकार की है। जगती के मध्य में महामण्डप निर्मित है, जिसमें गर्भगृह स्थापित है। मण्डप में प्रवेश के लिए जो सोपान है वह भी जगती पर ही निर्मित है। इस मंदिर की जगती की दीवार सीधी सपाट नहीं है। यह दीवार नीचे से थोड़ी सी उभरी हुई है तथा दीवार के अलंकरण के लिए पट्टियां लगी हुई है।

जगती के चारों ओर (प्राकार) दीवार और चार द्वार–मण्डप,जल निकालने के लिए मकराकृति की नाली, सोपान और तोरण इच्छानुसार बनाए जा सकते हैं। मण्डप के सामने जो प्रवेशद्वार हो, उसके आगे सोपान में शुण्डिकाकृति हथिनी बनाती जाती है। तोरण की रचना में नाना प्रकार के रूप या मूर्तियों की शोभा बनाई जाती है। तोरण कई प्रकार की होती है। जैसे– तरल तोरण, हिण्डोला तोरण आदि।[3]

बिरला मंदिर की जगती में सोपान का निर्माण किया गया है। इन्हीं सोपान के माध्यम से देवप्रासादपीठ पर पहुंचते हैं। इस पीठ के बांयी ओर गणेशजी तथा दांयी ओर वानरेश्वर हनुमान जी की प्रतिमा है। देवप्रासादपीठ के ऊपर गीता–स्तंभ प्रतिष्ठित है। इन स्तम्भों पर श्रीमद्भगवद्गीता के कुछ श्लोक टङ्कित है। इस स्तम्भ पर अङ्कित है – **१९९३ विक्रमी संवत**। इससे ज्ञात होता है कि इसकी स्थापना विक्रमी सम्वत् १९९३ में करायी गयी थी।

देवप्रासादपीठ पर सोपान के दोनों ओर शुण्डिकाकृति हथिनी है जिसके नीचे दर्शनार्थियों के बैठने के लिए स्थान (बैंच) भी बना हुआ है।

सोपान की दीवारों पर लिखित वर्णन से ज्ञात होता है कि **''विक्रमी संवत् १९८९**

---

1. अपराजितपृच्छा, सू.–११५, प.–५
2. चतुरस्रायताष्टास्रा वृत्ता वृत्तायता तथा।
   जगती पंचधा प्रोक्ता प्रासादस्यानुरुपत:।।– प्रा.म., अ.२, प. २, पृ. २५
3. प्रा.म., अ.२, प.१५–१६, पृ.२८–३०

चैत्र कृष्ण अमावस्या रविवार तदनुसार दिनांक २६ मार्च १९३३ ई. को आरंभ हुआ।'' इसके ही साथ लिखित एक वर्णन इस प्रकार हैं- ''मूर्ति प्राण प्रतिष्ठा पुण्यश्लोक पूज्य श्री जुगलकिशोर जी बिरला ने विक्रमी संवत् १९९५ चैत्र कृष्ण त्रयोदशी शनिवार तदनुसार दिनांक १८ मार्च १९३९ ई. को राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के करकमलों द्वारा सम्पन्न करवायी।''

मन्दिर से बाहर निकलते समय इस सोपान के दोनों तरफ ऊपर की ओर नन्दी एवं शेर की मूर्तियां है। इस सोपान के ऊपर अर्द्धमण्डप है जो अत्यंत आकर्षक प्रतीत होता है।

गणेश प्रतिमा -

मंदिर में प्रवेश करने के उपरांत वामहस्त की ओर गणेश जी स्थापित हैं। गणेश मंदिर प्रांगण में पूर्व-दक्षिण के मध्य आग्नेय कोण में स्थित है। गणेश जी की प्रतिमा दक्षिण ाभिमुख है। यह आसनस्थ (बैठी हुई) अचल प्रतिमा है। चतुर्भुजी इस प्रतिमा के दाहिने हस्त में कमल पुष्प, फरसा है तथा बाएं हस्त में शङ्ख एवं मोदक है। इनकी सूँड दाएं ओर है। गणेश जी के वाहन मूषकराज की प्रतिमा बांयी ओर प्रतिष्ठित है।

शास्त्रों में गणेश को ओंकार का प्रतीक माना गया है। आयुध भेदानुसार गणेश के कई नाम और रूप प्रचलित हैं। प्रासादमण्डन में वर्णित देवस्थापना के विषय में कहा गया है कि गणेश, चंडी, नकुलीश, नवग्रह, मातृदेवता और कुबेर इन देवताओं को दक्षिण ाभिमुख स्थापित करना चाहिए।

विघ्नेशो भैरवश्चण्डी नकुलीशो ग्रहास्तथा।
मातरो धनदश्चैव शुभा दक्षिणदिङ्मुखाः॥[1]

गणेश का वाहन मूषकराज धर्म का प्रतीक है। गणेश सामान्यतया चतुर्भुज व मूषकारूढ़ होते हैं।[2] उनके चारों हाथों में दन्त, परशु, पद्म और मोदक है। रूपमण्डन के अनुसार हेरम्ब और वक्रतुण्ड की प्रतिमाएं त्रिनेत्र बनानी चाहिए। वक्रतुण्ड चतुर्भुज है, उनके दो हाथों में पाश और अंकुश है तथा शेष दो हाथ वरद और अभय मुद्रा में है। वक्रतुण्ड की प्रतिमा लम्बोदर होती है, जिसे बृहत्कर्ण और चामर सहित बनाने का विधान भी प्राप्त होता है।[3] हेरम्ब गणेशप्रतिमा के अन्य भेदों में विशिष्ट है। यह पंचमुख और अष्टभुज है।

---

1. प्रासादमण्डन, अ०२,पद्य-३९
   रूपमण्डन, देवतामूर्तिप्रकरणम्, अ०८, प०२२, पृ१०७
2. श्रीवास्तव, बलराम, रूपमण्डन, अ०५, प०१५,१८, पृ०१८७-१८८
3. वहीं, प०१६, पृ०-१८७

इनके दाहिने हाथों में एक हाथ वरद तथा दूसरा अभय मुद्रा में होता है। शेष दाहिने हाथों के आयुध अंकुश और दन्त है, बांए हाथों के विषय में कहा गया है–

वामे कपालं वाणाक्षं पाश कौमोदकीं तथा।[1]

प्रवेश द्वार –

महामण्डप में प्रवेश करने पर श्रीलक्ष्मीनारायण जी की प्रतिमा दिखाई देती है। द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल[2] ने अमरकोष का उद्धरण देते हुए बताया है कि– **'पुरद्वारं तु गोपुरम्।'** अतः गोपुरम् का अर्थ द्वार है। प्रवेशद्वार या तो चतुष्किका में खुलता है या अर्द्धमण्डप में। मुख्य द्वार या तो अलंकृत चौखट से युक्त होता है या तोरण से। जगती के चबूतरे पर से मन्दिर का यही मुख्य प्रवेशद्वार होता है और इसके आगे सीढ़ियां बनी होती है।

बिरला मंदिर के मुख्य द्वार पर दोनों ओर चार–चार स्तंभ है जो अत्यंत आकर्षक है। महामण्डप के सौन्दर्य का मुख्य हेतु स्तम्भविन्यास ही होता है। स्तम्भ के पांच भाग है– कुम्भिका, स्तम्भ, भरणी, शीर्ष और उच्छालक। जिस पर स्तम्भ खड़ा किया जाता है वह **कुम्भिका** कहलाती है। इसके ऊपर के भाग को स्तम्भ कहते हैं। यह चौकोर, षट्कोणीय, अष्टकोणीय या वृत्ताकार हो सकता है या इसका एक भाग चौकोर और ऊपर का भाग अष्टकोणीय या वृत्ताकार हो सकता है। बिरला मंदिर के प्रवेश द्वार पर स्थापित स्तम्भ का यह भाग नीचे से चौकोर और ऊपर से अष्टकोणीय है। स्तम्भ का ऊपरी सिरा **भरणी** कहलाता है, जिसका नीचे का भाग आमलक और ऊपर का भाग पद्म कहलाता है। 'भरणी' स्तम्भ से कुछ बड़ी होती है। भरणी के ऊपर उसका **शीर्ष** होता है। इसमें देवी–देवताओ, कलश आदि की मूर्तियां उत्कीर्ण होती है। स्तम्भ सामान्यतः शीर्ष पर समाप्त हो जाता है किन्तु जहां उसे अधिक ऊंचा करना होता है, वहां उसके शीर्ष के ऊपर स्तम्भ की चौड़ाई का एक दूसरा स्तम्भ लगा दिया जाता है।[3] बिरला मंदिर में स्तम्भ के शीर्ष पर मानवाकृति में हाथ जोड़ कर खड़े दो पक्षों वाली आकृति है। यह स्तम्भ अत्यंत शोभनीय प्रतीत होते हैं। महामंडप के द्वार के खंभों पर लगी ये मंगलमूर्तियां एक तरफ मंदिर में आने वाले श्रद्धालुओं का स्वागत करती प्रतीत होती है, तो वहीं दूसरी ओर श्रीलक्ष्मीनारायण की सेवा में हाथ जोड़े आज्ञा मुद्रा में सदैव तत्पर दिखाई देती हैं। महामंडप के प्रवेश द्वार पर प्राचीन कलाकृतियों से युक्त घंटा टंगा हुआ है, जिसे बजाने के पश्चात ही श्रद्धालुओं के द्वारा प्रवेश किया जाता है।

---

1. प्रा.म., अ.२, प.१५–१६, पृ.२८–३०
2. शुक्ल द्विजेन्द्रनाथ, भारतीय स्थापत्य, पृख–३४१
3. चतुर्वेदी, श्रीनारायण– नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृख २१–२२

महामण्डप तथा अन्तराल -

लंबाई-चौड़ाई में महामंडप मंदिर का सबसे बड़ा कक्ष होता है। यह अंतराल के आगे निर्मित होता है। अंतराल उस कक्ष को कहते हैं जिसमें गर्भगृह का द्वार खुलता है। यदि मन्दिर में प्रदक्षिणा पथ हो तो उसका प्रवेश और निकास अंतराल में ही खुलता है। इसके स्तंभ इसे महामंडप से अलग करते हैं। अंतराल से गर्भगृह में प्रतिष्ठित भगवान की प्रतिमा के दर्शन किए जाते हैं। अंतराल की चौड़ाई महामण्डप की चौड़ाई से कम होती है तथा लम्बाई महामण्डप की लम्बाई के बराबर या उससे कम या अधिक हो सकती है।[1] महामण्डप अनेक स्तम्भों पर आधारित होता है। इसकी दीवारों में कहीं-कहीं द्वार बनाए जाते हैं तथा कहीं द्वार न बनाकर कलापूर्ण और अलंकृत झरोखे बना दिए जाते हैं, जिससे पर्याप्त प्रकाश आता रहता है। महामण्डप को पर्याप्त ऊंचा बनाया जाता है।[2] इसका वितान वृत्ताकार या वर्गाकार होता है। सामान्यतः वितान में कलापूर्ण नक्काशी की जाती है। वितान वृत्ताकार होता है, इसलिए नीचे से ऊपर की ओर जाते हुए उसकी परिधि कम होती जाती है ।इस परिधि में एक दूसरे के ऊपर जो थर बनाए जाते हैं, वे ऊपर उठते हुए क्रमशः छोटे होते जाते हैं। इनमें विभिन्न आकृतियां (देवी-देवताओं, पुष्प,पशु आदि) बनायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त इसमें कहीं-कहीं देवांगनाओं, गंधर्वों आदि की बड़े आकार की मूर्तियां बनाई जाती हैं।

लक्ष्मीनारायण मन्दिर का महामण्डप मंदिर का सबसे बड़ा कक्ष है, जिसमें गर्भगृह का द्वार खुलता है। यहां अलग से अंतराल निर्मित नहीं है किन्तु प्रदक्षिणा पथ के माध्यम से गर्भगृह और महामण्डप में भिन्नता की जा सकती है। महामण्डप और अंतराल एक-साथ ही है। महामण्डप में दांयी तथा बांयी ओर की दीवारों में द्वार है तथा उनके साथ ही कलापूर्ण गवाक्ष का निर्माण भी किया गया है। महामण्डप में स्तम्भों पर सुंदर नक्काशी की गयी है। इन स्तम्भो की संख्या 36 है। भित्तियों पर भी विभिन्न चित्र धार्मिक संदेशों के साथ बनाए गए हैं। इस स्थान का निर्माण वास्तुशास्त्र में वर्णित सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित प्रतीत होता है। इसी महामण्डप में खड़े होकर श्रद्धालुओं के द्वारा गर्भगृह में स्थापित श्रीलक्ष्मीनारायण के विग्रह तथा अन्य प्रतिमाओं के दर्शन प्राप्त किए जाते हैं।

गर्भगृह -

देवप्रासादपीठ के ऊपर गर्भगृह बनाया जाता है, जिसे प्रासाद का उदयभाग भी कहा जा सकता है। प्रासाद के निर्माण में सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रतिमा का होता है, जिसकी स्थापना गर्भगृह में की जाती है। गर्भगृह तीन ओर से बंद तथा एक द्वार वाला

---

1. चतुर्वेदी, श्रीनारायण, नागर शैली के नए हिंदू मंदिर पृष्ठ-१७
2. शुक्ल, द्विजेंद्रनाथ, भारतीय स्थापत्य, पृष्ठ-३३४

होता है। गर्भगृह में अधिकांशतः प्रकाश कम होता है। इसमें बीच में उठी हुई वेदिका पर मूर्ति को स्थापित किया जाता है। मूर्ति के बिल्कुल सामने गर्भगृह का द्वार होता है। गर्भगृह की छत पर प्रायः अलंकरण भी किया जाता है। मन्दिर के मुख्य शिखर का निर्माण गर्भगृह के ऊपर किया जाता है।[1]

प्रासादमण्डन के अनुसार गर्भगृह चार कोने वाला समचौरस बनाना चाहिए। उसमें भद्र, सुभद्र और प्रतिभद्र आदि फालना बनाना शुभ होता है। लंबचोरस गर्भगृह दोषकारक होता है। यदि दारूणादि और वलभी (स्त्रीलिंग) जाति के प्रासाद में गर्भगृह लंबा हो तो दोष नहीं लगता है।[2] गर्भगृह के द्वार के चार भाग होते हैं – देहली, दो पार्श्वस्तंभ तथा उत्तराङ्ग – इन चारों भागों को अनेक प्रकार से अलंकृत किया जाता है।

द्वारव्यासत्रिभागेन मध्ये मन्दारको भवेत्।
वृत्तं मन्दारकं कुर्याद् मृणालं पद्मसंयुतम्॥
जाड्यकुम्भः कणाली च कीर्तिवक्त्रद्वयं तथा।
उदुम्बरस्य पार्श्वे च शाखायास्तलरूपकम्॥[3]

श्रीलक्ष्मीनारायणमंदिर में प्रवेश करने पर समक्ष ही श्रीलक्ष्मीनारायणप्रतिमा के दर्शन होते हैं। यह मंदिर के गर्भगृह में स्थित है। देवप्रासाद का गर्भगृह सुदर्शनचक्रकेन्द्र पर अवस्थित है। यह गर्भगृह तीन ओर से बंद है तथा प्रवेशद्वाराभिमुख गर्भगृह का द्वार है। गर्भगृह के मध्य में एक उठी हुई वेदिका पर लक्ष्मीनारायण स्थापित हैं। यह वेदिका लगभग २–२½ फुट ऊंची है। इस वेदिका पर हाथी, कलश व कमल निर्मित है। गर्भगृह की छत अलंकृत है, जिसमें ऊपर की ओर मानवाकार गरुड़ की प्रतिमाएं सुसज्जित है। इसके द्वार पर चार स्वस्तिक, दो श्री तथा मध्य में ॐ अलंकृत है। द्वार के ऊपरी भाग में देवपार्षद हैं एवं उसके ऊपर सूर्य की आकृति के भीतर शङ्ख निर्मित है। गर्भगृह के द्वार पर एक तरफ देवर्षि नारद विद्यमान है तो दूसरी ओर सरस्वती। जिनके नीचे वन्दनात्मक स्तुति लिखी गई है जो क्रमशः निम्न हैं:–

नमस्तेऽस्तु महामाये श्रीपीठे सूरपूजिते।
शङ्खचक्रगदाहस्ते महालक्ष्मि नमोऽस्तु ते॥
नमो नमो वाङ्मनसातिभूमये नमो नमो वाङ्मनसैकभूमये।
नमो नमोऽनन्तमहाविभूतये नमो नमोऽनन्तदयेकसिन्धवे॥

गर्भगृह देवमूर्तियों से विभूषित हैं। एक ओर जहां हाथी दांत पर निर्मित झूले में

1. वशिष्ठ, नीलिमा, स्कल्पचर ट्रेडिशन ऑफ राजस्थान, पृ.१२६
2. प्रा.म., अ.–३, प.–३३–३४, पृ.–५६–५७
3. प्रा.म., अ.३, प.३९–४०, पृ.५८

बालगोपाल झूलते हुये दिखाई देते हैं, वहीं दूसरी ओर आसन पर भगवान शालिग्राम विराजमान हैं। गर्भगृह के प्रदक्षिणा पथ पर छः अवतारों के दर्शन प्राप्त होते हैं- कपिल अवतार, ऋषभदेव, व्यास जी, शुकदेव जी, छत्रपति शिवाजी एवं गुरु गोविंद सिंह जी। इसके अतिरिक्त संत दादूदयाल जी एवं भगत सूरदास जी के पद भी गर्भगृह की दीवारों पर सुशोभित है।

गर्भगृह में श्रीलक्ष्मीनारायण की दैदीप्यमान चतुर्भुजीप्रतिमा शोभायमान है। जहां नारायण के हस्त में शङ्ख, चक्र, गदा एवं कमलपुष्प है, वहीं लक्ष्मी जी के बाएं हस्त में कमलपुष्प है तथा दाहिना हस्त अभयमुद्रा में हैं। इन प्रतिमाओं के वैभव का वर्णन कर पाना सामर्थ्य से बाहर है। कमलासन पर विराजित श्री विष्णु एवं लक्ष्मी जी की शोभा अतुलनीय है। श्रीलक्ष्मीनारायण का यह विग्रह श्वेत संगमरमर से निर्मित तथा समपाद (दोनों पैर बराबर मिलाकर खड़े हुए) है। यहां भगवान विष्णु को राजा तथा लक्ष्मी को रानी के रूप में परिकल्पित किया गया है। यह प्रतिमा पूर्वाभिमुख है। श्रीलक्ष्मीनारायण जी के बीच में चांदी की छत्र के नीचे श्रीविष्णु व लक्ष्मी जी की स्वर्णिम मूर्ति की शोभा सबसे निराली है। यह प्रतिमा स्नपन वेर (स्नानार्थ) है। इस प्रतिमा को स्नान, भोग इत्यादि समर्पित किया जाता है।

प्रतिमा-विज्ञान विषयक अध्ययन की दृष्टि से विष्णु के विविध रूपों के प्रतिमालक्षणों को निम्नलिखित वर्गो में विभाजित किया जाता है[1]:-

1. चतुर्विंशति मूर्तियां
2. अवतार मूर्तियां
3. अष्टबाहु हरि तथा जलशयन मूर्तियां
4. चतुर्मुखी मूर्तियां- बैकुंठ, अनन्त, विश्वरूप और त्रैलोक्यमोहन
5. गरुड़ एवं प्रतिहार मूर्तियां
6. अन्य मूर्तियां-गरूड़ध्वज, गोवर्धन, जयन्त, धन्वन्तरि, सुषेण, जगन्नाथ, शङ्खशाङ्र्गधारी विष्णु और दिक्पाल-रूप विष्णु।

वास्तुशास्त्रानुसार विष्णु की प्रतिमा चतुर्भुजी होती है। ऊपर के दोनों हाथों में शङ्ख और चक्र तथा नीचे के हाथों में गदा और कमल होते हैं। कालान्तर में नीचे के हाथ वरद, अभय अथवा कटि मुद्राओं में प्रदर्शित किए जाने लगे। विष्णु के चार आयुधों शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म की ही मुख्य रूप से चर्चा प्राप्त होती है। विष्णु का वाहन गरुड़ है। वह मानवाकार है किन्तु उसके दो पक्ष होते हैं। उसकी मूर्ति भगवान् विष्णु की मूर्ति के सामने उठी हुई पीठ पर या स्तम्भ के ऊपर बनाई जाती है। बायां पैर थोड़ा टेढ़ा

1. श्रीवास्तव, पंकजलता- हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ.-३०-३१

और दूसरा पैर जानु के पीछे मुड़कर पृथिवी पर स्थित होता है। इसी को गरुडासन कहते हैं।[1] लक्ष्मी विष्णु की पत्नी हैं। वह भी चतुर्भुजी और कमलासनस्था है। वह विष्णु की शक्ति है और ऐश्वर्य की द्योतक है। सामान्यतः नारायण के साथ ही लक्ष्मी की प्रतिमा भी प्रतिष्ठित की जाती है और तभी उसे पूर्ण माना जाता है। इस प्रकार की युग्म मूर्ति को 'लक्ष्मीनारायण' कहते हैं।[2]

दुर्गा प्रतिमा -

जिस सम्प्रदाय में परमेश्वर की शक्ति की पूजा की प्रधानता होती है, वह शाक्त सम्प्रदाय कहलाता है। ये ब्रह्मा, विष्णु, शिव अर्थात् त्रिदेव के तेज का साकार रूप है। प्रधान शक्ति दुर्गा है किन्तु त्रिदेव के तेजों के अनुसार तीन महाशक्तियां है- महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली। ये क्रमशः सात्त्विक, राजसिक और तामसिक शक्तियों का परम और चरम रूप है। महासरस्वती के चारों हाथ क्रमशः अक्षमाला, पुस्तक, अभय-मुद्रा और पद्म से युक्त होने चाहिए। महालक्ष्मी के दूसरे और चौथे हाथों में पद्म तथा पहले और तीसरे हाथों में क्रमशः अक्षमाला और पुस्तक होनी चाहिए। महाकाली के पहले तीन हाथ क्रमशः अक्षमाला, पद्म और पुस्तक से युक्त और अन्तिम हाथ अभय मुद्रा में प्रदर्शित होना चाहिए।[3] दुर्गा के नौ रूप है जिन्हें नवदुर्गा कहते हैं। इनके रूप, आयुध और वाहन अलग-अलग है। सामान्यतः इनका वाहन सिंह या व्याघ्र है। किसी रूप में दो भुजा, किसी में चार और किसी-किसी में आठ और दस भुजाएं भी प्राप्त होती है। नवदुर्गाएं है- शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी, सिद्धिदायिनी। उत्तर भारत में सभी मन्दिरों में जंघा स्थान में इनमें से कुछ रूपों की मूर्तियां स्थापित की जाती है या अलग कुलिकाएं बनाकर उनमें स्थापित कर उनकी अलग पूजा का प्रबंध किया जाता है।[4]

श्रीलक्ष्मीनारायणमन्दिर के मुख्य गर्भगृह के दांयी ओर दुर्गाप्रतिमा प्रतिष्ठित है। दुर्गा मन्दिर के आगे झूमर अद्भुत प्रकाश को उत्पन्न करता है। आदि शक्ति के इस आलोक में नृत्यरत भैरव एवं योगिनी के दर्शन हेतु आने वाले श्रद्धालुओं का मन मयूर बनकर अपने आप मन-ही-मन थिरकने लगता है। कष्टनाशिनी दुर्गा की परिक्रमा पथ में महिषासुरमर्दिनी, महर्षिपतञ्जलि, संत कबीरदास, सन्त रविदास, योगमाया, महाकाली,

---

1. वामाग्रे कुञ्चितः पश्चादन्यपादस्तु जानुना।
   पृथिवी संस्थितो यत्र गारुडं स्यात्तदासनम्।।- रुपमण्डन, अ.-३, प.-५१,पृ.१४६
2. लक्ष्मीनारायणो देवस्त्रिभिश्चक्रैर्व्यवस्थितः।
   पूजनीयः प्रयत्नेन भुक्तिमुक्तिफलप्रदः।। - रु.म., अ.३, प.४३, पृ.१४४
3. चतुर्वेदी, श्रीनारायण-नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ.३६
4. वहीं, पृ.३६

महासरस्वती, महर्षि वेदव्यास एवं आचार्य धन्वन्तरि के दुर्लभ दर्शन होते हैं। देवी दुर्गा की प्रतिमा को लगभग २-२½ फुट ऊंची सीढ़ीनुमा वेदिका पर प्रतिष्ठित किया गया है। इस वेदिका पर देवी दुर्गा का शस्त्र अर्थात् त्रिशूल अङ्कित है। इसके द्वार पर चार स्वस्तिक, दो दीपक एवं एक ॐ का चिह्न अंकित है। देवी दुर्गा की अष्टभुजी प्रतिमा यहां प्रतिष्ठित है जिनके दाहिने हाथों में कमल, गदा और तलवार है तथा बांयी भुजाओं में कमण्डल, धनुष, चक्र और आयुध मुद्रा है।

शिव प्रतिमा -

शिवपूजन की परम्परा प्राचीन काल से ही भारतीय सभ्यता रही है। विष्णु की भांति ही इनका पूजन भी व्यक्त और अव्यक्त रूप में होता है। व्यक्तरूप में शिव की मूर्ति का और अव्यक्त रूप में शिवलिंग का पूजन होता है। शिव परमयोगी है अतः उनकी ध्यानमुद्रा की बहुत-सी मूर्तियां प्राप्त होती है। शिव के अव्यक्त रूप के मंदिरों की तुलना में व्यक्त मंदिरों की संख्या कम है। शिवलिंग पूजन का भारतीय परम्परा में अत्यधिक माहात्म्य है। इनमें द्वादश ज्योतिर्लिंग माने जाते हैं- सोमनाथ, मल्लिकार्जुन, महाकालेश्वर, ओमकारेश्वर, केदारनाथ, भीमशंकर, विश्वनाथ, त्रंबकेश्वर, वैद्यनाथ, नागेश्वर, रामेश्वर तथा घुश्मेश्वर ज्योतिर्लिंग।[1] व्यक्त शिवपूजन के मंदिरों में शिव और पार्वती की मूर्तियां होती है। शिव की अनेक नामों से पूजा होती है जैसे- सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, ईशान, मृत्युंजय, अघोरास्त्र, श्रीकंठ और महादेव। प्रत्येक रूप के आयुधों और मुद्रा में भेद पाया जाता है किंतु सिर में जटाजूट, चंद्रमा, तीन नेत्र और त्रिशूल प्रायः सब में होते हैं। किसी-किसी रूप में हाथ में डमरू, खप्पर, कपाल, सर्पो के आभूषण तथा पीठ पर व्याघ्रांबर या गजचर्म और गले में मुंडमाल भी होती है।[2]

श्रीलक्ष्मीनारायणमन्दिर के मुख्यगर्भगृह के बांयी ओर निर्मित शिव मंदिर में ध्यानावस्थित शिव की प्रतिमा दर्शनार्थियों को दिव्य अनुभूति प्रदान करती है। मंदिर के द्वार पर चार स्वास्तिक, चार डमरु एवं एक ॐ का चिन्ह अंकित है। ध्यानावस्थित शिव की प्रतिमा को लगभग २-२½ फीट ऊंची वेदिका पर प्रतिष्ठित किया गया है। इस वेदिका पर त्रिशूल, बैल (शिववाहन), नाग और सिंह को छायांकित किया गया है। इनके प्रदक्षिणा मार्ग में मर्यादा पुरुषोत्तम राम, भगवान परशुराम, स्वर्गारोहण, गंगा-अवतरण एवं दत्तात्रेय जैसे अवतार के आलोक से मंदिर का यह कोना आलोकित हो रहा है। मीराबाई एवं सहजोबाई के पद, महाराजा जनक, गार्गी एवं याज्ञवल्क्य के शास्त्रार्थ एवं महत्वपूर्ण वेद-वाक्यों से सुसज्जित यह दीवार है। यहां ध्यानमग्न शिव के अतिरिक्त शिवलिंग तथा शिव दरबार अर्थात् पार्वती, नन्दी और गणेश भी स्थापित है। शिव की प्रतिमा व्याघ्रचर्म पर

1. सिंह, राजबहादुर- मन्दिर संस्कृति, पृ.१९८-२००
2. श्रीवास्तव, पंकजलता- हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ.१५१-१५२

स्थापित है। इस प्रतिमा के हाथ में खप्पर, कपाल या डमरू नहीं है। वह ध्यान मुद्रा (दोनों हथेलियों को गोद में रखे हुए) में है। यह जटाधारी है पर चन्द्रमा लुप्त है। त्रिनेत्री प्रतिमा के कण्ठ में सर्प का वास है। इसके साथ ही कण्ठ तथा हाथों में रुद्राक्ष अलंकृत है।

लक्ष्मीनारायण की ही तरह उमा-महेश की युग्म मूर्तियों का पूजन भी किया जाता है, जिनमें पार्वती शिव के बांयी ओर बैठी होती है। शिव का बायां हाथ उनके कंधे पर होता है, दाएं हाथ में त्रिशूल और दूसरे बाएं हाथ में सर्प होता है। पार्वती का दाहिना हाथ शिव के कंधे पर रहता है। इनकी युग्म मूर्ति के नीचे नंदी, कार्तिकेय और गणेश होते हैं।[1] शिव का वाहन वृषभ (नन्दी) है। जहां मूर्ति अव्यक्त रूपी है वहां नन्दी मन्दिर के बाहर उनके सामने बैठा हुआ प्रतिष्ठित किया जाता है तथा व्यक्त रूपी प्रतिमा में शिव नन्दी पर आसीन होते हैं या उसके साथ खड़े हुए दिखाए जाते हैं। सामान्यतः मन्दिर में उनके दोनों पुत्रों (कार्तिकेय और गणेश) की भी मूर्तियां होती है।[2] प्रायः शिवलिंग के साथ वृत्ताकार घेरे में ही नन्दी, पार्वती, गणेश और कार्तिकेय की प्रतिमा प्रतिष्ठित की जाती है परन्तु बिरला मंदिर में अव्यक्त शिव अर्थात शिवलिंग के साथ नन्दी, गणेश और पार्वती है तथा कार्तिकेय यहां द्वारपाल के रूप में प्रतिष्ठित है।

प्रासादमण्डन के अनुसार शिव का स्नानजल गुप्त मार्ग से चण्डगण के मुख में गिरना चाहिए। इस प्रकार स्नान का जल निकलने के लिए गुप्त नाली का निर्माण करना चाहिए। दिखते हुए स्नानजल का उल्लंघन करने से पूर्वकृत पुण्य का नाश होता है। अतः इस जल को लांघना नहीं चाहिए।[3] चंडनाथ गणदेव का स्वरूप स्थूल शरीर वाला, भयंकर मुख वाला, ऊर्ध्वासन बैठा हुआ और दोनों हाथ से जल पीता हुआ- ऐसा स्वरूप बनाकर पीठिका के जल स्थान के नीचे स्थापन किया जाता है, जिससे स्नान का जल उसके मुख में से होकर बाहर गिरे। इस स्नान जल से उच्छिष्ट हो जाने पर उसका यदि कभी उल्लंघन हो जाए तो दोष नहीं माना जाता है।[4] परन्तु बिरला मंदिर में चंडनाथ गणदेव के स्थान पर कच्छप को स्थान दिया गया है।

शिवमंदिरों में दुर्गा देवी, कार्तिकेय और गणेश के अतिरिक्त वीरभद्र और भैरव की मूर्तियां स्थापित की जाती है। उनके द्वार पर चण्ड और प्रचण्ड की मूर्तियां द्वारपाल के

---

1. उमामहेश्वरं वक्ष्ये उमया सह शङ्करः।
   मातुलिङ्गं त्रिशूलञ्च धरते दक्षिणे करें।।
   आलिङ्गतो वामहस्ते नागेन्द्रं द्वितीये करें।
   हरस्कन्ध उमाहस्ते दर्पणो द्वितीये करें।।- रु.म., अ.४, प.२७-२८
2. चतुर्वेदी, श्रीनारायण-नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ.३५
3. प्रासादमण्डन, अ.२, श्लोक. ३२
4. अपराजितपृच्छा, सूत्र-२०८

रूप में होती है। बिरला मंदिर में भी शिव कक्ष के बाहर द्वार भित्ति पर दाएं व बाएं ओर कार्तिकेय और वीरभद्र प्रतिष्ठित है।

हनुमान प्रतिमा -

मंदिर के पूर्वोत्तर कोण अर्थात् ईशान कोण में हनुमान जी का मंदिर अत्यंत दर्शनीय है। बजरंगबली की कोतुक वेर (पूजार्थ) प्रतिमा शोभनीय है। हनुमंत की यह प्रतिमा किसी वाहन पर आरूढ़ नहीं है परंतु उनके चरणों में एक स्त्री है। ऐसा माना जा सकता है कि वह रामायण में वर्णित ऋषि के द्वारा शापित अप्सरा है जो मकरी (मगरमच्छ) रूप में हनुमान जी के द्वारा अपने श्राप से मुक्त होकर पुनः अप्सरा रूप में आयी थी तथा कालनेमि के छल के विषय में ज्ञान दिया था। संभवतः यह माया भी हो सकती है क्योंकि उनके द्वारा समस्त माया का त्याग किया गया है। हनुमान की इस प्रतिमा के बाएं हस्त में गदा तथा दाहिने हस्त में पर्वत है। यह पर्वत द्रोणगिरि पर्वत का संकेतक है जो हनुमान जी द्वारा रामायण में लक्ष्मण के प्राणों की रक्षा के लिए संजीवनी बूटी के लिए लाया गया था। हनुमान की यह प्रतिमा तिरछी खड़ी है, जिसमें हनुमान जी का बांया चरण स्त्री के ऊपर है।

प्रासादमण्डन में प्राप्त वर्णन से ज्ञात होता है कि वानरेश्वर हनुमान जी का मुख नैर्ऋत्य दिशाभिमुख रखना चाहिए।[1]

गीता भवन -

मन्दिर के उत्तर एवं पश्चिम भाग में गीता-मन्दिर का निर्माण किया गया है। इसकी एक भित्ति पर लिखित है:- **श्रीकृष्णार्पणमस्तु**

श्री नृपतिवर वीर विक्रमाब्द १९९६ चैत्र कृष्ण त्रयोदशी शनिवार को विश्ववन्द्य लोकप्रतिनिधि धर्मप्राण सत्य की मूर्ति अध्यात्मनिष्ठ राजनैतिक क्षेत्र के परमगुरु युग के प्रवर्तक करमचन्द्रात्मज श्रीयुतमहात्मा मोहनदास करमचंद गांधी जी के करकमलों द्वारा श्रीसनातन धर्मरक्षा गीताभवन की आधारशिला की स्थापना हुई।

चैत्रशुक्लं दशम्यां तु गुरौ पुष्ये सुविक्रमे
षडङ्कनिधिचन्द्रादे कार्यारम्भः कृतोऽधुना।

जिससे गीता-भवन के निर्माण के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है।

गीता मंदिर में तीन दिशाओं में द्वार है। इसमें कुल ग्यारह द्वार है। इस भवन का प्रयोग कीर्तन, प्रवचन आदि के लिए किया जाता है। इस भवन में प्रवेश करते ही सामने

---

1. नैर्ऋत्याभिमुखः कार्यो हनुमान् वानरेश्वर।- प्रा.म., अ.२ प.४०, उत्तरार्द्ध

सुदर्शन चक्रधारी श्रीकृष्ण के दर्शन होते हैं। श्रीकृष्ण की यह अचल प्रतिमा है। यह पृथ्वी अर्थात् संगमरमर से निर्मित ग्लोब पर स्थापित है। पृथिवी पर श्रीकृष्ण कुछ तिरछे खड़े हैं। लगभग आठ फीट की इस मूर्ति के दाहिने हस्त में सुदर्शन चक्र तथा बाएं हाथ में शङ्ख है। यह प्रतिमा उस समय का संकेत करती है जब भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा कुरुक्षेत्र में अर्जुन को गीतोपदेश दिया गया था। जिस वेदिका पर श्रीकृष्ण की यह प्रतिमा स्थापित है वह लगभग ३-३½ फीट ऊंची है। यह प्रतिमा अत्यंत रमणीय है।

श्रीकृष्ण के बाएं ओर रामदरबार है जिसमें राम,सीता,लक्ष्मण तथा हनुमान है। राम तथा लक्ष्मण के दाहिने हाथ में धनुष है। हनुमान जी के दाहिने हस्त की ओर गदा स्थापित है। राम जी के बांयी ओर सीता तथा दाईं और लक्ष्मण है तथा उनके चरणों में दाएं ओर हनुमंत प्रतिष्ठित है। सीताप्रतिमा के दाहिने हाथ में कमल है। श्रीकृष्ण के दाएं ओर राधाकृष्ण की प्रतिमा स्थापित है जिसमें कृष्ण बांसुरी बजा रहे हैं तथा राधा रानी उनके कंधे पर सिर रखकर वंशी की धुन में खोई हुई सी प्रतीत होती है जिनके दाएं हाथ में कमल पुष्प है।

गीता भवन का बरामदा, हॉल अतिसुंदर भित्ति चित्रों से सुशोभित है जिसमें गीता के उपदेश है। इस भवन के मुख्य प्रवेश द्वार की दीवारों पर शीशे लगे हैं जिसमें सुदर्शन चक्रधारी लक्ष्मीनारायण मन्दिर दिल्ली का वास्तुशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन का बिम्ब दिखाई देता है। इस भवन के साथ के कक्ष में श्रीकृष्ण की अलौकिक प्रतिमा है। इस मंदिर का नाम शीशमहल है क्योंकि इस कक्ष में हजारों शीशे लगे हैं। इसमें श्रीकृष्ण की अत्यंत मनमोहक स्थानक प्रतिमा है जिनके हाथ में बांसुरी है। वह गरुड़ासन में खड़े वेणु बजा रहे हैं। शीशमहल में एक साथ सहस्रों कृष्ण के दर्शन मनमोहक दृश्य उत्पन्न करते हैं।

अन्य विशेषताएँ -

आग्नेयकोण में स्थापित गणेश के मंदिर से थोड़ा आगे गर्भगृह के दांयी ओर एक छोटे से मंदिर में वेद को स्थापित किया गया है, यहां से मंदिर के ऊपरी तल पर जाने का रास्ता है। गैलरी में सीढ़ियों से ऊपर पहुंचते ही सबसे पहले लकड़ी के बने सूर्यनारायण एवं इसके ग्रह एवं उपग्रह के अलौकिक दर्शन होते हैं। इस मंदिर में अत्यंतोत्तम भित्ति चित्र है, जो कि चित्ताकर्षक है। यहां भी गोपाल-कृष्ण और रामदरबार का दर्शन बडा ही प्रिय है, परंतु इस पर दर्शनार्थियों का प्रवेश वर्जित है। बिरला मंदिर के परिसर में एक उद्यान भी है जो अत्यंत मनोहर है। यह दर्शनार्थियों को शीतलता के साथ आराम भी प्रदान करता है। इस उद्यान में श्रीजुगलकिशोर बिरला की प्रतिमा भी स्थापित है। इसके अतिरिक्त यहां एक धर्मशाला भी बनवायी गई है।

शिखर -

शास्त्रों के अनुसार मण्डोवर की जंघा अर्थात् गर्भगृह की बाहरी-दीवार के ऊपर की वरण्डिका से जहां गर्भगृह का पटाव होता है, शिखर का आरंभ होता है। यह चौकोर होता है। इसके भद्र, प्रतिभद्र को **'रथ'** और **'प्रतिरथ'** कहते हैं। रथ और प्रतिरथों की संख्या के अनुसार शिखर को त्रिरथ या पञ्चरथ कहते हैं। शिखर का सौंदर्य सबसे अधिक उन नकली शृंगों के कारण होता है, जो रथ पर बनाए जाते हैं और शिखर पर उभरे हुए उसी के छोटे भाग होते हैं, इन्हें 'ऊरुशृंग' कहते हैं। इन ऊरुशृंगों के अतिरिक्त स्थपति शिखर में अनेक छोटे-छोटे शृंग बनाकर उसकी शोभा बढ़ा देते हैं। जो शृङ्ग रथों के बीच में बनाए जाते है, इन्हें कर्णशृङ्ग कहते हैं।[1] मंडोवर के छज्जे के ऊपर दो-एक थर और लगाकर तब शिखर का प्रारंभ करते हैं। शिखर के नीचे का भाग मण्डोवर के पटाव के आकार का होता है, किंतु वह जैसे-जैसे ऊपर उठता है वैसे-वैसे संकरा होता जाता है और कोणाकार रूप धारण कर लेता है, किंतु एक निश्चित ऊंचाई पर जाकर रुक जाता है। इस भाग को स्कन्ध कहते हैं। स्कन्ध के ऊपर स्कन्ध से छोटी पत्थर की गोल शिला रख दी जाती है, इसे 'ग्रीवा' कहते हैं।[2] गोल शिला पर आंवले के आकार की एक और विशाल शिला लगा दी जाती है, इसे 'आमलक' कहते हैं। दूर से देखने पर 'आमलक' आंवले की प्रतिकृति मालूम होता है। आमलक के ऊपर गोलार्द्ध में, क्रमशः छोटे होते हुए कमलदल से अलंकृत गोल पत्थर लगाए जाते हैं, जिन्हें 'चंद्रिका' कहते हैं। चंद्रिका के ऊपर इससे छोटा एक आमलक लगाया जाता है, जिसे 'आमलसारिका' कहते हैं। इस पर एक विशाल कलश स्थापित किया जाता है।[3] आमलसार के गर्भ में घी से भरा हुआ सोना, चांदी अथवा तांबे का कलश सुवर्ण पुरुष के पास रखने का विधान है तथा चांदी अथवा चंदन का पलंग रखकर ऊपर रेशम की शय्या बिछा करके उस पर सुवर्ण पुरुष को शयन कराना चाहिए। यह विधि शुभ दिन में वास्तु पूजन करके करनी चाहिए, क्योंकि यह प्रासाद का मर्मस्थान है।[4] प्राचीन समय में कभी-कभी सोने का कलश लगाया जाता था यह तांबे के कलश पर सोना चढ़ा कर लगाया जाता था। आजकल प्रायः स्वर्णमण्डित तांबे के कलश ही लगाए जाते हैं। उसका आकार शिखर के आकार के अनुपात में होता है। इसको ढ़कने के लिए प्रायः नारियल के आकार का धातु या पत्थर का ढकना लगाया जाता है, जिसे 'बीजपूरक' कहा जाता है।[5] प्रासाद के शिखर के पिछले भाग में दाहिनी

---

1. चतुर्वेदी, श्रीनारायण-नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ.१६
2. शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ- भारतीय स्थापत्य, पृ.३२१
3. नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ.१९
4. वही, अ.४, प.३४, पृ.८६
5. चतुर्वेदी, श्रीनारायण-नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर,पृ.२०

प्रतिरथ में ध्वजादण्ड रखने का छिद्रवाला स्थान 'ध्वजाधार' बनाने का विधान है। यह पूर्वाभिमुख प्रासाद में ईशानकोण तथा पश्चिमाभिमुख प्रासाद में नैऋत्यकोण में बनाया जाता है।[1] ध्वजा के माहात्म्य के विषय में कहा गया है कि तैयार हुए प्रासाद के शिखर को ध्वजा रहित देखकर असुर उसमें रहने की इच्छा करते हैं, इसलिए देवालय को ध्वजारहित नहीं रखना चाहिए।[2] ध्वजा चढ़ाने वाले के वंश की पहले की 50 और बाद की 50 तथा 1 अपने इस तरह कुल 101 पीढ़ी के पूर्वजों को नरकरूपी समुद्र से यह ध्वजा पार करवा देती है अर्थात् उद्धार करती है।[3]

श्रीलक्ष्मीनारायण मन्दिर का शिखर अत्यंत ऊंचा तथा सुन्दर है। गर्भगृह के ऊपर निर्मित शिखर देवप्रासाद में सबसे ऊंचा होता है जो बिरला मंदिर में द्रष्टव्य है। इसके सबसे ऊंचे शिखर की ऊंचाई लगभग 165 फीट है। इसके अतिरिक्त यहां अन्य शिखर भी है जिसकी ऊंचाई (116 फीट) मुख्य शिखर से निम्न हैं। रथ और प्रतिरथो की संख्या के अनुसार यह शिखर पञ्चरथ प्रतीत होते हैं। इन शिखरों का सौन्दर्यीकरण ऊरुशृंगो के द्वारा किया गया है। ऊरुशृंगो के साथ ही यहां कर्णशृंग भी निर्मित है। देवप्रासाद में स्कन्ध के अंत पर ग्रीवा का निर्माण किया गया है जिसके ऊपर गोलाकार आमलक भी है। इस आमलक के ऊपरी गोलार्द्ध में क्रमशः छोटे होते हुए कमलदल से अलंकृत चंद्रिका है। इस चन्द्रिका के ऊपरी भाग में इससे छोटे आकार की आमलसारिका है, जिसके ऊपर कलश स्थापित है। यह कलश अत्यंत महत्वपूर्ण है। कलश की उत्पत्ति और स्थापना के विषय में कहा गया है कि जब देव-दानवों ने क्षीर समुद्र का मंथन किया तो उसमें से 14 रत्न प्राप्त हुए थे। इन 14 रत्नों में 1 काम-कुंभ नाम का श्रेष्ठ कलश भी था। यह प्रासाद के अग्रभाग अर्थात् शिखर पर और सभी मांगलिक स्थानों में विद्वानों द्वारा स्थापित किया जाता है।[4]

निष्कर्ष -

श्रीलक्ष्मीनारायणमन्दिर, दिल्ली जो बिरला (बिड़ला) मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है, पर किए गए वास्तुशास्त्रीय अध्ययन में पाया गया कि इस मन्दिर के विविध अङ्गों के निर्माण में वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों का अनुपालन किया गया है ।

* देवप्रासाद की जगती में वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों का अनुपालन दृष्टिगोचर होता है।

---

1. प्रा.म.- अ.४, प.४८, पृ.९३
2. वही, अ.४, प.४८, पृ.९३
3. वहीं, अ.४,प.५०,पृ.९९
4. क्षीरार्णवे समुत्पन्नं प्रासादस्याग्रजातकम्।
   माङ्गल्येषु च सर्वेषु कलशं स्थापयेद् बुधः।। - प्रा.म.-अ.४,प.३६,पृ.८७-८८

* गणेश प्रतिमा दक्षिणाभिमुख है, इनके आसन, आयुध और वाहन को देखकर ज्ञात होता है कि यहां भी वास्तुशास्त्रोक्त नियमों का पालन किया गया है।

* बिरला मंदिर का प्रवेशद्वार जगती के चबूतरे पर निर्मित है। यह स्तम्भों से सुशोभित है। यह भी वास्तु सिद्धांतों के आधार पर निर्मित है।

* इसमें भिन्न-भिन्न महामण्डप और अन्तराल की स्थापना न करके एक ही कक्ष निर्मित है परन्तु स्तम्भों के द्वारा इनको भिन्न किया गया है। यह महामण्डप और अन्तराल वास्तु सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हैं। इसके साथ ही गर्भगृह भी वास्तु सिद्धांतानुसार निर्मित है।

* गर्भगृह में प्रतिष्ठित श्रीलक्ष्मीनारायण की मूर्ति से ज्ञात होता है कि यह देवालय लक्ष्मीनारायण को समर्पित है। इसमें द्वार पालक भी स्थापित है। यहां गर्भगृह के आयाम के अतिरिक्त साज-सज्जा भी वास्तुशास्त्रानुसार प्राप्त होती है। लक्ष्मीनारायण की प्रतिमा का निर्माण भी सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए किया गया है।

* इसके साथ ही गर्भगृह में विभिन्न माप, सज्जा पर भी विशेष ध्यान दिया गया है। इसकी छत पर गरूड़ निर्मित है जो भगवान विष्णु के वाहन है।

* गर्भगृह के दांयी ओर स्थापित दुर्गा देवी की प्रतिमा भी वास्तुशास्त्रोक्त सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए स्थापित की गई है। दुर्गा जो शक्ति का प्रतीक है उनके आभूषण, आयुध के साथ-साथ वाहन का निर्माण करते समय भी वास्तुशास्त्रसिद्धान्तों को ध्यान में रखा गया है। इनकी प्रतिमा जीवन्त प्रतीत होती है।

* बांयी ओर प्रतिष्ठित ध्यानमग्न शिव की प्रतिमा तथा कक्ष वास्तुशास्त्रोक्त सिद्धांतों का प्रतिपादन करता है। इसके सामने कोई आश्रय कक्ष निर्मित नहीं किया गया है क्योंकि प्रासादमण्डन में इसको निषिद्ध किया गया है। शिव परिवार में कार्तिकेय का लोप है परन्तु उनको द्वार-पालक के रुप में प्रतिष्ठित किया गया है क्योंकि वह शिव परिवार का अभिन्न अंग होने के साथ-साथ देवताओं के सेनापति भी है।

* हनुमंत जो मंदिर के ईशान कोण में स्थित है, वह गर्भगृह की ओर मुखस्थ है। इनकी प्रतिमा में इनके चरणों में स्थित स्त्री जहां एक ओर माया त्याग का संदेश देती है वहीं दूसरी तरफ पौराणिक कथा की परिचायक भी है।

* शास्त्रों, धर्मग्रंथों इत्यादि विषयों पर चर्चा हेतु भव्य गीता भवन निर्मित है जिससे धर्म वृद्धि का लाभ प्राप्त होता है।गीता भवन में स्थापित प्रतिमाओं के संदर्भ में वास्तुशास्त्र सिद्धन्तो का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। इन प्रतिमाओं के आकार, आयुधों, आसन इत्यादि विषयों पर भी विशेष ध्यान दिया गया है। विभिन्न सामाजिक, धार्मिक कार्यक्रम

हेतु निर्मित गीता भवन बिरला मंदिर की शोभा बढ़ाता है। प्राचीन काल में राजाओं द्वारा मंदिर निर्माण का एक प्रयोजन समाज में धर्म स्थापित करना था जहां विभिन्न कार्यक्रमों को आयोजित किया जाता था उस परिपेक्ष्य में यह स्थान उत्तम है तथा मानसिक शांति प्रदान करने वाला है।

* इस देवप्रासाद में निर्मित शिखर के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यहां शिखर निर्माण के समय वास्तुशास्त्रोक्त सिद्धांतों का सूक्ष्मता से प्रयोग किया गया है। गर्भगृह के ऊपर का शिखर अन्य शिखरों से ऊंचा है। शिखर के विभिन्न अंगों को भी यहां सरलता से देखा जा सकता है। इन शिखरों की सज्जा पर विशेष ध्यान दिया गया है। जहां गर्भगृह का पटाव होता है वहां से शिखर आरंभ होता है। बिरला मंदिर में शिखर के विभिन्न अंग जैसे ऊरुशृङ्ग, कर्णशृंङ्ग, ग्रीवा, आमलक, ध्वजाधार तथा ध्वजा का निर्माण उत्तम श्रेणी का है। शिखर के विभिन्न भागों को ध्यान में रखते हुए निर्माण कार्य किया गया है।

* मन्दिर की जंघा पर अर्थात् मण्डोवर, महामण्डप, अर्द्धमण्डप और प्रवेश मण्डप की बाहरी दीवारों पर नाना प्रकार के अलंकरण, देवी–देवताओं, अवतारों पौराणिक कथाओं का अंकन किया गया है जो मंदिर की शोभा बढ़ाते है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि दिल्ली स्थित बिरला निर्मित लक्ष्मीनारायण मंदिर के निर्माण में वास्तुशास्त्रोक्त सिद्धांतों के अनुपालन का प्रयास किया गया है तथा मन्दिर के विविध अङ्गों पर वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

देवालय और उनके शिखर विधान

– डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू'

मन्दिर हमारी आस्थाओं के केन्द्र हैं और सूत्रधारों के श्रेष्ठ सृजन। आत्मधारियों (मानव) की ओर से परमात्म शक्ति (ईश्वर) की प्रतिष्ठा के परमाधार हैं। मन्दिरों ने शिल्प और स्थापत्य कला को अति महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया है। ये स्व-पर अर्थ में स्वयंसिद्ध स्थल इस अर्थ में माने जा सकते हैं कि ऐसे स्थलों पर मनोरथ सिद्ध होते हैं। शुरू-शुरू में जलाशयों और बगीचों से घिरे देवायतनों के निर्माण के मूल में यश और धर्म की अभिवृद्धि माना गया, जैसा कि बौद्धकाल में स्तूप आदि के निर्माण के साथ यह विचार जुड़ा हुआ था। वराहमिहिर ने कहा है –

कृत्वा प्रभूतं सलिलमारामान् विनिवेश्य च।
देवायतनं कुर्याद्यशोधर्माभिवृद्धये॥[1]

देवालयों के विकासकाल में अन्य कई हेतु भी सामने आए। यथा –

1. शासकों, सामन्तों, श्रेष्ठियों को अपने वैभव की प्रतिष्ठा का अवसर मिलता है,
2. शिल्पियों, सूत्रधारों को उनकी कला के प्रदर्शन का अवसर मिलता है और इसके फलस्वरूप उनको सम्मान और स्थायी अग्रहारादि प्राप्त होते हैं,
3. पुजारियों को पूजा के फलस्वरूप शासनाधिकार और आजीविका मिलती है,
4. छोटे-बड़े व्यापारियों को लाभ मिलता है – फूल, माला, प्रसाद, इत्र, पोशाक, ध्वजा, चन्दन इत्यादि द्रव्य, घण्टा, धूमपात्र बेचने वालों का कारोबार फलता-फूलता है और
5. आमजन को इच्छापूर्ति के लिए दानादि के फलस्वरूप विशिष्ट उपलब्धि की प्राप्ति होने का विश्वास फलीभूत होता है।

इसके अलावा कीर्तनकारों, कथावाचकों, नर्तकों, दास-दासियों, रथवानों, कहारों, रसोइयों, कुम्भकारों, पत्तल बनाने वालों आदि सर्ववर्ग के विपणकों, कलाकारों आदि की आजीविका के आधार भी मन्दिर रहे हैं। ये अच्छे पोषण के केन्द्र के रूप में भी विकासशील रहे हैं

1. बृहत्संहिता 56, 1

लेकिन इनका मूल प्रतीकात्मक पूजा के महत्त्व की प्रतिष्ठा का भाव रहा है।

मन्दिर यज्ञ संस्था के उत्तरकाल में देवत्व के ईश्वरीकरण और ध्यान प्रक्रिया के मूर्तिमान होने की विकासयात्रा के अनेक सोपान भी लिए होते हैं। मेरी दृष्टि में मन्दिर आस्था के सुदृढ़ आधार इस अर्थ में भी हैं कि व्यक्ति ने यज्ञ-याग और योगादि की कठिन-कराल साधना पद्धतियों की अपेक्षा मन्दिरों में सहजता से ईश्वरीय सान्निधय पाने का प्रयास किया है - ये उस भक्ति को भी नवीन अर्थ देने वाले केन्द्र रहे हैं जो शब्दतः बंटन और विभाजन से प्रेरित थी।

इष्टापूर्त कर्मों में परिगणित प्रासाद कार्य

पुराणों, आगमों में मन्दिरों का माहात्म्य अतिशय रूप से प्राप्त होता है और उनको भवसागर से तरणतारण के हेतु भी कहा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों, श्रौत्र-स्मार्त वाङ्मय और स्मृतियों में जिन इष्टापूर्त्त कर्मों की बड़ी चर्चा हुई है और इन कर्मों से जिन लोकों की प्राप्ति का विश्वास किया गया है, वे ही विश्वास मन्दिरों के निर्माण के फल के रूप में भी स्थिर किए गए -

इष्टापूर्त्तेन लभ्यन्ते ये लोकास्तान् बुभूषता।
देवानामालयः कार्यो द्वयमप्यत्र दृश्यते।।[1]

यह मान्यता उस प्राचीन मान्यता के समानान्तर समाज में पनपती चली गई -

इष्टं यज्ञेषु यद्दानं ततोऽन्यत्पूर्तमिष्यते।
इष्टाभिः पशुबन्धैश्च चातुर्मास्यैर्यजेद्द्विजः।।
अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैर्यो यजेत स इष्टवान्।
वापी-कूप-तडागादि देवतायतनानि च।।
अन्नप्रदानमाचार्यैः पूर्त इत्यभिधीयते।।[2]

यही मान्यता काश्यप संहिताकार ने भी उद्धृत की है -

इष्टापूर्त्तादिभिर्यज्ञैर्यावत्कुर्वन्ति मानवाः।
अग्निष्टोमादिपशुभिरिष्टं यज्ञं प्रकीर्तितम्।।
वापी-कूप-तडागादि देवतायतनानि च।
स्वर्गस्थितिं सदा कुर्यात्तद्दानं पूर्त्तसंज्ञितम्।।
देवानामालयः कार्यो द्वयमप्यत्र लभ्यते।।[3]

---

1. बृहत्संहिता 56, 2
2. तत्रैव भटोत्पलीयविवृत्ति
3. तत्रैव भटोत्पलीयविवृत्ति

प्रारम्भिक उपपुराणों में मन्दिरों के निर्माण ही नहीं, मार्जन, उपलेपन, चित्रांकन आदि कार्यों की भी प्रशंसा मिलती है।

उत्तर भारत के प्रसंग में गुर्जर-प्रतिहार, गुहिल, चन्देल, राष्ट्रकूट, परमार, चालुक्य-सोलंकी और पाल राजवंशों के काल में अनेक मन्दिर बने तो दक्षिण में चोल, चालुक्य जैसे राजवंशों को मन्दिरों के विकास का श्रेय दिया जा सकता है जिनके अभिलेखों में देवालयों के सम्बन्ध में हमें अनेक उल्लेख मिल जाते हैं।

मन्दिर यदि आधार पर चक्र सहित है तो यह यान या विमान कहा जाता है। दक्षिण में उसका पर्याय रथ भी मिलता है। वह देव सहित होने या देवताओं का आलय होने से देवालय, देवगृह, देवसद्म भी कहा जाता है। जहाँ-जहाँ जो कुछ दुर्लभ था, उसको चित्र, मूर्तिफल आदि के रूप में दिखाने का प्रयास मन्दिरों में हुआ है। मन्दिरों को आकर्षक और दिव्यातिदिव्य बनाने के पीछे यही सोच रही है कि अधिकाधिक लोग उसको देखें। इस प्रयास में जनजीवन की गतिविधियों से लेकर देवी-देवताओं की लीलाओं, अवतारों तक को मन्दिरों में अनेक प्रकार से दिखाने का प्रयास हुआ है। शुरू-शुरू में मांगलिक पक्षी, श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, घट, मिथुनाकृतियां, पत्रवल्ली, प्रमथगणों से प्रासादों को शोभित किया जाने लगा था -

शेषं मंगल्यविहगैः श्रीवृक्षैः स्वस्तिकैर्घटैः।
मिथुनैः पत्रवल्लीभिः प्रमथैश्चोपशोभयेत्॥[1]

ये मंगलचिह्न बढ़ते-बढ़ते 108 तक हो गए। मुख्य हैं -

श्रीवत्स स्वास्तिक पूर्णकलश, त्रिरत्नश्चक्राः।
मीनमिथुना दर्पण, पद्म, शंखश्चांकुशार्क च॥
चन्द्र नागाश्च माल्यच्छत्र वृक्ष पंचांगुलांकम्।
इत्यमपि मांगलिक चिह्नाः कथयति बुधजनाः॥[2]

इन चिह्नों की महिमा महाभारत के शान्तिपर्व और द्रोणपर्व, गोपालतापनीयोपनिषद्, तिलोयपणत्ति नामक जैनग्रन्थ, सुश्रुतसंहिता के सूत्रस्थान आदि में प्राप्त होती है - इसका आशय है कि मांगलिक चिह्नों पर बहुत प्राचीनकाल से विचार होने लगा था।

मन्दिरों का निर्माण क्यों?

मन्दिरों का निर्माण क्यों और कैसे हुआ? यह कहने की आवश्यकता नहीं। आगमों और वास्तुग्रन्थों में समुद्रमंथन, कल्पवृक्ष के फलने और देवाराधन के लिए निर्माण द्रव्य,

1. बृहत्संहिता 56, 15
2. चित्रलक्षणम् पृष्ठ 48

प्रासादाकार भेंट कर पूजा करने जैसे प्रसंगों में मन्दिरों और उनके अंगों की उत्पत्ति के आख्यान लिखे गए हैं। जयपृच्छा, अपराजितपृच्छा, प्रासादमण्डनम्, वास्तुमंजरी, क्षीरार्णव, प्रासादतिलक, शिल्पप्रकाश आदि अनेक मधयकालीन ग्रन्थों में इन प्रसंगों की परिणति मिलती है।[1]

बृहत्संहिता, काश्यपसंहिता और विश्वकर्मसंहिता (विश्वकर्माप्रकाश) आदि में मन्दिरों के सीधे-सीधे रूपों की चर्चा है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि मन्दिरों के नाम सबसे पहले वराहमिहिर ने दिए हैं, जैसी कि उसकी स्वीकारोक्ति है –

मेरु-मन्दर-कैलास-विमानच्छन्द नन्दनाः।
समुद्रपद्मगरुडनन्दिवर्धनकुंजराः।।
गुहराजो वृषो हंसः सर्वतोभद्रको घटः।
सिंहो वृत्तश्चतुष्कोणः षोडशाष्टाश्रयस्तथा।।
इत्येते विंशतिः प्रोक्ताः प्रासादाः संज्ञया मया।।[2]

इससे स्पष्ट है कि सन् 587 ईस्वी तक हमारे यहाँ 20 प्रकार के मन्दिरों का प्रचलन हो चुका था। इस प्रकार की चर्चा भी उत्तर भारतीय और उसमें भी मध्य प्रान्तों के अन्तर्गत अधिक मिलती है। यह पूर्वमध्यकाल में मन्दिरों के बढ़ते प्रभावों की फलश्रुति है। इन प्रासादों से ही अनेकानेक अन्य प्रकारों का भी विकास हुआ, जिनकी ओर संकेत हमें न केवल गरुडपुराण, लिंगपुराण और अग्निपुराण से मिलता है बल्कि समरांगण सूत्रधार में तो सर्वाधिक संख्या मिलती है। धाराधिप भोजद्रेव ने प्रासाद विंशिका के नाम से देवताओं के लिए उपयोगी मन्दिरों के नामादि लिखे हैं।

मेर्वादि मन्दिरों का परिचय हमें बृहत्संहिता और काश्यपसंहिता (जो विश्वकर्मीय निर्देशानुसार कहती है) से इस प्रकार मिलता है –

1. **मेरु मन्दिर :** 6 कोण, 12 तल और उन पर विचित्र-विचित्र कुहर (आश्चर्यकारी कुहरियाँ, छेद, खिड़कियाँ), 4 दिशाओं में द्वार और 32 हाथ का विस्तार।
2. **मन्दर मन्दिर :** 6 कोण, 30 हाथ विस्तार, 10 तल और षट्कोणीय शिखर युक्त।
3. **कैलास मन्दिर :** 28 हाथ विस्तार, 8 तल, छह कोण और षट्कोणीय शिखर।
4. **विमान मन्दिर :** जाल, गवाक्ष युत्, 21 हाथ विस्तार, छह कोणीय शिखरादि रचना।

---

1. अपराजितपृच्छा 106, 11-16
2. बृहत्संहिता 56, 17-19

5. **नन्दन मन्दिर :** छह कोण, छह तल, 32 हाथ विस्तार तथा 16 अंडकों वाला शिखर।
6. **समुद्रग मन्दिर :** वर्तुलाकार, 8 हाथ, एक तल, एक ही शृंग वाला।
7. **पद्म मन्दिर :** कमल की आकृति, 8 हाथ, एक ही तल, एक ही शृंग वाला।
8. **गरुड मन्दिर :** 24 हाथ विस्तार, 7 भूमि, 20 अण्डक, बाज की आकृति वाला, पंख और पूँछ सहित।
9. **नन्दिवर्धन मन्दिर :** 7 भूमि, 24 हाथ विस्तार, 20 अण्डक, बाज की आकृति वाला लेकिन पंख व पूँछ रहित।
10. **कुंजन मन्दिर :** हाथी की पीठ के समान आकृति, मूल से चारों ओर 16 हाथ विस्तार, 3 चन्द्रशाला की वलभी वाला, 10 हाथ की ऊँचाई।
11. **गुहराज मन्दिर :** गुहा की आकृति, 16 हाथ विस्तार, 3 चन्द्रशाला की वलभी की रचना, अच्छे लक्षण, 11 हाथ ऊँचाई।
12. **वृष मन्दिर :** एक भूमि, एक शृंग, 12 हाथ विस्तार, चारों ओर वृत्ताकार।
13. **हंस मन्दिर :** हंस पक्षी की आकृति, 12 हाथ विस्तार, एक भूमिका, पंख, पूँछ से अलंकृत।
14. **घट मन्दिर :** कलश रूप, 8 हाथ विस्तार, एक शृंग और एक भूमि वाला।
15. **सर्वतोभद्र मन्दिर :** 4 दिशाओं में द्वार, अनेक शिखर, अनेक सुन्दर चन्द्रशालाएँ, 26 हाथ विस्तार, चार कोण, 5 तल वाला।
16. **सिंह मन्दिर :** शेर की प्रतिमाओं से शोभित, बारह कोण, 8 हाथ विस्तार।
17. **वृत्त मन्दिर :** गोलाकार या पंचकोण, एक भूमिका, अंजन (काले) रूप, एक अंडक वाला, सान्धकार।
18. **चतुष्कोण मन्दिर :** चौकोर, एक भूमिका, अंजनरूप, एक अंडक, सांधकार।
19. **षोडशाश्रि मन्दिर :** सोलह कोण, एक भूमिका, अंजनरूप, एक अंडक, सांधकार।
20. **अष्टाश्रि मन्दिर :** आठ कोण वाला, एक भूमि से युक्त, एक अंड रूप, सांधकार। *(बृहत्संहिता 56, 20-28)*

इन मन्दिरों में जो भूमिका या तल का प्रमाण आया है, उसके दो मत मिलते हैं –

1. मयोक्त : 108 अंगुल = एक तल।
2. विश्वकर्मोक्त : साढ़े 3 हाथ = एक तल।

यह भी मत है कि विश्वकर्मा का प्रमाण कपोतपालिका को छोड़कर कहा गया है, यदि कपोतपालिका, जो कि 24 अंगुल के बराबर होती है, को यदि जोड़ दिया जाए तो मय और विश्वकर्मा का भूमिका प्रमाण बराबर हो जाता है –

कपोतपालिरहितं मानं चतुरशीतिकम्।
भूमिकानां सह तया शतमष्टोत्तरं स्मृतम्।
अंगुलानामतः साम्यं भूमिकासु प्रकीर्तितम्।।

इसका आशय है कि कपोतपालिका से हीन मान 84 अंगुल होता है और भूमिका के साथ हो तो 108 अंगुल प्रमाण होगा। यह अंगुलमान भूमिका की समानता से कहा गया है।[1]

'क्षीरार्णव' में प्रासाद की रचना को देव शरीर रूप माना गया है। नींव की शिला को पद के रूप में, गर्भगृह को उदर, नींव को जंघा, स्तम्भ को जानु, घण्टा को जिह्वा, दीपक को प्राण, प्रणाल को गुदा, देव के ब्रह्मस्थान को नाभि, पीठिका को हृदय, प्रतिमा को पुरुष, पद को अहंकार, ज्योति को चक्षु, मन्दिर के ऊपर के भाग को उसकी प्रकृति, प्रतिमा को आत्मा, द्वार के कुम्भी के तल के निम्न भाग को लिंग या प्रजननांग, शिखर के शुकनास को नासिका, गवाक्ष को कान, शिखर के स्कन्ध को खम्भा और आमलसार के कण्ठ को कठ, कलश को मस्तक व भित्तियों के लेपनादि को मज्जादि रूप समझना चाहिए –

प्रासादो देवरूपः स्यात् पादौ पादशिलास्तथा।
गर्भश्चैवोदरं ज्ञेयं जंघा पादोर्ध्वमुच्यते।।
स्तम्भाश्च जानवो ज्ञेया घण्टा जिह्वा प्रकीर्तिता।
दीपः प्राणः रूपो ज्ञेया ह्यपाने जल निर्गतः।।
ब्रह्मस्थानं यदैतच्च तन्नाभिः परिकीर्तिता।
हृदयं पीठिका ज्ञेया प्रतिमा पुरुषः स्मृतः।।
पादचारस्त्वहंकारो ज्योतिस्तच्चक्षुरुच्यते।
तदूर्ध्वं प्रकृतिस्तस्य प्रतिमात्मा स्मृतौ बुधैः।।
तलकुम्भादधोद्वारं तस्य प्रजननं स्मृतम्।
शुकनासा भवेन्नासा गवाक्षः कर्ण उच्चते।।
कायापाली स्मृतः स्कन्धे ग्रीवा चामलसारिका।
कलशस्तु शिरो ज्ञेयो मज्जादितत्परसंयुतम्।।[2]

---

1. बृहत्संहिता भटोत्पलीय विवृति 56, 30
2. क्षीरार्णव 1, 1–7

देश व काल की भूमिका :

मन्दिर निर्माण की विधि-प्रविधि और नियमों में देश और काल की बड़ी भूमिका है। किसी स्थल की स्थिति और पाषाण आदि संसाधनों की उपलब्धता ने ही सहूलियतों और जटिलताओं का निर्धारण किया है। पत्थर के भेद, प्रकार पर भी उनकी रचना निर्भर रहती आई है। कौन सा पत्थर किस अंग, प्रत्यंग के लिए काम आएगा, यह शिल्पकारों ने परम्परानुमत किया है, जैसा कि मयमतम् के आधार पर रूपमण्डन और देवतामूर्तिप्रकरणम् आदि ने निर्धारित किया है।

रचनात्मक रूप से किसी मन्दिर का विस्तार अनेक अंगों के साथ देखने को मिलता है। ऊर्ध्वविस्तार (एलीवेशन) जगती, पीठ, मण्डोवर और शिखर आदि में विभाजित होता है। हमें चूंकि मन्दिरों के शिखर विधान की चर्चा अभीष्ट है, ऐसे में यह याद रखना चाहिए-

- मन्दिरों के शिखर रूप एकाएक सामने नहीं आ गए,
- मन्दिर लयन (गुफा, लेणी) के रूपों से उद्भूत है,
- पहाड़ों की रचना और स्वरूप का मन्दिरों के रूपांकन में बड़ा योगदान रहा है,
- शिल्पकारों ने मन्दिरों की रचना के मूल में मानवीय रूप को ही स्वीकार किया है, यूं भी कोई मानव, मानव के ही रूप को सोच और रच सकता है।
- मन्दिरों की पारिभाषिक शब्दावली यह सिद्ध करती है कि उनके अंगों-उपांगों के विभिन्न नाम व्यक्ति के शरीरांगों से ही प्रेरित रहे है।। 'तन्त्रसमुच्चय' के द्वितीय पटल में इस संबंध में जो विमर्श है, उसे देवालयचन्द्रिका के रूप में विकसित किया गया है।

इनमें शिखर विधान को समझने से पहले हमें व्यक्ति के सिर के स्वरूप को समझना होगा। सिर की बुनियाद ग्रीवा है तो शीर्ष भाग मुण्ड है। इनके बीच में आने वाले अंग हैं - मुख, नासिका, आंख, कर्ण, ललाट, तिलक, केश, शिखा, गांठ और मूधिर्न। जैसा कि कहा गया है कि शिखर की बुनियाद में ग्रीवा होती है और शिरोभाग पर कलश होता है। शिखरबंध मन्दिरों का निर्माण उत्तर गुप्तकाल से आरम्भ होता है। मन्दसौर के सूर्यमन्दिर का पांचवीं सदी का अभिलेख 437-38 ई. में बने शिखर के बारे में हमें निम्न सूचनाएं देता है -

- मन्दिर का शिरोभाग उन्नत, गगनचुम्बी हो - **विस्तीर्ण तुंगशिखरं शिखरि प्रकाशमभ्यद्गतेन्द्धमल रश्मिकलापगौरम्।**
- उस पर पताका हो, जो कि शिखर से भूमि तक हो।

इसी प्रकार कुमारगुप्त प्रथम (415-16 ई.) के बिलसद् अभिलेख और विश्ववर्मन (423-24 ई.) के गंगधार से मिले अभिलेख में भी उच्च शिखरान्वित प्रासादों के निर्माण संकेत मिलते हैं। विश्वकर्मा के मन्त्री मयूराक्ष ने जिस विष्णु मन्दिर का निर्माण करवाया, उसकी आकृति कैलास पर्वत के उत्तुंग शिखर के समान थी -

कैलासतुंगशिखरप्रमितस्य यस्य दृष्ट्वाकृतिं प्रमुदितैर्व्वकानारविन्दि।[1]

गुप्तकाल तक आमलक से युक्त शिखर की रचना होती थी। उदयपुर जिले के ईसवाल में ऐसा गुप्तकालीन आमलक मिला है।

हमें मन्दिरों के विकासकाल में शिखर के लिए होने वाले प्रयोगों को भी समझना चाहिए। क्षीरार्णव के रचनाकाल, 11वीं सदी तक, शिखरों के अनेक प्रकार सामने आ चुके थे। तब शिल्पियों को निर्देशित किया गया था कि वे शिखरों को अनेक अण्डकों से सुशोभित करें। मण्डोवर पर छज्जे के ऊपर प्रहार का थर करें और उस पर शृंग चढ़ाएँ। यह बहुत विस्तृत विषय है।

उत्तर भारतीय मन्दिरों के कतिपय शिखर अंगों का विवरण यहाँ दिया जा रहा है -

शुकनासा :

चूंकि तोते की नासिका को बहुत मानक माना गया है, ऐसे में मन्दिरों में शिखर पर शुकनासा का निर्माण किया जाता है।

व्याघ्रमुख :

यह मन्दिर के मुख का रूपक है और हिमालय, उत्तरांचल आदि के मन्दिरों में दिखाई देता है। सिंह चूंकि बल, पराक्रम और श्रेष्ठ सामर्थ्य का सूचक होता है, ऐसे में मन्दिर के शिखर पर इस अभिप्राय का प्रयोग किया जाता है।

ध्वजा और उसका महत्त्व

शिखर पर ध्वजा के प्रयोग के मूल में सिर पर केश का रूपांकन तो है ही, वह एक चिह्न भी है। मन्दिर किस देवता का है, यह ध्वजा से विदित हो जाता है - वृषध्वज होने पर मन्दिर शिवालय होगा, गरुड़ध्वज होने पर विष्णु का, हंसध्वज होने पर ब्रह्मा का, सिंहध्वज होने पर शक्ति का सद्म होता है। मीनध्वज होने पर कामदेव, आखुध्वज होने पर विनायक का और अश्वध्वज होने पर सूर्य का मन्दिर होता है।

ध्वजापुरुष की मान्यता पहली बार अपराजितपृच्छा में दिखाई देती है। उसी से प्रासाद मण्डनम् और वास्तुमंजरी आदि ग्रन्थों में मत को ग्रहण किया गया है। इसको स्वर्णपुरुष भी कहा गया है क्योंकि यह स्वर्णरूप में बनवाया जाकर ध्वजादण्ड के तल में स्थापित

1. भारतीय अभिलेख संग्रह : जे.एफ. फ्लीट, जयपुर, 1979 ई. पृष्ठ 102

किया जाता है।

चक्र :

वल्लभ कुल की हवेलियों पर सुदर्शनचक्र की स्थापना करने की परम्परा रही है। यह सात्वत संहिता से प्रेरित है, संकर्षण संहिता, हयशीर्ष पांचरात्र में भी ऐसा संकेत मिलता है।

शृंग :

शिखर की रचना में मध्यकाल से ही ग्रीवादि भाग से जो शिखर के स्वरूप वाले छोटे-छोटे मण्डन लगाए जाते हैं, वे शृंग कहे जाते हैं। सींगों से ही गाय-वृष आदि की महत्ता है, कहीं-कहीं उन पर भार उठाने का वर्णन भी मिलता है। पराशर ने गोशृंगों की सज्जा का वर्णन किया है। येशृंग निश्चित ही मन्दिर के शिखर को सज्जित करते हैं। क्षीरार्णव का मत है -

शिखराश्च विविधाकाराऽनेकाण्डकभूषिताः।
छाद्योर्ध्वप्रहाराः स्याद् ऊर्ध्वे शृंगाणि कारयेत्॥
शृंगे शृंगे त्वधच्छाद्यमूर्ध्वं शृंगताधोऽद्गमम्।
स्वस्यांगप्रमाणं तु सपादे शृंगमुच्छ्रये॥

उरुशृंग :

शिखर के चारों ही ओर उरुभाग द्धवक्षप्रदेशऋ तक जो समाकार रचनाएँ दिखाई जाती हैं, वे उरुशृंग के नाम से जानी जाती हैं। चारों ही ओर उनका निश्चय होता है। ये जहाँ शिखर को सुदृढ़ता प्रदान करते हैं, वहीं अपनी लघु धवजा से सौन्दर्य की सर्जना भी करते हैं।

छाद्य :

छज्जों की आवश्यकता को कौन नहीं जानता? पानी, धूल आदि से नीचे की रचना को सुरक्षित रखने के लिए अनेक आकार में जो छबने तैयार किए जाते हैं, वे छाद्य कहे जाते हैं। समरांगण सूत्रधार में सलिलान्तर, वार्यान्तर, जलान्तर के नाम से शिखर से नीचे तक जिन पट्टिकाओं की रचना का निर्देश है, वे उन मन्दिरों के लिए हैं, जिनमें छाद्यों का अभाव रहता हो, ऐसा माना जा सकता है।

ललाट और तिलक :

मन्दिर के सम्मुख भाग में जो ललाटपट्टिका होती है, उस पर नाना देवी-देवताओं को उत्कीर्ण किया जाता है। यह तिलकरूप होता है। यह परम्परा ब्रज में बंगाल के प्रभाव से बने मन्दिरों में द्रष्टव्य है। यही रूप ठेठ कंबोडिया तक चला जाता है।

भुवनेश्वर आदि के मन्दिरों में ललाट के साथ ही वृत्त स्फुटित की रचना होती है। इसका वर्णन काश्यप शिल्पम् में आता है। इसको वृत्ताकार तैयार कर भीतर देवता के स्वरूप का सुन्दर न्यास या उत्कीर्णन किया जाता है।

कपोतपालिका या कपोतपंजर :

इसको विटंक के नाम से जाना जाता है – **कपोतपालिं ब्रुवते विटंक च बहुश्रुताः।**

कलाएँ :

मन्दिर के शिखर की रचना में अनेक प्रकार की रेखाओं और कलाओं का प्रयोग करते हुए जिस तिर्यक्, गोलाई का प्रतिरूपण किया जाता है, उसमें सम, पादोन, समचार आदि रेखाओं डाला जाता है और फिर पाषाणों की घड़ाई की जाती है। कलानिधि ग्रन्थ में इस विषय में पर्याप्त रूप से विमर्श किया गया है। यह अपराजितपृच्छा, जयपृच्छा से उद्भावित प्रतीत होता है।

आमलक :

आंवला नाम से लोकांचल में विख्यात वृक्षफल को भारतीयों ने बड़ा आदर दिया है। इस फल के नाम पर हमारे यहाँ कार्तिक मास में आंवला नौमी या आमलकी नवमी पर्व मनाया जाता है। इस वृक्ष में वसन्त से पूर्व ही शाखाएँ फूटती हैं और पल्लवन होता है। आश्विन में फल से लकदक होता है और कार्तिक में स्वाद व रस स्पष्ट हो जाता है। इसी कारण इस अवधि में इस पेड़ के तले विप्रभोज करवाने की बड़ी महत्ता मानी गई है। मान्यता है कि इससे दीर्घायु लाभ होता है। यह त्रिफला का प्रधान उपादान है। वयस्या, आमलकी, वृष्या, जातीफलरसा, शिव, धात्रीफल, श्रीफल, अमृतफल, तिष्यफल और अमृता आदि इसके नाम हैं। औषधीय, रसायन और आहार में बहुत प्राचीन काल से इसका प्रयोग होता आया है। इसी कारण देवालयों में भी इसका प्रतीकात्मक उपयोग होने की मान्यता को बल मिला है, ऐसा प्रतीत होता है। जैसा कि ऋषियों ने जान लिया था :

हन्ति वातं तदम्लत्वात्पित्तं माधुर्य्यशैत्यतः।
कफं रूक्षकषायत्वात्फलं धात्र्यास्त्रिदोषजित्॥[1]

ऐसे में मन्दिर हेतु व्याधियों से निजात के उद्देश्य से इसका उपयोग हुआ होगा।

कलश :

घट या गोलाकार पात्र, घघरी के निर्माण की कला हमें सभ्यता के उषःकाल से ही मिलती

1. भावप्रकाश, हरीतक्यादिवर्ग, 1, 40

है। यह मंगल प्रतीक है और किसी कला की पूर्णता का प्रतीक भी है। यह वर्धनी कलश, राजकलश आदि नामों से भी जाना जाता है। शारदा तिलक, देवीपुराण, राज्याभिषेक पद्धति, हेमाद्रिकृत चतुर्वर्गचिन्तामणि आदि में कलश की महिमा में अनेक श्लोक आए हैं। कलश पूरे प्रासाद पर अभिसिंचन का सबसे बड़ा प्रतीकात्मक उपक्रम भी है। शिल्परत्नम् में कलश की रचना और उसके माहात्म्य को रेखांकित किया गया है। हमारी दृष्टि में शिखर पर कलश बहुत नियोजित और सुविचारित रूप से स्थापित किया जाता है।

अन्यान्य रचनाएँ :

इसके साथ ही मन्दिर के प्रवेशमण्डप (गूढ़ मण्डप), सभामण्डप आदि के शिखर विधान में संवरणा का प्रयोग होता है। समरांगण सूत्रधार में प्रथमतया संवरणा का निर्देश मिलता है। जिस प्रकार सिर के केशों को नाना रूपों में सजाया जाता है और जो संवारना कहा जाता है, वही मन्दिरों में संवरणा के नाम से ज्ञेय है। जब सभा मण्डपों की रचना को कलात्मकता दी जाने लगी, तो संवरणाओं को भी नवीन अर्थ देते हुए प्रयोग में लाया गया। संवरणाओं के नाम पुष्करणी आदि मिलते हैं। 8वीं से लेकर 10वीं सदी तक के मन्दिरों में संवरणाओं के प्रयोग मिलने लगते हैं जो कालान्तर में भी निरन्तर रहे। प्रतिहारकाल में इस दिशा में अनेक प्रयोग प्रारम्भ हुए हैं।

हमें याद रखना चाहिए कि मन्दिरों का शिखर विधान अनेक कालावधियों से नियमित और निर्धारित हुआ है। मिस्र के पिरामिड से लेकर भारतीय मन्दिरों और कंबोडिया आदि के देवालयों तक मुखाकृतियों का जो प्रयोग मिलता है, वह एम आकार में देखा जा सकता है। यही प्रयोग इंडोनेशिया के स्याम, मलय, बाली, सुमात्रा आदि तक मिल जाता है। मन्दिर निस्संदेह मण्डन-अलंकरण के रूपक हैं। बहुत श्रम और अर्थसाध्य रूपक हैं - इनके लिए जितना किया जाए, उतना ही कम होता है। वैसे ही जितना वर्णन किया जाए, उतना वर्णन कम होता है। इसी कारण ये दिव्य देवधाम कहे जाते हैं।

शिक्षण विधियों में नवाचारः वास्तुशास्त्र के सन्दर्भ में

डॉ. ज्ञानेन्द्र कुमार

वास्तुशास्त्र से आशय है निर्माण सम्बन्धी भूमि चयन, निवास स्थान के निर्माण इत्यादि हेतु निर्दिष्ट सिद्धांतों, नियमों, उपनियमों का समुच्चय, जिसका अनुपालन गृह निर्माण करते समय किसी व्यक्ति द्वारा अपेक्षित है ताकि निर्मित भवन में वह सुखमय तरीके से जीवन यापन कर सके वास्तुशास्त्र एक सैद्धान्तिक विषय होने के साथ-साथ प्रायोगिक भी है अतः इसके अध्ययन-अध्यापन में एक सजग शिक्षक को अपने शिक्षण कौशलों में निरंतर अपेक्षित परिवर्तन करने होते हैं इस परिस्थिति में शिक्षक द्वारा अपने शिक्षण कौशलों में क्या-क्या नवाचार किए जा सकते हैं? और उन उपायों को किस प्रकार कक्षा-कक्ष वातावरण में कैसे अनुसरित किया जा सकता है? यह शोध पत्र इन सभी बातों पर व्यापक चर्चा करता है।

मुख्य बिंदु - वास्तुशास्त्र, नाटकीकरण, कार्यगोष्ठी, संगोष्ठी,

इस कथन में लेश मात्र भी संदेह नही है कि संस्कृत भाषा विश्व की प्राचीनतम भाषाओं में अग्रगण्य है यह संसार में वर्तमान में बोली जाने वाली भाषाओं में भी सबसे प्राचीन भाषा है किन्तु केवल यह ही संस्कृत भाषा के वैशिष्ट्य का मानदंड नही है अपितु संस्कृत भाषा अपनी विपुलता और गूढता के लिए विश्व भर में सुविख्यात है। एक ओर जहाँ इसमें भाषाई वैज्ञानिकता है तो वही दूसरी ओर इसका साहित्य अत्यन्त उत्कृष्ट और समृद्धशाली है। संस्कृत भाषा की इसी वैभव को देख कर ब्रह्मसूत्र भाष्य में संस्कृत भाषा को सृष्टि के सर्जक ब्रह्मा के मुख से प्रस्फुटित माना गया है।

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्याः।।[1]

संस्कृत भाषा का प्रभाव समस्त वैश्विक संस्कृतियों पर दिखलाई पड़ता है। विशेष रूप से यह भाषा भारतीय संस्कृति के मेरुदंड के सदृश है इसीलिए कहा भी गया है **'भारतस्य प्रतिष्ठे द्वे संस्कृतं संस्कृतिस्तथा'**। भारतीय लोकजीवन के प्रत्येक पहलू पर

1. ब्र. सू.भा. 1/3/38

संस्कृत भाषा का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है फिर चाहे वह लोकजीवन नगरीय हो या ग्रामीण, या उत्तर भारतीय हो या दक्षिण भारतीय, सर्वत्र ही संस्कृत भाषा का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। संस्कृत भाषा आदिकाल से आधुनिक काल तक भारतीय संस्कृति की संरक्षिका और संवाहिका रूप में रही है इस बात को प्रथम संस्कृत आयोग ने अपने प्रतिवेदन में स्वीकार भी किया है। आयोग का मंतव्य है कि ''संस्कृत ही वह भाषा है जिसके द्वारा भारतीय सभ्यता ने वैदिक काल में जन्म लेकर, लगभग चार हजार वर्षों तक अपनी अभिव्यक्ति संस्थापित की है''।[1] भारतीय समाज में संस्कृत भाषा का महत्त्व आध्यात्मिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक इत्यादि दृष्टियों से है इसीलिए आधुनिक भारत के प्रत्येक समाज सुधारक और शिक्षाविद् ने संस्कृत भाषा के अध्ययन और अध्यापन हेतु अपने सुझाव दिए है क्योंकि संस्कृत केवल एक भाषा मात्र नहीं है अपितु यह एक जीवन शैली है जो ना केवल भारत के अपितु विश्व के प्रत्येक समाज को दिशा निर्देश उपलब्ध कराने में सहायक है। **राष्ट्रपिता महात्मा गांधी** ने संस्कृत शिक्षण को आधुनिक भारतीय शिक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक माना है। उनका दृढ विश्वास था कि संस्कृत ही वह भाषा है जो सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में पिरोने में सक्षम है। उनका विचार था कि 'मैं पूर्णत: मानता हूँ कि संस्कृत अध्ययन शोकजनक ढंग से उपेक्षित किया जा रहा है। मैं उस पीढ़ी से हूँ जो प्राचीन भाषा के अध्ययन में बहुत पीछे है। प्राचीन भाषा की अपेक्षा संस्कृत के सम्बन्ध में ऐसा कहना अधिक सत्य है। प्रत्येक राष्ट्रीय नागरिक को अपनी भाषा को भली प्रकार समझने के लिए किसी अन्य साधन की अपेक्षा संस्कृत अध्ययन अधिक उपयोगी है।[2] इसीलिए यह परमावश्यक है कि संस्कृत भाषा का अध्ययन और अध्यापन विद्यालयों में रुचिपूर्ण तरीके से हो और यह चुनौती तब और बढ़ जाती है जब संस्कृत भाषा के विकास के लिए समाज में अनुकूल अवसर उपलब्ध न हो। अत: संस्कृत भाषा के प्रचार और प्रसार गुरुतर दायित्व अध्यापक के ऊपर होता है। इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षक अपनी कक्षाओं में नवचारित शिक्षणविधियों का उपयोग करें। यहाँ यह प्रश्न समुत्पन्न होता है कि शिक्षणविधियाँ क्या है? और इनकी कक्षा शिक्षण में क्या उपादेयता है? शिक्षणविधियों के विषय में **शिक्षा शब्दकोश** में कहा गया है ''शिक्षण प्रविधियां शैक्षिक क्रियाओं के सञ्चालन का विशिष्ट ढंग है[3] अर्थात् शिक्षणविधि से आशय है प्रभावी और रुचिपूर्ण ढंग शिक्षण को सम्पादित करना ताकि अधीत ज्ञान को अधिगमकर्ता अपने मस्तिष्क में चिरस्थाई बना कर, अपने जीवन में उस ज्ञान का सदुपयोग कर सके। इसीलिए एक शिक्षक का यह दायित्व है कि

1. Report of the Sanskrit Commission p- 71)
2. हरिजन 23 मार्च 1940
3. Dictionary of education p- 590

वह अपने अध्यापन कार्य में परिस्थितिजन्य परिवर्तनों के लिए सदैव तत्पर रहें और यह आवश्यकता वास्तुशास्त्र के शिक्षण में और भी आवश्यक हो जाती है क्योंकि वास्तुशास्त्र विषय की प्रकृति सैद्धांतिक होने के साथ ही प्रायोगिक भी है।

वास्तुशास्त्र की शिक्षण विधियाँ-

प्रत्येक शास्त्र की एक विषय रूप में अपनी विशेषताएं होती हैं, जिन्हें अध्यापक और विद्यार्थी दोनों को ठीक प्रकार से समझकर पढ़ना चाहिए, ताकि उस विषय को पढ़ने के उद्देश्य को उपयुक्त प्रकार से समझा जा सके। यह विचार वास्तुशास्त्र के अध्ययन हेतु भी उपयोगी है। वास्तुशास्त्र एक ऐसा विषय है जिसकी प्रकृति जितनी सैद्धांतिक है उतनी ही प्रायोगिक भी है। अगर एक विद्यार्थी केवल वास्तुशास्त्र के सिद्धांतों को ही जानता है तो वह उस शास्त्र के साथ कभी भी न्याय नही कर सकता है। अतः सर्वप्रथम वास्तुशास्त्र पढ़ने के लिए एक विद्यार्थी को यह जानना आवश्यक है कि वास्तुशास्त्र क्या है? इसके अध्ययन करने का क्या उद्देश्य है? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर को जानने का प्रयास करना चाहिए सर्वप्रथम 'वास्तु' शब्द को जानना उपयुक्त होगा। 'वास्तु' शब्द 'वस् निवासे' धातु में 'तुण्' प्रत्यय के योग से बनता है[1] अतः 'वास्तु' शब्द का अर्थ है निवासयोग्य भूमि या गृह है। इस पर **यास्क मुनि** ने वास्तु शब्द की व्युत्पत्ति की है उनका मत है **''वस्तुर्वसते निवास कर्मणः''**[2] अर्थात् प्राणी का निवास स्थान ही 'वास्तु' कहलाता है **अमरकोश** में भी 'वास्तु' के विषय में कथन प्राप्त होता है **''वेश्मभूमिर्वास्तुरस्त्रियाम्''**[3]। इस प्रकार वास्तुशास्त्र का आशय है वह शास्त्र जो गृह निर्माण हेतु सिद्धांतों, नियमों एवं उपनियमों का प्रतिपादन करता है। वास्तु (निवास) के सैद्धांतिक पक्ष को उद्घाटित करने वाला शास्त्र 'वास्तुशास्त्र' कहलाता है जो ज्योतिषशास्त्र के संहिता स्कन्ध के अंतर्गत आता है। वास्तुशास्त्र का मुख्य प्रयोजन मानव जीवन को सरल, सुगम, और सुरक्षित बनाना है। वैदिक वास्तु के प्रमुख विषय जैसे भूपरीक्षण, शयनविचार, दिग्साधन, पञ्चतत्व परीक्षण आदि का आकलन करना ही वास्तुशास्त्र है। वास्तुशास्त्र में इन सभी विषयों का अध्ययन और अध्यापन किया जाता है।

वास्तुशास्त्र की शिक्षणविधियाँ-

वास्तुशास्त्र के अध्ययन और अध्यापन के लिए वर्तमान में पारंपरिक शिक्षण का प्रयोग बहुतायत में हो रहा है जिसमें मुख्य रूप से व्याख्यानविधि, कथाविधि, अर्थकथन विधि, वाचनविधि इत्यादि हैं। यद्यपि ये विधियाँ विद्यार्थी को सिद्धांतों का ज्ञान तो करा

---

1. वाचस्पत्यम् भाग 6, पृ. 4888
2. निरुक्त 10/16
3. अमरकोश 2/2/19/2/4

सकती है किन्तु ये विद्यार्थियों को अध्ययन के लिए अभिप्रेरित करने में असमर्थ हैं इसका एक बड़ा कारण इन विधियों का अध्यापक केन्द्रित होना है इन विधियों में अध्यापक की भूमिका ज्यादा सक्रिय है जबकि विद्यार्थी की भूमिका एक निष्क्रिय श्रवणकर्ता के रूप में होती है। अत: वर्तमान परिस्थिति में शिक्षक को अपनी शिक्षण विधियों में नवाचार लाने की आवश्यकता है। इस बात को **एन.सी.एफ. 2205** में स्पष्ट रूप में कहा गया है कि शिक्षा का उद्देश्य है 'ज्ञान और जीवन के मध्य दूरी को कम करे'। यह तभी सम्भव है जब पढ़े हुए ज्ञान को विद्यार्थी अपने जीवन में आत्मसात करें। इसीलिए यह अत्यावश्यक है कि विद्यार्थी को न केवल विषयवस्तु का उचित ज्ञान हो अपितु उस गृहीत का अपने जीवन में सदुपयोग भी कर सके। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि शिक्षण विधियों में नवाचार क्या है? और इसका एक अध्यापक अपने शिक्षण में किस प्रकार से उपयोग कर सकता है? इसके लिए आधुनिक शिक्षणशास्त्र में कुछ नवाचार की विधियाँ हैं जिनका अनुपयोग कर वास्तुशास्त्र के शिक्षण को प्रभावी और रुचिपूर्ण बनाया जा सकता है। इन नवाचारित शिक्षणविधियों में प्रमुख रूप से 'चर्चा विधि', 'वाद-विवाद विधि', 'समूह चर्चा विधि', 'नाटकीकरण विधि', 'संगोष्ठी विधि', 'समूह कार्य विधि' और 'कार्यगोष्ठी' इत्यादि आती है।

वास्तुशास्त्र अध्ययन में चर्चा विधि-

चर्चा विधि वास्तुशास्त्र शिक्षण में अत्यंत प्रभावी शिक्षणविधि है। इस विधि में शिक्षक और शिक्षार्थी किसी विषय परस्पर विस्तृत, गहन और सार्थक रूप से विचारों का आदान-प्रदान करते है इस विधि में शिक्षक और शिक्षार्थी मिलकर किसी विषय से संबंधित प्रश्न या समस्या का निर्धारण करते हैं फिर दोनों मिलकर उस प्रश्न या समस्या का उत्तर या समाधान खोजते हैं। इस विधि में दोनों मिलकर किसी विषय पर गहन विचार विमर्श करते है तदुपरांत उस समस्या का समाधान करते हैं। चर्चा विधि के विषय में **शिक्षा-शब्दकोश** में कहा गया है ''चर्चा एक क्रिया है जिसमे लोग एक प्रकरण या समस्या के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करने अथवा एक समस्या के लिए सभी संभावित उपलब्ध साक्ष्य पर आधारित उत्तर खोजने की दिशा में परस्पर बातचीत करते हैं।[1] **जेम्स** ने चर्चा विधि को एक शैक्षिक सामूहिक क्रिया के रूप में माना है जिसमे शिक्षक और शिक्षार्थी किसी समस्या पर गहन बातचीत करते हैं।[2] इस प्रकार चर्चा विधि किन्ही दो लोगों के मध्य किसी विषय पर सार्थक चर्चा है। यह चर्चा भी दो प्रकार से की जा सकती है प्रथम **औपचारिक चर्चा**, इस प्रकार के शिक्षण में किसी समस्या या प्रकरण पर चर्चा हेतु कुछ नियम या उपनियम निर्धारित होते हैं जिनका पालन करना दोनों (शिक्षक

1. Dictionary of education p- 187
2. (James, M-Lee; Principles and Methods of Secondary Education P-304)

और शिक्षार्थी) के लिए आवश्यक होते हैं। द्वितीय **अनौपचारिक चर्चा**, इसमें समस्या या प्रकरण पर शिक्षक और शिक्षार्थी के मध्य स्वतंत्रतापूर्वक चर्चा होती है, यह विधि वास्तुशास्त्र शिक्षण हेतु बहुत प्रभावी विधि है क्योंकि इसमें अध्यापक और विद्यार्थी के मध्य किसी विषय पर अनौपचारिक रूप से चर्चा होती है। इसका मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को किसी विषय पर अपने भावों और विचारों को स्वतंत्रता से व्यक्त करने का प्रशिक्षण देना है। किसी भी विधि को संचालित करने के लिए एक योजना की आवश्यकता होती है यह सिद्धांत चर्चा विधि पर भी लागू होता है चर्चा विधि के सोपान अधोलिखित हैं–

1. समस्या का चयन एवं प्रस्तुतीकरण
2. विवेचन
3. अभिलेखन
4. मूल्याङ्कन
5. समापन

वास्तुशास्त्र शिक्षण में चर्चा विधि के प्रभावी आयोजन के लिए एक सर्वप्रथम चर्चा हेतु विषय या समस्या का निर्धारण किया जाता है। उसके पश्चात् शिक्षक और शिक्षार्थी के मध्य उस निर्धारित विषय या समस्या पर व्यापक चर्चा होती है। तदुपरांत दोनों द्वारा दिए गए सुझाव को अभिलेखन किया जाता है फिर लिखित सुझाव का मूल्याङ्कन किया जाता है और अंत में दोनों द्वारा आपसी सहमति से दिए गए सुझावों को स्वीकार और अस्वीकार करते हैं। वास्तु– शास्त्र शिक्षण में यह विधि काफी उपयोगी और प्रभावी है क्योंकि वास्तुशास्त्र विषय की प्रकृति प्रायोगिक है जैसे किसी भवन के निर्माण करते समय किन–किन सिद्धांतों का अनुसरण करना चाहिए तथा इन सिद्धान्तों का अनुपालन करते समय क्या क्या सावधानी रखनी चाहिए? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर परस्पर बातचीत द्वारा प्रभावी तरीके से निकाला जा सकता है। इस विधि के अनुप्रयोग से विद्यार्थियों के उच्च मानसिक क्षमताओं का विकास होता है साथ ही यह विद्यार्थियों में दूसरों के विचारों को भी स्वीकार करने की अभिवृत्ति का विकास करता है।

वास्तुशास्त्र अध्ययन में संगोष्ठी विधि–

वास्तुशास्त्र शिक्षण हेतु संगोष्ठी एक नव विकसित विधि है इस विधि में समूह के प्रत्येक सदस्य का सहभाग परमावश्यक है किन्तु सहभागी सदस्यों को चर्चा के विषय का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए क्योंकि इस विधि समूह के प्रत्येक सदस्य को सम्बंधित विषय पर अपने विचार प्रस्तुत करने का अवसर दिया जाता है ताकि वह सदस्य उस विषय पर अपने बौद्धिक ज्ञान से समूह के अन्य सदस्यों को अवगत करा सके। इस विधि के विषय में **शिक्षा शब्दकोश** उल्लेख प्राप्त होता है ''संगोष्ठी एक शैक्षणिक प्रविधि है, जो उच्च शिक्षा तक ही सीमित नही है वरन सामान्य है, जिसमे शोध अथवा अध्ययन में संलग्न

पारस्परिक रूचि की समस्याओं के विवेचनार्थ एक या अधिक मार्गदर्शकों के सामान्य निर्देशन के अंतर्गत मिलता है''।[1] वास्तुशास्त्र शिक्षण हेतु संगोष्ठी विधि अत्यंत उपयोगी है क्योंकि इसमें किसी एक पर बड़े शिक्षार्थी वर्ग, जो उस विषय पर ज्ञान या समझ रखता है वह समूह, अपने विचारों का आदान-प्रदान करता है। साथ ही समूह के प्रत्येक सदस्य आपस में मिलकर उस विषय पर गहन विचार-विमर्श करते हैं जिससे उस विषय से सम्बंधित भ्रांतियां भी दूर होती हैं। साथ ही इस विधि के अनुप्रयोग से विद्यार्थियों को स्वतन्त्र और मौलिक चिंतन की प्रवृत्ति का विकास भी होता है। इस विधि के अनुप्रयोग हेतु अधोलिखित सोपानों का प्रयोग करना चाहिए-

1. प्रकरण या समस्या का चयन और प्रस्तुतीकरण
2. शोधपत्र का वाचन
3. पठित शोधपत्र पर गहन विवेचन
4. परस्पर चर्चा के उपरांत विषय के सम्बन्ध में सामान्यीकरण
5. उन सामान्यीकरणों का अभिलेखन करना

संगोष्ठी के आयोजन में शिक्षक की भूमिका एक मार्गनिर्देशक की होती है जबकि विद्यार्थी की भूमिका सक्रिय, स्वतन्त्र और एक आलोचक की होती है। वास्तुशास्त्र शिक्षण में इस विधि का प्रयोग काफी उपयोगी और सार्थक है क्योंकि यह विधि किसी विषय पर आपसी सहमति को पर्याप्त स्थान देता है, जिससे विषय के ज्ञान में मौलिकता, नवीनता और गहनता का समावेश हो जाता है। साथ ही किसी विषय पर विद्यार्थियों में समीक्षात्मक दृष्टिकोण का विकास भी होता है।

वास्तुशास्त्र अध्ययन में कार्यगोष्ठी विधि-

वास्तुशास्त्र की अन्य नवाचार शिक्षणविधियों की तुलना में कार्यगोष्ठी अधिक व्यावहारिक और उपयोगी है। वास्तुशास्त्र की विविध रचनात्मक और व्यावहारिक समस्याओं के समाधान हेतु कार्यगोष्ठी विधि का प्रयोग किया जाता है। इस विधि में विद्यार्थियों के समक्ष वास्तुशास्त्र से सम्बंधित समास्याओं का प्रतिस्थापन किया जाता है। तदुपरांत वे छात्र या सहभागी परस्पर विवेचन कर, उस समस्या का व्यावहारिक समाधान खोजते हैं। इस विधि में विद्यार्थी या सहभागी समूह किसी प्रकरण या समस्या पर परस्पर वातार्लाप करते हैं तथा परस्पर सहमति से किसी समस्या के समाधान तक पहुँचते हैं। शिक्षा शब्दकोश में इसके सम्बन्ध में स्पष्ट कहा गया है ''कार्यगोष्ठी एक शैक्षणिक प्रविधि है जिसमे सामान्य रुचियों एवं समस्याओं से युक्त उपयुक्त विशेषज्ञों के साथ प्राय: आवासिक और कई दिवसों की अवधि में आवश्यक सूचनाएं प्राप्त करने और समूह अध्ययन के माध्यम

1. Dictionary of education P- 526

से समाधान निकालने के लिए मिलते हैं।[1] कार्यगोष्ठी विधि का प्रयोग वास्तुशास्त्र शिक्षण में भी बहुत उपयोगी है। उदाहरण स्वरूप वास्तुशास्त्र में भवन निर्माण के समय ध्यातव्य बातों के विषय में यदि विद्यार्थियों को ज्ञान कराना है तो एक शिक्षक विद्यार्थियों के समूह के अधिगम हेतु कार्यगोष्ठी विधि का उपयोग कर सकता है क्योंकि भवन निर्माण एक दीर्घकालिक प्रक्रिया है। इसमें भवन हेतु भूमि चयन से लेकर उसके निर्माण के उपरांत उसकी साज-सज्जा इत्यादि सम्मिलित है अतः एक शिक्षक द्वारा कार्यगोष्ठी विधि का उपयोग कर भवन निर्माण के ध्यान देने योग्य समस्त बातों का ज्ञान कराना संभव हो सकेगा क्योंकि कार्यगोष्ठी विधि का आयोजन कई सत्रों या कई दिनों तक किया जा सकता है। वास्तुशास्त्र का अध्यापन करते समय कार्यगोष्ठी विधि का आयोजन के लिए अधोलिखित सोपानों का अनुसरण करना एक अध्यापक द्वारा अपेक्षित है-

1. समस्या या प्रकरण का चयन और प्रस्तुतीकरण।
2. प्रकरण का कार्यगोष्ठी इकाइयों और कक्षा का समूहों में विभाजन।
3. कार्यगोष्ठी हेतु प्रस्तावित कार्ययोजना का क्रियान्वयन।
4. समूह की परस्पर सहमति से प्रतिवेदन तैयार करना।
5. समूह चर्चा द्वारा प्रस्तावित प्रतिवेदन में संशोधान करना।
6. विषय विशेषज्ञों से तैयार प्रतिवेदन का मूल्याङ्कन कराना।

वास्तुशास्त्र के शिक्षण में कार्यगोष्ठी विधि का प्रयोग काफी व्यावहारिक और रोचक है क्योंकि इस विधि में समूह का प्रत्येक सदस्य सक्रिय सहभाग लेता है। अतः इस विधि द्वारा वास्तु-शास्त्र के अध्यापन में विद्यार्थी अधिगम हेतु बहुत सक्रिय, सजग और जिज्ञासु होते है जिससे वास्तुशास्त्र का अध्यापन रोचक और प्रभावोत्पादक होता है। साथ ही अधीत विषय का ज्ञान भी मस्तिष्क में चिरस्थाई होता है। कार्यगोष्ठी के प्रयोग छोटी कक्षाओं की अपेक्षा बड़ी कक्षाओं में ज्यादा प्रभावी होता है क्योंकि इस विधि का प्रयोग उन विद्यार्थियों पर ज्यादा प्रभावी होता है जो चयनित प्रकरण या समस्या के विषय में पूर्व में ही सामान्य रूप से परिचित हैं अन्यथा यह विधि कम प्रभावी होगी इसलिए इस विधि के प्रयोग से पूर्व अध्यापक को विद्यार्थियों के पूर्व ज्ञान का पता होना आवश्यक है तभी वह इस विधि का प्रयोग कुशलतापूवर्क किया जा सकता है।

वास्तुशास्त्र अध्ययन में नाटकीकरण-

नाटकीकरण से आशय किसी प्रकरण या समस्या के समाधान के लिए नाटकविधि का प्रयोग करना। नाटकीकरण की मूल प्रवृत्ति है अनुकरण। अनुकरण बालक के आरंभिक ज्ञान का स्रोत है। बालक शैशवावस्था से ही अनुकरण द्वारा ज्ञान का अर्जन करता है। जब

1. Dictionary of education P- 652

इस अनुकरण में कथोपकथन या वार्तालाप, संगीत, भाव-भंगिमा आदि समाहित हो जाते हैं तो वह नाटकीकरण कहलाता है दूसरे शब्दों में जब किसी बात को कहानी या घटना के साथ जोड़ कर जीवंत रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो उसे **'नाटकीकरण'** कहा जाता है इसके सम्बन्ध में **शिक्षा शब्दकोश** में वर्णन किया गया है ''नाटकीकरण एक कहानी या अभिनय या नाटक या अन्य सामग्री के रूप में जो पहले से नाटकीय रूप में नही है, को नया स्वरूप देना है''।[1] नाटकीकरण में सर्वप्रथम शिक्षक किसी घटना या प्रसंग का चुनाव करता है फिर विद्यार्थियों को उनकी योग्यता के अनुरूप विभिन्न पात्रो का वितरण करता है, फिर उन्हें उस नाटक के अंशों का निर्धारण करता है। तदुपरांत उन्हें संवाद के विषय में सविस्तार समझाता है किसे क्या बोलना है? कब बोलना है? किसके बाद बोलना है? इत्यादि के विषय में विशद रूप में बताता है। निर्धारित समय पर विद्यार्थी उस नाटक को अभिनय करते हैं। उसके बाद उस अभिनीत नाटक की शिक्षक और विद्यार्थियों के द्वारा समीक्षा की जाती है। यह विधि क्लिष्ट से क्लिष्ट विषय को भी बड़ी सरलता से बोधगम्य बना देती है। साथ ही इस विधि का प्रयोग किसी भी स्तर पर किया जा सकता है। इस विधि के प्रयोग से पूर्व शिक्षक को भी पर्याप्त तैयारी करनी पड़ती है इसीलिए इस विधि के प्रयोग से पूर्व शिक्षक जितनी व्यापक तैयारी कर लेता है उतनी ही इस विधि के सफलता की संभावना ज्यादा है। ये कुछ नवचार से युक्त शिक्षणविधियाँ हैं जिनका प्रयोग कर वास्तुशास्त्र शिक्षण को प्रभावी और रोचक बनाने के लिए किया जा सकता है

उपसंहार-

वास्तुशास्त्र का अध्ययन केवल भवन निर्माण या निर्माण हेतु भूमि के चयन से सम्बंधित नहीं है अपितु यह व्यक्ति के स्वास्थ्य से भी जुड़ा हुआ है। इसलिए आज प्रत्येक मानव इसको जानने और समझने के लिए उत्सुक है। इस परिस्थिति में आज वास्तुशास्त्र के अध्यापन की मांग निरतर बढ़ी है। अत: यह आवश्यक हो गया है कि जिन विद्यार्थियों ने परम्परागत तरीके से संस्कृत अध्ययन नहीं किया है उनके अध्यापन के लिए भी शिक्षण विधियों में सतत परिवर्तन हों। चर्चा विधि, संगोष्ठी विधि, कार्यगोष्ठी विधि इत्यादि नवचारित विधियाँ इस कार्य में बहुत सार्थक प्रयास सिद्ध होंगी।

1. Dictionary of education P- 195

सहायक ग्रन्थ सूची-

1. सिंह कर्ण संस्कृत शिक्षण संस्करण 2007 एच. पी. भार्गव. बुक हाउस, आगरा।
2. डॉ. पांडे रामशकल संस्कृत शिक्षण संस्करण 2007, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।
3. शास्त्री नेमिचंद्र भारतीय ज्योतिष संस्करण 2015 भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
3. डॉ. मिश्र हरिराम (संपादक) याज्ञवल्क्य शिक्षा संस्करण 2019, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली।
4. डॉ. गोयल प्रीतिप्रभा सम्पूर्ण विदुर नीति संस्करण 2014, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोध पुर, राजस्थान।
5. Dr. Mangal S.K. and Dr. MangalShubhra Psychological Perspective of Education Edition 2018, Arya Book Depot., New Delhi.
6. Sampad and Vijay the Wonder that is Sanskrit Edition 2017, AuroPublication, Shri Aurobindo Society Puducherry.
7. Review of education in India 1947&1961 Punjab, New Delhi, National Council of Education Research and Training, India.

प्रासाद निर्माण में शिखर विधान

डॉ. ब्रह्मानन्द मिश्रा

हमारी प्राचीन वैदिक परम्परा का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है। इसमें वेद, पुराण, दर्शन, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद तथा स्मृतियां आदि की गणना की जाती है। हमारे प्राचीन ऋषि मुनियों ने अपने तप, साधना और अनुसन्धान के बल पर इन शास्त्रों में विश्व के हर एक क्षेत्र (विषय) का ज्ञान-विज्ञान विस्तृत रूप में वर्णित किया है, इसीलिये हमारी भारतीय सनातन परम्परा को समग्र विश्व में बडे ही आदर व सम्मान के साथ देखा जाता है। वेदों को साक्षात् ईश्वर की वाणी के रूप में। वेद के षड् अंग है-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष यथा-

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।[1]

अर्थात् ज्योतिषशास्त्र को वेद का नेत्र माना गया है - **''ज्योतिषामयनं चक्षुः''** नेत्र से अभिप्राय है दृष्टि, ऐसी दृष्टि जो मानव के भूत, भविष्य और वर्तमान को बतलाने में सहायक है। ज्योतिषशास्त्र को तीन स्कन्धों में विभाजित किया गया है होरा सिद्धान्त संहिता। यथा-

सिद्धान्तः संहिता होरा रूपं स्कन्धत्रयात्मकम्।
वेदस्य निर्मलं चक्षुः ज्योतिः शास्त्रमनुत्तमम्।।[2]

सिद्धान्त ज्योतिष की परिधि में खगोल, बीजगणित, ग्रहगणित, गोल, त्रिकोणमिति, चलनकलन, ग्रहण साधन, ग्रहस्पष्ट आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। होरा शास्त्र मानव जीवन के जन्म से मृत्युपर्यन्त ग्रहों के आधार पर घटने वाली समस्त घटनाओं का द्योतक है। जिससे मानव शरीर पर ग्रहों का प्रभाव, धन सम्पदा, तेज पराक्रम, सुःख, मातृसुख, सन्तान, रोग, वैवाहिक जीवन, पुरातत्व, भाग्य, धर्म, कर्मक्षेत्र आदि विषयों का

---

1. पाणिनीय शिक्षा, श्लोक संख्या - 41, 42
2. नारद संहिता 1/4

समावेश किया गया है। संहिता के अन्तर्गत सिद्धान्त व होरा से अन्यतर विषयों यथा प्राकृतिक आपदाओं (बाढ, भूकम्प, सुनामी ज्वार-भाटा, ज्वालामुखी, बादल फटना) सामुद्रिक शास्त्र, अंगलक्षण, स्वप्न विचार, वृष्टि विचार आदि विषय निरूपित है। वहीं संहिता के अन्तर्गत वास्तु विज्ञान का वर्णन भी देखने को मिलता है। वास्तु शब्द संस्कृत भाषा के वस् धातु में तुण् प्रत्यय जुड़ने से बनता है, जिसका अर्थ होता है निवास करना। यास्क मुनि के अनुसार - **'वास्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः'** अर्थात् निवास योग्य भूमि को वास्तु कहा जाता है।[1]

देवालय निर्माण, भवनादि निर्माण में वास्तु का उपयोग वैदिक काल से देखने को मिलता है। यथा-

सुखं गृहं ते।[2] दाशुषो गृहे।[3]

शिल्पशास्त्र की वैदिक परम्परा में निष्णात मनीषियों के निर्देशानुसार धर्म, यश व मोक्ष को देने वाले उद्यान एवं सरोवर के निर्माण के अतिरिक्त देव प्रासाद की स्थापना करना भी देवतुल्य कार्य है। जैसे कि बृहत्संहिता में वर्णन मिलता है-

कृत्वा प्रभूतं सलिलमारामान् विनिवेश्य च।
देवतायतनं कुर्याद् यशोधर्माभिवृद्धये।।[4]

वैदिक काल हो या वर्त्तमान काल ईश्वर की सत्ता के बिना जीव की कल्पना असम्भव है। मनुष्य ईश्वर के बिना नहीं रह सकता। वह प्रतिपल ईश्वर की कृपा व आशीर्वाद चाहता है तथा कामना करता है कि मेरा जीवन सुखमय हो, मैं अपने परिवार के साथ शान्ति व आनन्द पूर्वक जीवन यापन करूं इसलिए ईश्वर की पूजा आराधना करता है। उनसे अपने मन के भाव अभिव्यक्त करना चाहता है जिस कारण उसे देवालय तथा अपने ईष्टदेव के विग्रह की आवश्यता होती है। वह देवालय कैसा होना चाहिए? किस दिशा में होना चाहिए? वहां पर भगवान की मूर्ति का मापदण्ड क्या होना चाहिए? ग्रहगृह का मुख किस दिशा में होना चाहिए? आदि विषयों को यदि हम जानना चाहतें है और अपनी भौतिक उन्नति चाहते हैं तो हमें वास्तुशास्त्र का अध्ययन करना पडेगा तथा उसमें बताये गये मापदण्डों का पालन करके देवालय का निर्माण करना होगा।

देवानां आलयः देवालयः अर्थात् देवताओं का निवास स्थान। देवालय शब्द का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख ''शतपथब्राह्मण'' में देखने को मिलता है।[5] जिसे हम विभिन्न

1. निरुक्त 10/16
2. ऋ. 03/53/06
3. ऋ. 04/09/06
4. बृहत्संहिता वास्तुविद्या १
5. द्रष्टव्य शतपथब्राह्मण 3/5/3/9

पर्याय नामों से भी जानते हैं यथा–प्रासाद, देवायतन, देवालय, देवनिकेतन, देवदरवार, देवकुल, देवागार, देवरा, देवकोष्ठक, देवस्थान, देवगृह, ईश्वरालय, मन्दिर इत्यादि।[1]

देवालय के निर्माणारम्भ से लेकर निर्माणोपरान्त देवप्रतिष्ठा तक सात कर्म होते हैं। जिन्हे यथा विधि पूर्ण करना चाहिए। ये कर्म हैं – 1. कूर्मस्थापना, 2. द्वारस्थापना, 3. पद्मशिला स्थापना, 4. प्रासाद पुरुष की स्थापना, 5. कलश, 6. ध्वजा रोहण, तथा 7. देव प्रतिष्ठा।

कूर्म्मसंस्थापने द्वारे पद्माख्यायां तु पौरुषे।
घटे ध्वजे प्रतिष्ठायां एवं पुण्याहसप्तकम्।।[2]

भूमिनिरूपणम्–मन्दिर के निर्माण कार्य में सर्व प्रथम भूमि का निरूपण करना अत्यन्त आवश्यक है। वह भूमि किस प्रकार की होनी चाहिए, उसके क्या लक्षण होने चाहिए, जिससे वहां पर स्थित देवालय कल्याण कारक हो आदि। इसके लिये वर्णन मिलता है कि वह भूमि श्रेष्ठ है जो चारों ओर से अवनत और मध्य से उन्नत हो अर्थात् जिस भूमि के चारों ओर पानि बह सकता हो, पूर्व, उत्तर व ईशान कोण में जो भूमि अवनत हो अथवा इन तीनों दिशाओं में जलप्लाव हो सकता हो, वह भूमि प्रासाद के लिये उत्तम होती है। विद्वानों के परीक्षण के बाद चयनित भूमि को पंचगव्य छिडक कर शुद्ध करना चाहिये।

सर्वदिक्षु प्लवां वा प्रागुदक्शंकरप्लवाम्।
भुवं परीक्ष्य सिंचेत पंचगव्येन कोविदः।।[3]

देवालयों के निर्माण के सम्बन्ध में आचार्यो का कथन है कि नदी के किनारे, सिद्धाश्रमों, तीर्थधामों, बडे पुरों अथवा नगरों, ग्रामों, पर्वतों की गुफाओं, वाटिका, वापी तथा जलाशय इत्यादि पवित्र स्थानों पर मन्दिर निर्माण करना शुभ है।[4] यथा–

शतपथब्राह्मण काल में दो मण्डप युक्त मन्दिर बनाये जाते थे तथा ये मण्डप स्तम्भों और बल्लियों पर आश्रित होते थे। इन्ही पर छत डाली जाती थी। धरन् द्वारा छत को आश्रय दिया जाता था जिसे प्राचीन काल में वंश के नाम से पुकारा जाता था। ये छतें और भित्तियां सामान्यतः नरकट की पट्टियों व चटाई से आच्छादित की जाती थी। किन्तु आज शतपथब्राह्मण के काल का कोई भी मन्दिर–अवशेष नहीं मिलता। इसके बाद कुषाणकाल तक चैत्य एवं विहारों का निर्माण हुआ। गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्म का पुनरूद्धार हुआ जिसमें मन्दिरों का निर्माण होने लगा। इस काल के मन्दिरों का वास्तु विन्यास बौद्ध–विहारों से अनुप्रमाणित था जिसमें गर्भगृह के साथ ही चपटी छतें होती थी तथा

1. प्रासादमण्डनम् भूमिका श्रीकृष्ण जुगुनू (प्रासाद निर्माण विधि एवं सूत्रधार मण्डन) पृ. 3
2. प्रासाद मण्डनम् १/३६
3. प्रासाद मण्डनम् पृ. १/१२
4. प्रासाद मण्डनम् १/३२

गर्भगृह के सामने ही लघु या बृहद् अलिंद या बरामदा बनाया जाता था।[1]

मयमत के अनुसार वास्तु के चार प्रकार होते हैं। भूमि, प्रासाद, यान और शयन। यथा–

भूमि-प्रासाद-यानानि-शयनं च चतुर्विधाम्।
भूरेव मुख्य वास्तुस्यात्तत्र जातानि यानि हि।।[2]

भगवान की बनाई हुई इस सृष्टि में चौदह लोक हैं तथा इन चौदह लोकों के देवों की आराधना के अनुरूप चौदह प्रकार के प्रासादों का स्वरूप उत्पन्न हुआ, जो सुजातीय था। इन 14 जातियों के प्रासादों में आठ प्रकार के प्रासाद श्रेष्ठ माने गए हैं यथा–

नागरा-द्राविडाश्चैव भूमिजा-लतिनास्तथा।
सावन्धरा-विमानादि-नागराः पुष्पकांकिता।।
प्रासादमिश्रकाश्चैवमष्टौ जातिषु चोत्तमाः।
प्रासादानां च सर्वेषां जातयोर्देशभेदतः।।[3]

अर्थात् 1. नागर, 2. द्राविड, 3. भूमिज, 4. लतिन, 5. सांधार, 6. विमान नागर, 7. पुष्पकांकिता और 8. मिश्र जाति प्रासाद। ये आठों जातियों के प्रासाद सभी देवताओं के लिए निर्मित किए जा सकते हैं। प्रासाद की मुख्य तीन कोटियां प्रतिष्ठित हैं–

1. द्राविड शैली
2. वेसर शैली।
3. नागर शैली

1. द्राविडशैली–

द्राविड शैली के मन्दिर जिनका आधार भाग समचतुरस्र होता है परन्तु ऊंचाई वाले इन देवालयों का प्रांगण भी सुविस्तृत होता है, तथा प्रवेशद्वार गोपुरम् युक्त होते है। दक्षिण भारत में तुंगभद्रा नदी से लेकर कुमारी अन्तरीक तक इस शैली का विकास देखने को मिलता है।[4]

2. वेसरशैली–

इस शैली में निर्मित मन्दिरों को मिश्रक मन्दिर भी कहते हैं। यह नागर तथा द्राविड शैलियों का मिश्रित रूप है। इन मन्दिरों का विन्यास द्रविड कोटि का तथा रूप सज्जा नागर कोटि की होती है। भारत में उत्तर व दक्षिण के संधि स्थल पर इनका निर्माण हुआ

1. प्रासादमण्डन भूमिका श्रीकृष्ण जुगुनू (प्रासादनिर्माणविधि एवं सूत्रधारमण्डन) पृ. 2
2. मयमतम अध्याय 2 श्लोक सं. 2
3. प्रासाद मण्डनम् १/७–९
4. प्रासादमण्डन भूमिका श्रीकृष्ण जुगुनू (प्रासादनिर्माणविधि एवं सूत्रधारमण्डन) पृ. 2

तथा विन्ध्यांचलपर्वतमाला से कृष्णा नदी तक इनका प्रसार देखने को मिलता है।[1]

3. नागर शैली–

नागर शैली को आर्य शैली के रूप में भी एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। आर्यो द्वारा निर्मित ईंट व काष्ट से निर्मित वास्तुकला कालान्तर में नागर शैली के रूप में विकसित हुई तथा सर्व प्रथम नगर में उत्कृष्ट होने के कारण यह नागर शैली कहलायी। इसमें आवास, देवालय, उद्यान, तालाब आदि का पर्याप्त वर्णन मिलता है। नागर शैली का अध्ययन किया जाय तो मन्दिर का प्रारूप वर्गाकार, गर्भगृह का स्वरूप वर्गाकार व ऊपरी बनावट ऊंची मीनार व शिखर की रेखायें तिरछी तथा कलश के आधार को छूती हुई प्रतीत होती हैं। भौगोलिक दृष्टि से हिमालय से लेकर विन्ध्यांचल पर्वत के मध्यस्थ भाग में इसका पूर्ण विकसित रूप परिलक्षित होता है, जो साम्प्रतिक हिमाचल व उत्तराखण्ड में आज भी उसी स्वरूप में दृष्टि गोचर होते हैं। प्रतिमा भेद से उत्कल बंगाल व कश्मीर में भी इस शैली के मन्दिर विद्यमान हैं। नागर शैली को उत्तर भारतीय आर्यशैली कहा गया है।

वास्तु ग्रन्थों में नागर देवालयों के बीस प्रकार प्राप्त होते हैं।[2] नागर शैली के मन्दिरों (देवालय) की बनावट को दो प्रकार से समझा जा सकता है–

1. ऊंचाई में नीव के ऊपर से जहां चबूतरा (जगति) आरम्भ होता है। ऊपर शिखर की चोटी तक को उसका ऊर्ध्वछन्द कहा जाता है।
2. लम्बाई में गर्भगृह (जिस मण्डप में मूर्ति स्थापित की जाती है) से प्रवेश द्वार तक की लम्बाई को उसका तलछन्द कहते हैं।

नागर शैली के देवालयों के मुख्य आठ अंग हैं[3]–

1. **आधार** – नीव और उसमें लगे अंग जिन पर सम्पूर्ण प्रासाद को आश्रित किया जाता है।
2. **मसूरक** – नीव और भित्तियों के मध्य का भाग।
3. **जंघा** – भित्तियां और विशेषकर गर्भगृह आदि की भित्तियां।
4. **कपोत** – अर्थात् देवालय का कार्निस।
5. **शिखर** – देवालय का शीर्ष भाग जो गर्भगृह का ऊर्ध्वभाग भी है।
6. **ग्रीवा** – शिखर से ऊपर का भाग।

---

1. तत्रैव पृ. ३
2. समरांगण सूत्रधार अध्याय 74 श्लोक 1–5, द्रष्टव्य बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय
3. द्रष्टव्य प्रासादमण्डन भूमिका श्रीकृष्ण जुगुनू – पृ. 2

7. **आमलक** – शिखर के शीर्ष पर स्थापित होने वाला आंवले के आकार का वह भाग जिस पर कलश प्रतिष्ठित किया जाता है।
8 **कलश** – शिखर पर स्थापित किये जाने वाली अण्डाकार रचना।

वस्तुतः नागर शैली शिल्पियों के सतत परिश्रम, महान मेधा व निपुणता का उत्कृष्ट उदाहरण है जो सर्वप्रथम उत्तर भारत में देखने को मिलता है।

नागर प्रासाद के शिखरों के 11 अंग हैं, जो शिखर निर्माण में की जाने वाली सूक्ष्म नक्कासी व उसमें स्थित विज्ञानता को द्योतित करती है। ये अंग है–

1.	कलश	7.	शुकनास
2.	आमलसारक	8.	तवंग
3.	मूलमंजरी	9.	तिलक
4.	उरुशृंग	10.	कर्म
5.	कर्म	11.	प्रहार
6.	सिंह		

शिखर प्रारूप[1]–

जंघा के ऊपर की वरण्डिका से जहां गर्भगृह का पटाव होता है वहां से शिखर का आरम्भ होता है। यह शिखर चौकोर होता है। इसमें भी प्रत्येक ओर उद्गम की तरह भद्र, प्रतिभद्र और कर्ण होते हैं किन्तु ये दीवारों के कटावों की तरह गहरे नहीं होते। इसके भद्र और प्रतिभद्र को **रथ** और **प्रतिरथ** भी कहते हैं। रथ और प्रतिरथ की संख्या के अनुसार शिखर को त्रिरथ या पंच रथ भी कहते हैं। शिखर की शोभा उन शृंगों के कारण होती है जो रथ पर बनाये जाते हैं और शिखर जैसे उभरे हुए उसी के छोटे भाग होते हैं, इन्हे **उरुशृंग** कहते हैं। इनके अतिरिक्त शिखर में अनेक छोटे–छोटे शृंग बनाये जाते हैं जो शिखर की शोभा में चार लगाते हैं। ये वरण्डिका या रथों के बीच में बनाये जाते हैं इन्हे **कर्णशृंग** कहते है। शिखर का भाग जैसे–जैसे ऊपर बढता जाता है वैसे–वैसे संकरा होता चला जाता है तथा वह एक निश्चित स्थान पर जाकर रुक जाता है। इस भाग को स्कन्ध कहते हैं। स्कन्ध के ऊपर एक छोटी सी गोल शिला रखी जाती है जिसे **ग्रीवा** कहते हैं। इस गोल शिला के ऊपर एक और आंवले के आकार की शिला रखी जाती है जिसे आमलक कहते हैं। आमलक के ऊपर गोलार्द्ध में क्रमशः छोटे कमलदल से अलंकृत गोल पत्थर लगाये जाते हैं, जिन्हे **चन्द्रिका** कहते हैं। चन्द्रिका के इससे भी छोटा एक आमलक लगाया जाता है। जिसे **आमलसारिका** कहते हैं। इस पर सुन्दर कलश स्थापित किया जाता है। यह कलश प्रायः शिखर के आकार के अनुपात में होता है।

1. द्रष्टव्य प्रासादमण्डन चतुर्थ अध्याय

नागर शैली के शिखर को यदि हम एक इकाई मानें तो उसकी चारों दिशाओं में चार उरुशृंग बनाए जाते हैं। ये शृंग भी शिखर की आकृति के होते हैं। यदि मूल शिखर का सामने से दर्शन किया जाय तो वह आकृति शृंग होती है। प्रासाद के शिखर का सम्मुख दर्शन ही शृंग है, मूल शिखर और उसके चारों ओर चार शृंग इस प्रकार कुल पांच शृंग युक्त रूप प्रासाद (देवालय) का एक सीधा प्रकार हुआ। बीच के शिखर को मूल मंजरी और चारों ओर के मूलभूत बड़े शृंगों को उरुशृंग कहते हैं। इसी के लिये राजस्थानी और गुजराती स्थपतियों में **छातिया शृंग** शब्द प्रचलित है। वस्तुतः शृंग और शिखर पर्यायवाची हैं। उरुशृंग को **उरुशिखर** कहा गया है। मूलमंजरी के चार भद्र या पार्श्व में चार उरु शृंगों के अतिरिक्त अनेक शृंग बनाये जाते थे। उरुशृंगों की संख्या प्रत्येक भद्र में एक से नौ तक हो सकती है–

उरु शृंगाणि भद्रेस्युरेकादिग्रहसंख्यया।
त्रयोदशार्द्धे सप्तार्द्धे लुप्तानि चोरुशृंगकैः।।[1]

शिखर निर्माण का प्रमाण है कि शिखर के दोनों कोणों के विस्तार का 10 भाग करके स्कन्ध का छठा भाग शिखर का फैलाव रखना चाहिए। छः भाग से ज्यादा का विस्तार दोषकारक व पांच भाग शिखर की शोभा में न्यूनता लाता है इसलिये स्कन्ध छठा भाग शिखर का निश्चित प्रमाण सिद्ध होता है।

देवालय का वर्णन करना साधारण मनुष्यों के वश में नहीं है, क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो देवालय हमारी आस्था व उस दैवीय शक्ति का प्रतीक हैं, जिसका रहस्य जानने के लिये हमारे अनेक जन्म भी अल्प प्रतीत होते हैं लेकिन फिर भी आवास चाहे वह देवताओं का हो या मानवों का उसका प्रमुख लक्ष्य सुख, शान्ति एवं चतुर्वर्गप्राप्ति हेतु प्रयास करना ही है।

1. प्रासाद मण्डन – ४/११

गृह वास्तु में मुख्य द्वार विचार

डॉ. सुरेश शर्मा

वास्तु एक प्राचीन विज्ञान है। प्राचीन भारतीय मनीषियों नें हमारे आस-पास में व्याप्त अनिष्ट शक्तियों से हमारी रक्षा करने के उद्देश्य से इस विज्ञान का विकास किया है। मानव शरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश इन पांच तत्त्वों से बना है तथा वास्तु शास्त्र के अनुसार यह पांच तत्त्व मानव मानव जीवन तथा जगत को प्रभावित करते है। गृहस्थ जीनव में गृह वास्तु का विशिष्ट महत्त्व है। विश्वकर्मा के अनुसार स्त्री, पुत्र आदि का भोग कराने वाल, सुख, धर्म, अर्थ, काम को देने वाला, प्राणियों के सुख का स्थान, सर्दा, वायु, गर्मी आदि कष्टों से रक्षा करने वाला गृह होता है।[1] वास्तु शास्त्र के अनुसार गृहनिर्माण के ग्राम भूमि चयन, भूमि का शुभाशुभत्व विचार, दिशा विचार, वर्ग विचार काकिणि विचार, खात विचार, गृहारम्भ मुहूर्तादि अनेक चरण होते हैं। द्वार स्थापन उक्त चरणों में एक महत्वपूर्ण चरण है।

किसी भी घर में प्रवेश द्वार अथवा मुख्य द्वार का विशिष्ट महत्व होता है। यद्यापि घर में प्रत्येक कक्ष के पृथक पृथक् द्वार होते है। परन्तु सभी कक्षों में जाने का मार्ग मुख्य द्वार ही होता है। वास्तु विशेषज्ञों के अनुसार यदि प्रवेश द्वार वास्तु सम्मत हो तो घर में रहने वाले सदस्यों का उत्तम स्वास्थ्य, सुख, शान्ति रहती है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में मुख सभी प्रकार के रोगों के प्रवेश हा मुख्य द्वार होता है, उसी प्रकार घर में भी समस्त समस्याओं तथा विपत्तियों का मार्ग मुख्य द्वार होता है। अतः वास्तु शास्त्र में मुख्य द्वार को स्थापित करने पर विशेष विचार किया गया है। घर के मुख्य द्वार को शास्त्रों में गृहमुख कहा गया है। भारतीय संस्कृति व परम्परा के आुसार मुख्य द्वार को कलश, नारियल, केले अशोक आदि के पत्तों से, पुष्पों से तथा स्वस्तिकादि चिह्नों से सजा कर रखने चाहिये।[2] द्वार के इस विशेष महत्व को स्वीकार कर प्राचीनाचार्यों ने वास्तुशास्त्र के अनेक ग्रन्थों में द्वार की दिशा, स्थान, प्रमाण (लम्बाई तथा चौड़ाई) तथा स्थापित करने के मुहूर्त आदि के विषय में विस्तृत वर्णन किया है। द्वार स्थापन से सम्बन्धित ध्यातव्य तथ्यों पर यथाशास्त्र यहाँ विचार किया जा रहा है।

---

1. बृहद्वास्तुमाला - मिश्रप्रकरण, श्लोक 4
2. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय, 80

द्वार की दिशा-

वास्तु के अनुसार द्वार किस दिशा में स्थापित किया जाए, यह एक महत्वपूर्ण विषय है। वास्तुग्रन्थों में द्वार की दिशा निश्चित करने के अनेक सिद्धान्त प्राप्त होते है। मुहूर्तचिन्तामणि ग्रन्थ के अनुसार ब्राह्मण राशि (कर्क, वृश्चिक, मीन) वाले जातकों के लिए पूर्व दिक् द्वार, क्षत्रिय राशि (मेष, सिंह, धनु) के लिए उत्तर दिक् द्वार, वैश्य (वृष, कन्या, मकर) राशि के लिए दक्षिण दिक् द्वार तथा शूद्र (मिथुन, तुला, कुम्भ) राशि के लिए पश्चिम दिक् द्वार शुभ होता है।[1] यथा-

द्वारं द्विजवैश्यशूद्रनृपरायीनां हितं पूर्वतः।[2]

वसिष्ठसंहिता के अनुसार जिस दिशा में वास्तुपुरुष का मुख हो उस दिशा में द्वार बनाना शुभफलदायक होता है। वास्तु पुरुष के मुख के विपरीत दिशा में द्वार बनाने से दुख शोक एवं भय होता है परन्तु यदि चारों दिशाओं में द्वार बनाया जा रहा हो तो वहां उक्त दोष नहीं होता।[3] कतिपय ग्रन्थों में आय के अनुसार द्वार निर्णय किया गया है। भूमि के दैर्घ्य को विस्तार से गुणा करके आठ का भाग देने से जो शेष हो वह ध्वजादि क्रम से आय होता है। यथा 1 शेष रहे तो ध्वज, 2 शेष रहे तो धूम, 3 शेष रहे तो हरि, 4 शेष रहे तो श्वान, 5 शेष रहे तो गाय, 6 शेष रहे तो गधा, 7 शेष रहे तो हाथी तथा 8 (शून्य) शेष रहे तो कौआ नामक आय होता है।[4] इस सिद्धान्त के अनुसार ध्वज आय को सभी दिशाओं में द्वार शुभ होता है। सिंह आय को पश्चिम के अतिरिक्त अन्य दिशाओं में द्वार शुभ होता है।[5] वृष आय को पूर्वद्वार तथा गज आय को दक्षिण अथवा पूर्व दिशाओं में द्वार शुभ होता है। अन्य मतानुसार ब्राह्मण वर्ण को ध्वज आय तथा पश्चिम मुख का द्वार, क्षत्रिय वर्ण को सिंह आय तथा उत्तर दिशा का द्वार, वैश्य वर्ण को वृष आय तथा पूर्व मुखी द्वार एवं शूद्र जाति को गज आय तथा दक्षिण मुखी द्वार शुभ होता है।[6]

द्वार का स्थान -

द्वार की दिशा निश्चित करने के पश्चात् प्रश्न हैं कि निर्धारित दिशा में किस जगह द्वार स्थापित किया जाए? क्योकि भूखण्ड की भित्ति (दीवार) सभी दिशाओं में होती हैं। वास्तु ग्रन्थों में इस सन्दर्भ में अनेक मत प्राप्त होते है। बृहद्वास्तुमाला के अनुसार गृह

---

1. बृहद्वास्तुमाला, द्वारनिर्णय, 149
2. मुहूर्तचिन्तामणिः, वास्तुप्रकरण, श्लोक - 1
3. वसिष्ठसंहिता, वास्त्वाध्याय, श्लोक - 60
4. बृहद्वास्तुमाला, आयविचार 5
5. बृहद्वास्तुमाला, द्वारनिर्णय, 150
6. बृहद्वास्तुमाला, द्वारनिण्रय, 151, मुहूर्तचिन्तामणि, वास्तुप्रकरण, श्लोक - 4-5

के जिस भाग में द्वार बनाना हो उस भाग की लम्बाई तथा चौडाई को जोडकर उसे 9 से भाग देना चाहिऐ। 9 भागों में से 5 भाग दक्षिण तथा 3 भाग उत्तर में छोडकर शेष भाग में द्वार बनाना चाहिए।[1] (गृह का दक्षिण तथा उत्तर द्वार घर से बाहर निकलते समय का होता है।)

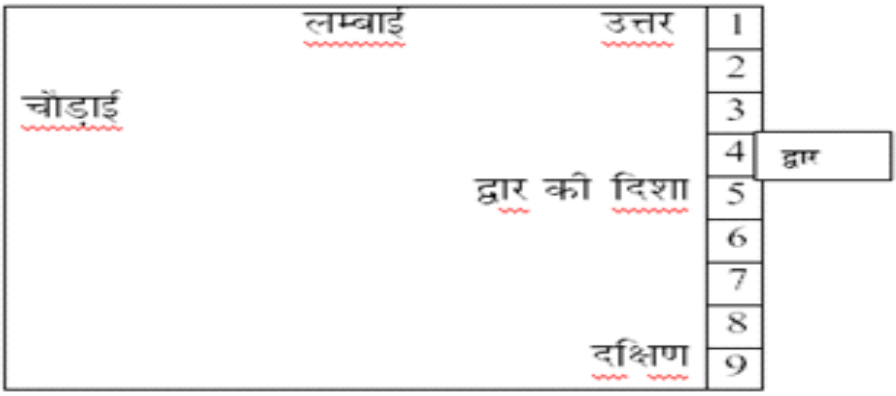

आचार्य वाराहमिहिर ने बृहत्संहिता में भूखण्ड पर वास्तुमण्डल बनाकर उसके अनुसार द्वार स्थापन करने की विधि का प्रतिपादन किया है। आचार्य के अनुसार भूखण्ड की चारों दिशाओं में 32 देवता होते है। इस विधि के अनुसार गृह की प्रत्येक भित्ति (लम्बाई तथा चौड़ाई) को नौ भागों में विभक्त करके ईशान कोण से प्रारम्भ कर प्रत्येक भित्ति में आठ आठ द्वार होते हैं, इस प्रकार चारों भित्तियों में 32 द्वार हुए। प्रत्येक भित्ति में पूर्वादिक्र में द्वार का फल निम्न प्रकार से होता है[2] –

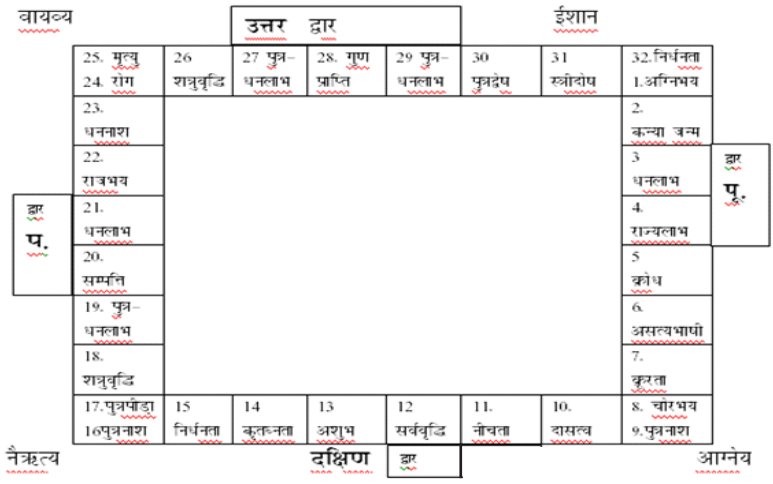

1. बृहद्वास्तुमाला, द्वारनिर्णय, 162
2. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय, 70–73

उक्त वास्तुचक्र के अनुसार पूर्व दिशा में स्थित भित्ति में तृतीय तथा चतुर्थ भाग पर, दक्षिण क्रम में 11 एवं 12 पर, पश्चिम क्रम में 20 एवं 21 पर तथा उत्तर क्रम में 27, 28 तथा 29 भाग पर द्वार स्थापित करना शुभ होता है।

द्वार का प्रमाण-

वास्तुशास्त्र में द्वार का प्रमाण (लम्बाई तथा चौड़ाई) वर्णानुसार निश्चित किया गया है। ब्राह्मणादि वर्णो के गृह के व्यास पञ्चमांश मे अट्ठारा अङ्गुल जोडने से योग का अष्टमांश मिलाकर जो प्राप्त हो उतना अङ्गुल द्वार का विस्तार तथा विस्तार को त्रिगुणि करने से द्वार की ऊँचाई होती है।[1] यथा - ब्राह्मण के गृह का विस्तार 32 हाथ है[2], इसका पञ्चमांश 6 में 18 अङ्गुल जोड़ा तो 24 प्राप्त हुआ, इस याग में योग का अष्टमांष्ठा 3 जोड़ा तो 27 अङ्गुल द्वार का विस्तार तथा इसका त्रिगुणित 81 अङ्गुल द्वार की ऊँचाई हुई। इसी प्रकार अन्य वर्णों के लिए भी विचार करना चाहिए। प्रमाण से अधिक द्वार राजभय तथा प्रमाण से कम हो ता चोरभय तथा शारीरिक कष्ट होता है।[3]

द्वार वेध -

वेध का अर्थ है द्वार के सम्मुख होना। मार्ग, वृक्ष, कोण, कूप स्तम्भ, चक्र आदि द्व ार के सम्मुख हो तो अशुभ होता है। इनका फल वास्तु शास्त्र के अनुसार निम्न प्रकार से होता है - मार्ग से विद्ध द्वार गुहपति का विनाश करता है।, वृक्ष से वेधित द्वार बालकों के लिए कष्ट कारक होता है। पङ्क (कीचड़) से विद्ध द्वार शोक देने वाला होता है। जल निकलन वाले मार्ग से वेधित द्वार धन का व्यय करता है। कुआँ से वेधित द्वार अपस्मार रोग उत्पन्न करता है। देवमूर्ति से विद्ध द्वार विनाश करने वाला होता है। स्तम्भ से विद्ध द्वार घर की स्त्रियों में दोष उत्पन्न करने वाला होता है तथा ब्राह्मण से विद्ध द्वार कुलनाश कराता है परन्तु यदि द्वार की जितनी ऊँचाई हो उससे द्विगुणित भूमि छोड़कर (इससे आगे) वेध करते हो तो दोषप्रद नहीं होता।[4]

द्वार स्थापन के मुहूर्त -

बृहद्वास्तुमाला के अनुसार मुख्य द्वार की दिशा, स्थान, प्रमाणादि निश्चित करने के पश्चात् द्वार को स्थापित करने का समय निश्चित किया जाता है। शुभ मुहूर्त में मुख्य द्व ार का स्थापन करने से घर में सुख, शान्ति रहती है। बृहद्वास्तुमाला के अनुसार द्वार स्थ.

1. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय, 25
2. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय, 12
3. बृहद्वास्तुमाला, द्वारनिर्णय, 156
4. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय, 76, 77, 78,

ापन अश्विनी, तीनों उत्तरा, स्वाती तथा रोहिणी नक्षत्रों में तथा पञ्चमी, सप्तमी, अष्टमी तथा नवमी तिथियों में शुभ होता है।[1] बृहद्वास्तुमाला में मुहूर्तमुक्तावली का मत प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि रेवती, अनुराधा, पुष्य, ज्येष्ठा, हस्त, अश्विनि, चित्रा, स्वाति तथा पुनर्वसु नक्षत्र, सोम, बुध, गुरु, शुक्र वार तथा नन्दा जया पूर्णा तिथियों द्वार स्थापन के लिए शुभ होती हैं।[2]

वाराहमिहिर के अनुसार पूर्णिमा से कृष्ण पक्ष की अष्टमी तिथि तक पूर्वाभिमुख वाला गृह, कृष्ण पक्ष की नवमी तिथि से चतुर्दशी पर्यन्त उत्तरमुख का गृह, अमावस्या से शुक्ल पक्ष की अष्टमी तिथि पर्यन्त पश्चिम दिशा में द्वार वाला गृह तथा शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि से चतुर्दशी तक दक्षिणाभिमुख गृह के द्वार की स्थापना नहीं करनी चाहिये।[3]

रामदैवज्ञ के अनुसार सूर्य के नक्षत्र से वर्तमान (दिन) के नक्षत्र तक गिनकर उससे आगे के चार नक्षत्र भूमि के शिरो भाग में रख कर (द्वार के शिर पर) उसमे द्वार स्थापन करने से लक्ष्मी की प्रप्ति होती है। अग्रिम आठ नक्षत्र चारों कोणों में रखकर उनमे द्वार स्थापित करने से गृहस्वामी को उद्वेग, अग्रिम आठ नक्षत्र शाखा (भुजा) में रख कर उनमें द्वार स्थापित करने से निवास करने वालों का सुख, उनसे अग्रिम 3 नक्षखों में देहली के होते हैं उनमें द्वार स्थापना करने से गृहपति की मृत्यु तथा शेष चार नक्षत्रों में द्वार स्थापना से सुख की प्राप्ति होती है।[4]

रामदैवज्ञ के अनुसार सप्तशलाका चक्र के अनुसार गृहनक्षत्र (लम्बाई तथा चौड़ाई से उत्पन्न नक्षत्र) तथा द्वार स्थापन दिन के चन्द्र गृहद्वार के सम्मुख अथवा पृष्ठ भाग में हो तो द्वार स्थापन शुभ नहीं होता।[5]

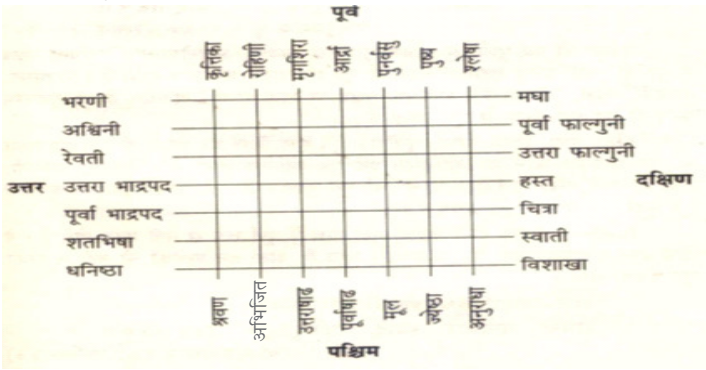

1. बृहद्वास्तुमाला, द्वारनिर्णय, 168, 169, 170, 171
2. बृहद्वास्तुमाला, द्वारनिर्णय, 172
3. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय, 17
4. मुहूर्तचिन्तामणि, वास्तुविद्याध्याय, 29
5. मुहूर्तचिन्तामणि, वास्तुप्रकरणम्, श्लोक - 6

उक्त चक के अनुसार कृत्तिका से 7 तथा अनुराधा से 7 नक्षत्रों में गृहनक्षत्र तथा चन्द्र हो तो पूर्व तथा पश्चिम द्वार वाले गृह के लिए एवं मघा से 7 तथा धनिष्ठा से 7 नक्षत्रों में गृहनक्षत्र तथा चन्द्र हो तो उत्तर तथा दक्षिण द्वार वाले गृह के लिए अनिष्ट कारक होता है। उक्त योग में द्वार स्थापन नहीं करना चाहिये।

द्वार स्थापित करते समय अन्य ध्यातव्य नियम -

1. द्वार केवल दैर्घ्य तथा विस्तार में ही स्थापित करना चाहिये। कोण दिशाओं में द्वार स्थापिक करना अनिष्टप्रद होता है।

2. गृह के मध्य में द्वार स्थापित नहीं करना चाहिये।[1]

3. द्वार के ऊपर द्वार अथवा द्वार के सामने द्वार नहीं होना चाहिये।[2]

4. अत्यधिक भारी, बाहर की और झुका हुआ अथवा अन्दर की और झुका हुआ द्वार शुभ नहीं होता।[3]

5. द्वार स्थापित करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि उसमे वास्तुमण्डल की शिराएं तथा वंश (वास्तुमण्डल की रेखाएं) तथा वास्तुमण्डल के मर्म स्थल विद्ध न हों। साथ ही जल का निकास द्वार के मध्य में न आए।[4]

इस प्रकार वास्तुशास्त्र के अनुसार द्वार निर्माण कर मनुष्य पारिवारिक सुख, शान्ति, सुख, समृद्धि, धन, धान्यादि की प्राप्ति कर सुखमय जीवन व्यतीत कर सकता है।

---

1. विश्वकर्माप्रकाश 7/85
2. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय, 78
3. वास्तुसौख्य, श्लोक - 366
4. वास्तुसौख्य श्लोक - 359-363

वास्तुशास्त्र में स्थपत्यादि विवेचन

कान्ताप्रसाद

मानव जीवन की विकासशील प्रक्रिया में उसकी मूलभूत आवश्यकता (भोजन, वस्त्र एवं आवास) के फलस्वरूप उसके द्वारा निष्पन्न किये गये विभिन्न क्रिया-कलाप कलारूप में अभिव्यक्त होते हैं। प्राचीन काल से ही कला सौन्दर्यात्मक अनुभूति का विषय रहा है। तथा मानव के आभ्यन्तर हृदय में संस्कार रूप में विद्यमान कला या शिल्पत्व उसके कौशल के रूप में भी अभिव्यक्त होता है। स्कन्द पुराण में कला शब्द का प्रयोग कौशल अर्थ में प्रयोग हुआ है-

कला कलाप कुशलाः।[1]

सुख-समृद्धि, सन्तति और धन सम्पदा सभी मनुष्यों को प्रिय रहे हैं परन्तु इससे भी पूर्व देश-पुर-निवास-वेश्म आदि श्रेयस्कर स्वीकृत किये गये हैं। मानव द्वारा स्व निवास हेतु विभिन्न पुर, भवन, ग्राम, गृह आदि का निर्माण एक कला है, जिसे प्राचीन विच. ारकों ने वास्तुकला की संज्ञा दी है। वस्तुतः गृह-निर्माण की कला वास्तुकला है। जिसका वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। भारतीय स्थापत्य शास्त्रों में नगर, ग्राम भवन दुर्ग-निवेश आदि का योजना बद्ध रूप में वर्णन हुआ है, जहाँ वास्तुकला या स्थापत्य कला के क्षेत्र में स्थपति का प्रमुख स्थान बताया गया है। क्योंकि भवनादि निर्माण के साथ-साथ जीवन को व्यवस्थित एवं कलात्मक बनाने में स्थपति का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। माघ श्री कृष्ण को तीनों लोकों का स्थपति कहते हैं-

निवेशयामासिथ हेलयोद्धतं फणाभृतां छादनमेकमोकसः।
जगत्त्रयैकस्थपतिस्त्वमुच्च्कैरहीश्वरस्तम्भशिरः सुभूतलम्॥[2]

शुक्रनीति के अनुसार गृहादि निर्माण के विशिष्ट विशेषज्ञ को, उसमें खामियों को सुधार करने वाले को ज्ञानीजन शिल्पी या स्थपति कहते हैं-

संस्कर्ता तत्कलाभिज्ञः शिल्पी प्रोक्ते मनीषिभिः।[3]

---

1. स्कन्दपुराण 4.67.39
2. शिशुपालवधम् 1.34
3. शक्रनीति 4.5.308

मत्स्यपुराण में 18 स्थपतियों का विवरण उपलब्ध होता है जिसमें विश्वकर्मा तथा मय का उल्लेख हुआ है जिन्हें परम्परा से वास्तुकला का प्रवर्तक माना गया है–

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः।
ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनकः गर्ग एव
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती।
अष्टादशैते विख्याताः शिल्पशास्त्रोपदेशकाः।।[1]

विश्वकर्मा देवताओं के स्थपति तथा मय असुरों के स्थपति हुए हैं। विश्वकर्मा को जहाँ इन्द्रनगरी अमरावती तथा अन्य प्रसिद्ध नगरों का निर्माण कर्त्ता बताया गया है–

विश्वाभिसायिधीः सर्वं विश्वकर्मा करिष्यति,
राजन्नसौ महेन्द्रस्य विदधावमरावतीम्।
अन्यापि अप्यमुना रम्याः पुर्यो लोकभृतां कृताः
त्वया क्षेत्रीकृतां मूर्तिं दृष्ट्वा साद्रिदूमामसौ।।[2]

वहीं दूसरी ओर वाल्मीकि द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि लंका के भवन उसकी सर्वांगीणता में इतने अधिक विलक्षण थे मानो उसकी रचना स्वयं मयासुर ने अपने हाथों से की हो–

तानि प्रयत्नानि समादितानि मयेव साक्षादिव निर्मितानि।[3]

गृह–निर्माण कला में स्थपति का प्रमुख स्थान है परन्तु गृहनिर्माण कला में अन्य कर्मज्ञ सूत्रग्राही, वर्धकि एवं तक्षक आदि स्थपति के अधीन रहते हैं–

स्थपतेश्चाज्ञया सर्वे सूत्रग्राह्यादयः सदा।।[4]

कालिदास इन सूत्रग्राही, वर्धकी आदि शिल्पियों के लिए शिल्पसंघ शब्द प्रयोग किया है–

तां शिल्पसंघा प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां सम्भृत्साधनत्वात्।
पुरीं नवीचक्रुरपां विसर्गात् मेघा निदाघनलपितामिवोर्वीम्।।[5]

प्राचीन समय में उत्तम आवासीय भवन सुख–समृद्धि का संवाहक स्थपति द्वारा

1. मत्स्यपुराण 251.2–4
2. समरांगणसूत्रधार 1.20.21
3. रामायण सुन्दरकाण्ड 7.4
4. मानसार 2.4
5. रघुवंशमहाकाव्य

पुरादि के स्वरूप को आकर्षक बनाने में, उसकी योग्यता का परीक्षण भी हुआ करता था। इस दृष्टि से भोजराज ने अपने ग्रन्थ समरांगणसूत्रधार में शास्त्र, क्रिया, प्रज्ञा तथा शील अर्थात् आचरण से युक्त, लक्ष्य (वस्तु-विषय/उदाहरण) और लक्षण (परिभाषाओं) से युक्त वास्तुविद्या में निष्ठा रखने वाले नर को योग्य स्थपति कहा है-

शास्त्रं कर्म तथा प्रज्ञा शीलं च क्रियान्वितम्।
लक्ष्यलक्षणयुक्तार्थशास्त्रनिष्ठो नरो भवेत्॥[1]

वास्तुशास्त्र का ज्ञान होने के साथ-साथ स्थपति को सामुद्रिक शास्त्र, गणित, ज्योतिष, छन्दस्, सिरा, शिल्प तथा यन्त्रकर्म-विधि आदि वास्तुशास्त्रीय अंगों का ज्ञान होना आवश्यक है-

सामुद्रं गणितं चैव ज्योतिषं छन्द एव च।
सिराज्ञानं तथा शिल्पं यन्त्रकर्मविधिस्तथा॥[2]

स्थपति न केवल शास्त्र का ही पण्डित होता है अपितु वह शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुरूप गृहादि निर्माणपरक कार्यों में निपुण होता है- सर्वशास्त्रविहितक्रियापटुः॥[3]

गृह निर्माण में स्थपति को सन्धिकर्म, सन्धानकर्म, ऊपर तथा नीचे के सब प्रकार की चेयविधि आदि की क्रिया एवं रेखाकर्म आदि के सुश्लिष्ट विशुद्ध वास्तुकृत्य में दक्ष होना चाहिए-

कर्मवास्तुविधोः स्थानं मानमुन्मानमेव च।
क्षेत्रजा च कर्मणि लुमालेखा चतुर्दशा
चतुरो गण्डिकाच्छेदान् वृतच्छेदेषु सप्तसु॥
सुश्लिष्टं सन्धिसन्धानैरधरोत्तरसंयुतम्।
बाह्यरेखान्वितं शुद्धं यो जानाति स कर्मवित्॥[4]

वास्तु कौशल के साथ-साथ वास्तुकला से सम्बन्धित या वास्तुकर्म में सहायक आठ कर्मों में-आलेख्य, लेख्यजात अर्थात् लेपकर्म, दारुकर्म (शय्या आसन, आसन, यन्त्र आदि का निर्माण) पारा और धातु (स्वर्ण आदि) की कारीगर एवं शिल्पकर्म, इन गुणों से युक्त स्थपति होता है-

---

1. समरांगणसूत्रधार 8.2
2. समरांगणसूत्रधार 8.2
3. मनुष्यालयचन्द्रिका 1.12
4. समरांगणसूत्रधार 8.10-12

तथा चाष्टविधं कर्म ज्ञेयं स्थपतिना सदा।
आलेख्यं लेख्यजातं च दारुकर्ममयस्तथा।।
पाषाणसिद्धहेम्नां च शिल्पं कर्म तथैव च।
एभिर्गुणैः समायुक्तः स्थपतिर्यस्तु पूज्यताम्।।[1]

वास्तुशास्त्र का ज्ञान और कौशल में नैपुण्य प्राप्त स्थपति बिना प्रज्ञा के मदहीन हाथी के समान है–

शास्त्रकर्मसमर्थोऽपि स्थपतिः प्रज्ञया बिना।
फलेयुः कर्मभिरन्याभिः स्यान्निर्मद इव द्विपः।।[2]

अर्थात् उसे शास्त्र ज्ञान तथा कर्मज्ञ होने के साथ साथ प्रज्ञावान होना भी आवश्यक है। स्थपति को यशस्वी एवं दृढ़बुद्धि वाला होना चाहिए – **सुनामा दृढ़बन्धुश्च**[3]।

स्थपति को सुशील अर्थात् चरित्रवान होना चाहिए। उसे अपने वर्धकि आदि सहायकों को अन्न देने वाला, अलोभी, रोग रहित, आलस्यरहित एवं अप्रमादी अर्थात् भूल न करने वाला सात प्रकार के व्यसनों से रहित होना चाहिए। व्यसनों के नाम इस प्रकार कहे गये हैं–

वाक्पारूष्यमर्थदूषणं दण्डपारूष्यस्यमिति।
कामजस्तु मृगया द्यूतं स्त्रियः पानमिति चतुवर्गः।।[4]

मत्स्यपुराण के अनुसार स्थपति को वास्तुविद्या का ज्ञान, हस्तलाघव, परिश्रमी तथा दूरदर्शिता प्रभृति गुणों से विभूषित होना चाहिए–

वास्तुविद्याविधानज्ञो लघुहस्तो जितश्रमः।
दीर्घदर्शी च क्रूरश्च स्थपतिः परिकीर्तितः।।[5]

गृह, भवनादि के निर्माण में दक्ष मुख्य स्थपति के पश्चात् सूत्रग्राही (इंजीनियर) को द्वितीय स्थान प्राप्त है। इसे गृह एवं भवनादि की नीवं भित्तियों, झरोखों, चौखटों आदि का नाप–जोख करने वाला बताया गया है। उद्भव क्रम की दृष्टि से इसे वास्तुविद्याचार्य में मय के पुत्र के रूप में स्मरण किया जाता है– **मयस्य तनयः सूत्रग्राहीति परिकीर्तितः**।[6]

---

1. समरांगणसूत्रधार 8.20–21
2. समरांगणसूत्रधार 8.13
3. वास्तुविद्या, 5.15
4. अर्थशास्त्र 8.3.1
5. मत्स्यपुराण 215.40
6. मानसार 2.9

स्थपति के गुणों के सादृश्य उसके विचारों एवं कार्यों का अवलोकन करने वाला और उसके पुत्र अथवा शिष्य के तुल्य होता है–

अथ गुणैः प्रायशस्तेन तुल्यः
सूत्रग्राही सुतो वा स्थपति गातिप्रेक्षकः शिष्यको वा।।[1]

यह स्थपति के निर्देशानुसार कार्य करने वाला तथा सभी कर्मों में कुशल होता है– स्थपत्याज्ञानुसारी च सर्वकर्मविशारदः।[2]

अपराजितपृच्छा में वास्तुकर्म में सहायक विविध शास्त्रों का ज्ञाता, नगर, भवनादि के निवेश में कुशल, वास्तुविद्या का विशेषज्ञ, विद्वान, षट्कर्मों (अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन, दान देना तथा लेना) में निरत, योगाभ्यास सम्बन्धी छह क्रियाओं (धोती, वस्ती, नेती, त्रोटक, नौलिका और कपाल भाती) को निरन्तर करने वाला, मधुरभाषी, दूरदर्शी, सुहृदय, हस्त कौशल वाला, नाट्यचित्रादि कुशल, निर्माण से पूर्व अदृष्ट वास्तुरचना के स्पष्ट चित्र को ज्ञानचक्षु के द्वारा देखने में समर्थ, वास्तुकर्म के मर्म को जानने वाले, नाप–जोख करने का स्थपति का अनुसरण करने वाला सूत्रधार कहा गया है।1 वास्तुकर्म के मापसूत्र को धारण करने वाला सूत्रधार या सूत्रग्राही कहा गया है –

सूत्रग्राहीति सूत्रधृत्।।[3]

सूत्रधार माप के साधन रूप सूत्र एवं दण्ड का ज्ञाता एवं विविध प्रकार के मापन मान–उन्मान अर्थात् लम्बाई–चौड़ाई, ऊँचाई एवं उचित अनुपात जानने वाला होता है–

सूत्रदण्डप्रमाणज्ञो मानोन्मानप्रमाणवित्।[4]

सूत्रधार को भू–परीक्षण, भू–मापन, नगर, ग्राम, खेट, कूप, पुर, प्राकार, परिखा, प्रतोली, मार्ग, गोपुर, गृह, राजवेश्म, प्रासाद, प्रतिमा, शिवलिंग, जगती, पीठ, मण्डप, वेदीकुण्ड आदि का ज्ञाता, वास्तुकर्म में विविध प्रकार की रेखाओं, प्रासाद–शिखर, घण्टाकलश, ध्वज, द्वार एवं द्वारवेध, नगरादि स्थापन, प्रासाद, पदस्थान, द्वारविधि–लक्षण, मान, उपमान, प्रमाण वितान आदि का ज्ञाता कहा गया है।[5]

स्थापत्य कर्म में स्थपति तथा सूत्रग्राही के पश्चात् वर्धकि का क्रम है। उत्पत्ति की दृष्टि से वर्धकि त्वष्टा का पुत्र है–

---

1. समरांगणसूत्रधार 8.20–21
2. अपराजितपृच्छा 50.1–5
3. अपराजितपृच्छा 2.12
4. शिल्परत्न 1.38
5. अपराजितपृच्छा 50.6–8

त्वष्टुर्देव ऋषेः पुत्रो वर्धकीति प्रकथ्यते।[1]

वास्तुकर्म में तक्षक वर्धकि के निर्देशानुसार कार्य करता है। वर्धकि को सूत्रग्राही की भाँति मापन क्रिया में कुशल बताया गया है तक्षक द्वारा काँटे-छाँटे एवं टुकड़ो को पुनः युक्तिपूर्वक संयोजित करना इसका प्रमुख कार्य है-

तक्षितानां तक्षकेणाप्युपर्मपरिमुक्तितः।[2]

मनुष्यालयचन्द्रिका में तक्षक द्वारा तैयार किये गए पत्थर, काष्ठ, ईंट आदि के अवयवों को आपस में कुशलतापूर्वक गृहादि में प्रयोग करने योग्य सामग्री को (द्वार, खिड़की, काष्ठस्तम्भ आदि के रूप में) प्रस्तुत करने वाला बताया गया है-

दार्वाद्यन्सम्मेलनपटुरुदितो वर्धकिः सावधानः।3

वर्धकि को मृत्तिका के कर्म का ज्ञाता, अपने क्षेत्र से सम्बन्धित कार्यों को स्वतन्त्रता पूर्वक करने वाला कहा गया है- **मृत्कर्मज्ञो गुणी शक्तः सर्वकर्मस्वतन्त्रकः।**[4]

वास्तुविद्या में स्थपति, सूत्रग्राही एवं वर्धकी के पश्चात् तक्षक का स्थान है जिसे वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में काष्ठकार्य में प्रसिद्ध बताया गया है। मय के अनुसार सूत्रग्राही की इच्छानुसार पत्थर, काष्ठ तथा इष्टका आदि को छोटे-छोटे टुकड़ों में काटने में कुशल तक्षक कहा जाता है-

शैलदार्विष्टकादीनां सूत्रग्राहिवशानुगः।
तक्षणात् स्थूलसूक्ष्माणां तक्षकः स तु कीर्तितः।।[5]

मनुष्यालयचन्द्रिका के अनुसार स्थूल पदार्थों को छीलकर-काटकर वास्तुकर्म के अनुकूल बनाने वाले एवं सदा प्रसन्नचित रहने वाले शिल्पी की संज्ञा तक्षक है-

स्थूलानां तक्षणात् तक्षक इति कथितः सन्तं हृष्टिचित्तः।[6]

काल्पनिक चित्रों को पाषाण, इष्टका, काष्ठ एवं मृत्तिका आदि के द्वारा मूर्तस्वरूप प्रदान करने में उपर्युक्त सभी शिल्पियों को अपना-अपना योगदान होता है। ये सभी शिल्पी कार्य करने वाले अपने कार्यों में कुशल, शुद्ध, बलवान और दयावान होते हैं-

---

1. मानसार 2.10
2. शिल्परत्न 1.40
3. मनुष्यालयचन्द्रिका 1.13
4. वास्तुविद्या 1.19
5. शिल्परत्न, 1.39
6. मनुष्यालयचन्द्रिका 1.13

कर्मिणो निपुणाः शुद्धा बलवन्तो दयापराः।[1]

वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों के अनुसार गृहादि भवन-निर्माण सम्बन्धी कार्य में कोई भी एकाकी शिल्पी सामर्थ्यवान् नही है अतः सभी स्थपतियों का निर्माण सम्बन्धी कार्य में एक साथ होना, इनका आदर सत्कार करना आवश्यक बताया गया है -

एभिर्विना हि सर्वेषां कर्म कर्तुं न शक्यते।
तस्मादेतत् सदा पूज्यं स्थपत्यादिचतुष्टयम्।।[2]

गृह या भवनादि के निर्माण में उपर्युक्त कथन आधुनिक वास्तुकला के सन्दर्भ में भी दृष्टिगत होता है। इस प्रकार वास्तुकला में स्थपति की ज्ञान परिधि अत्यन्त व्यापक है। स्थपति केवल वास्तुविद् ही नहीं अपितु उसमें आधुनिक Engineer, Overseer, Head, Mechanic और Town Planner के सभी गुण विद्यमान थे।

1. मयमत, 5.22
2. मयमत, 5.24

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः

(केन्द्रीयविश्वविद्यालयः)

नवदेहली-110016